पारसमाणी

(अर्थात् 'पारसभाग' का संशोधित संस्करण)

संशोधक

श्रीस्वामी सनातनदेवजी महाराज

—o—

चतुर्थ संस्करण गुरुपूर्णिमा मूल्य १२) रुपया

सम्वत् २०३८ वि०

प्रकाशक—
आनन्द-कुटीर-ट्रस्ट,
पुष्कर ३०५०२२

मुद्रक—
श्री हरि मोहन इ. प्रिन्टिग वर्क्स,
तिलक मार्ग, सी स्कीम जयपुर।

प्राक्कथन

प्रस्तुत ग्रन्थ ईरान–देश मे ११ वी शताब्दि मे फारसी भाषा मे 'कीमियाए–सग्रादत' नाम मे प्रकाशित ग्रन्थ का हिन्दी ग्रनुवाद है। फारसी–भाषा मे 'सग्रादत' नाम 'सच्चारित्र्य' का है ग्रौर 'कीमिया' नाम उस 'पारसमरिण' का है जिसके स्पर्शमात्र से लोहा कचन बन जाता है। ग्रपने स्पर्शमात्र ग्रर्थात् केवल श्रवरण–मनन से ही यह ग्रन्थ चारित्र्य को कचनमय उज्ज्वल बना देनेवाला होने से इस ग्रन्थ का नाम 'कीमियाए-सग्रादत' रखा गया था।

इस ग्रन्थ की परम उपयोगिता जानकर श्रीनवलकिशोर प्रेस लखनऊ ने इसे प्राचीन हिन्दी-भाषा मे 'पारसभाग' नाम से प्रकाशित किया ग्रौर इसकी ग्रनेक ग्रावृत्तियाँ निकाली। विवेक-वैराग्य का चामत्कारिक प्राभव डालनेवाला होने से ग्रद्वैत वेदान्त के ग्रनुयायी ग्रनेकों सस्थाग्रो ग्रौर सत्सग-प्रेमिग्रोने इस ग्रन्थ को ग्रपनाया ग्रौर जहाँ तहाँ इसकी कथा का प्रचार होता रहा। परन्तु वर्तमान समय मे इसकी प्राचीन भाषा पाठको को रुचिकर न रहने से इसका प्रभाव घटने लगा। इस त्रुटि को लक्ष्य मे रखकर पूज्य श्री स्वामी सनातनदेवजी महाराज ने वर्तमान प्रचलित् भाषा मे सुन्दर ग्रनुवाद करके इस कमी की पूर्ति की ग्रौर 'पारसभाग' के स्थान पर 'पारसमरिण' के नाम से इसको प्रकाशित कराया। ग्रापके द्वारा श्रीमद्भागवत-उपनिषदादि ग्रनेक सस्कृत-ग्रन्थो का सुन्दर ग्रनुवाद हो चुका है, फिर इस भाषा ग्रन्थ का तो कहना ही क्या ?

सभी महानुभावो की एक स्वर से यही मान्यता है कि संसार मे मानव के लिये व्यवहार की शुद्धि ही मुख्य कर्त्तव्य है, व्यवहार के

पर कसकर अच्छी तरह परखा है। इसीसे उनकी वाणी केवल उन्हीं के देश या सम्प्रदायके लिये नही, प्रत्युत सारे ससारके साधकोके लिये भी पथ-प्रदर्शित करनेवाली है।

गजालीने जिन ग्रन्थरत्नोका निर्माण किया हे उनमे, 'कीमियाए-सआदत' उनकी एक प्रमुख रचना है। यह सचमुच धर्ममय जीवनकी प्राप्तिके लिये एक दुर्लभ कीमिया (रसायन) ही है। प्राय पचास वर्ष हुए इस अमूल्य ग्रन्थका ही हिन्दी-भापान्तर कराकर लखनऊ के सुप्रसिद्ध प्रकाशक मुन्शी नवलकिशोरजी ने 'पारसभाग' नामसे प्रकाशित किया था। पारसभाग की भूमिकामे उसे हिन्दू धर्म पुस्तको का सार, वेदान्तमतानुसार तथा ऋषिप्रणीत ग्रन्थो के आधार पर लिखा बताया गया है। यह नीति सम्भवत इसीउद्देश्यसे बरती गयी हे जिससे हिन्दू साधको मे इसका प्रचार हो तथा किसी विधर्मी सन्तकी कृति समझकर इसके प्रति उनकी अश्रद्धा न हो। इसमे सन्देह नही, इसका हिन्दी-अनुवाद हिन्दू साधकोके हितकी दृष्टिसे ही कराया गया होगा और इस उद्देश्य की सफलता की दृष्टि से यह नीति क्षम्य भी कही जा सकती है, किन्तु फिर भी साहित्यिक और ऐतिहासिक दृष्टिसे ता इस ग्रन्थरत्नके मौलिक आधार और उसके लेखकका उल्लेख रहना ही अधिक उपयुक्त होता।

अस्तु, पारसभागके प्रकाशकोका कुछ भी उद्देश्य रहा हो, इसमें सन्देह नही, हिन्दू साधकोको उससे अपने साधनमे बडी सहायता मिली और इस ग्रन्थका उनमे प्रचार भी खूब हुआ। बहुत लोग तो अन्य धर्म-ग्रन्थोके समान ही इसका नित्यपाठ और मनन करने लगे। आज भी किन्ही-किन्ही आश्रमोंमे नित्यप्रति इसका प्रवचन होता है तथा अनेको सन्त और साधक इसका नियमपूर्वक स्वाध्याय एव मनन भी करते है। किन्तु जिस समय यह ग्रन्थ लिखा गया था तबसे अबतक भाषा एव लेखनशैलीमे बडा अन्तर पड गया है। अत ग्रन्थकी उपयोगिता निर्विवाद होनेपर भी वर्तमान जनताके लिये इसकी भाषा रुचिकर नही थी।

इससे कुछ मित्रों के आग्रह से मैने इसकी भाषा का सशोधन करके इसे आधुनिक शैलीसे लिख दिया है।

मूल ग्रन्थ फारसीमे है। उसका अनुवाद 'अक्सीर हिदायत' नामसे उर्दू मे भी हो चुका है और उसके लेखक है मियाँ फखरुद्दीन साहब। उन्होने अपनी भूमिका मे लिखा है कि यह 'कीमिया-ए सआदत' का केवल भावानुवाद ही है। पारसभाग तो उसकी अपेक्षा भी अधिक स्वतन्त्रता से लिखा गया है। इसमे तो कई जगह मुस्लिम देवताओके स्थान पर हिन्दू देवता तथा मुस्लिम रीति-रिवाजोके स्थानपर हिन्दू रीतियो का भी उल्लेख है। मूलमे जो कुरान शरीफ के वाक्य है उन्हे इसमे 'भगवान् के वचन' बोलकर लिखा गया है तथा हदीस के उद्धरणोको 'महापुरुष के वचन' कहा है। मै फारसीसे तो सर्वथा अनभिज्ञ हूँ उर्दू भी नाममात्र को ही जानता हूँ। इसीलिये मुझे तो पूर्णतया पारसभाग पर ही अवलम्बित रहना पडा है। हिन्दीभाषी जनताको तो पारसभाग से ही प्रेम रहा है और उसीमे उसे लाभ भी पहुँचा है। अत मैंने उसी को मूल आधार मानकर यह 'पारसमणि' प्रस्तुत की है। इसे लिखते समय मैने प्राय. वाक्यश. पारसभागका अनुसरण किया है, तथापि कही-कही अनावश्यक समझकर कोई वाक्य छोड भी दिये है और प्रसङ्ग को स्पष्ट करने के लिये कोई-कोई नवीन वाक्य भी लिख दिया है। किन्तु भावमे कही किसी प्रकार का कोई परिवर्तन नही किया।

इसके सिवा इस ग्रन्थके खण्ड और उपखण्डोके विभाजन मे भी यत्किञ्चित् फेर-फार किया है। मूल ग्रन्थकारने इसे चार अनवान और चार रुकनो मे विभक्त किया है तथा उनमे से प्रत्येक अनवान और रुकन मे अनेको असले है। इसी तरह पारसभाग के लेखकने भी इसमे चार अध्याय और चार प्रकरण रखे है तथा इनमे से प्रत्येक अध्याय और प्रकरण मे अनेको सर्ग है। इसके प्रथम चार अध्यायो को ग्रन्थ की भूमिका कह सकते है उनमे सामान्यतया मुस्लिम सिद्धान्त का निरूपण किया गया है। हिन्दू पाठकोंके लिए साम्प्रदायिक दृष्टिसे वह

विशेष उपयोगी नही हो सकता। तथा प्रकरणोमे चित्तके विभिन्न गुण और दोषो का विवेचन है। वास्तव मे ग्रन्थका प्रधान भाग यही है और इस साधनखण्डके कारण ही हिन्दू साधको मे इस ग्रन्थका इतना आदर हुआ है। किन्तु पारसमणिमे अध्याय और प्रकरणोका भेद न रखकर समान रूप से आठो विभागोको आठ उल्लासोके रूपमे रखा गया है तथा सर्गोंकी सज्ञा 'किरण' रखी गयी है। मणि की समय समय पर जो प्रभा दिखायी देती है उसीको यहाँ 'उल्लास' कहा गया है तथा उस प्रभा की किरणे ही इन उल्लासो की किरणे है। इस विभाजनमे एक अन्तर और भी किया गया है। पारसभागके प्रथम अध्याय मे जो दूसरे, तीसरे और चौथे सर्ग है उन तीनो को सम्मिलित करके दूसरी किरण लिखी गयी है। इसीसे जहाँ पारसभागके प्रथम अध्यायमे दस सर्ग है वहा इस ग्रन्थके प्रथम उल्लासमे आठ किरणें है। इसके विपरीत पारसभागके चतुर्थ प्रकरणके चौथे सग को विभक्त करके इस ग्रन्थके अष्टम उल्लास की चौथी और पाँचवी किरणे बनायी गयी है। यह विभाग उर्दू अनुवाद के आधार पर किया गया है। पारसभाग मे यहाँ एक बडी विचित्र भूल हुई है। उसमे चौथे और पाँचवे सर्ग को तो मिला दिया गया है और फिर 'पाँचवा सर्ग' बोलकर कोई विभाग नही किया गया। चौथे के पश्चात् छठा सर्ग ही लिखा गया है। इस प्रकार गणनाक्रम मे भूल होने से जिस प्रकार पारसभागका चौथा प्रकरण नवे सर्ग मे समाप्त होता है उसी प्रकार पारसमणि का अष्टम उल्लास भी नवी किरणमे ही समाप्त होता है। उर्दू अनुवाद मे इसके आगे एक असल और भी है। उसमे मुस्लिम सिद्धान्त के अनुसार मृत्युका वर्णन किया गया है। पारसभाग के लेखकने उसे सम्भवत. हिन्दुओ के लिये अनुपयोगी समझकर छोड दिया है। पारसमणि का आधार तो पारसभाग ही है। अत हमने भी उसे सम्मिलित करना आवश्यक नही समझा।

आगे हम इस ग्रन्थके मूल लेखक मियाँ मुहम्मद गजाली साहबका सक्षिप्त परिचय देते है। यह इस्लामधर्म के विश्वकोश Encyclopae-

dia of Islam) के आधारपर लिखा गया है। इसे हम परम प्रिय श्रीविपिनचन्द्र मिश्र एडवोकेट और दिल्ली के म्युनिसिपल कमिश्नर मियाँ मुहम्मद जाफरी साहबके सहयोग से प्राप्त कर सके है। अत इन दोनो महानुभावो के हम हृदय से कृतज्ञ है।

इस पुस्तकका प्रथम सस्करण प्राय दस वर्ष हुए योगनिकेतन प्रकाशन, नई दिल्लीसे प्रकाशित हुआ था। दैववश निकेतनकी स्थिति इस योग्य न रही कि वह पुस्तकका प्रचार कर सके। इसलिये वह सारा स्टाक मानव सेवा सङ्घ, वृन्दावनने खरीद लिया और उसीके द्वारा पुस्तकका वितरण हुआ। स्टाक समाप्त होनेपर द्वितीय सस्करणके लिये दूसरे प्रकाशककी आवश्यता हुई। इसके लिये कई जगह प्रयत्न किया। अन्तमे श्रीआनन्द कुटीर ट्रस्टने इसको स्वीकार किया। इसके प्रकाशनके लिये मै ट्रस्टका बहुत आभारी हूँ। मेरे कुछ कृपालु प्रेमियोने इसके प्रकाशनके लिये जो आर्थिक सहायता दी है उसके लिये मै उन्हे हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

इस प्रकार अन्तर्यामी प्रभुकी प्रेरणासे अपनी योग्यताके अनुसार जैसा भी बना यह पत्र-पुष्प प्रभुके प्रेमियोकी सेवामे समर्पित है। इसमे जो कुछ सुन्दर है वह इसकी सहज सुगन्ध है और जो-जो त्रुटियाँ है वे मेरी अयोग्यताकी निदर्शक है। तथापि मधुग्राही मधुकरोके समान सन्त-जन तो सर्वथा सारग्राही होते है अत मुझे पूर्ण विश्वास है कि इसकी त्रुटियोकी ओर न देखकर वे इसके स्वभावसिद्ध सद्गुणोको ही ग्रहण करेगे। इस प्रकार इससे यदि उनके मनको कुछ भी सन्तोष हुआ तो मेरा पश्रिम सफल हो जायगा।

विनीत

सनातनदेव

ॐ

मूल ग्रन्थकारका
संक्षिप्त परिचय

पारसमणिका मूल आधार है 'किमियाए सआदत।' इसके लेखक मिया मुहम्मद गजाली साहब ईरानके एक सुप्रसिद्ध सन्त थे। उनका पूरा नाम था हुज्जतुल इस्लाम अबू हामीद मुहम्मद इब्न-मुहम्मद-अल-तूसी किन्तु सामान्यतया वे इमाम गजाली के नामसे प्रसिद्ध है। इनका जन्म सन् १०५८ ई० (४५० हिज्री) मे खुरासान प्रान्तके अन्तर्गत तूस नामक गाँवमे हुआ था। इनके पूर्वज सूतका व्यापार करते थे, इसीसे इन्हे गजाली कहते है, क्योकि फारसीमे 'गजाला' का अर्थ है कातना। किन्ही ऐतिहासिको का मत है कि ये 'गजाल' नामक गाँव के रहनेवाले होनेके कारण 'गजाली' नामसे प्रसिद्ध थे। किन्तु अब अन्तिम मत यही है कि वे सूतके व्यापारियोके वंशधर होनेसे ही 'गजाली' कहे जाते थे।

अभी ये चार वर्ष के ही थे कि इनके पिताका देहान्त हो गया। इस समय इनके एक ज्येष्ठ भ्राता अहमद गजाली भी थे। इनके पिताजीने दोनो भाइयो के पालन-पोषण काभार अपने एक मित्र अबू नसर इस्माइलीको सौप दिया था। उन्हीसे इन्हे आरम्भिक शिक्षा मिली और फिर उन्होने दोनो भाइयोको कस्बा जुरजानकी एक चटसालमे भर्ती करा दिया। इस पाठशाला की शिक्षा समाप्त करके बालक गजाली निशापुर चले आये और वहाँ के बाईहकी महाविद्यालयमे भर्ती हो गये। वह मुसलिम विज्ञान के महान् शिक्षण केन्द्रोमे सबसे पहली सस्था थी। इसके अध्यक्ष थे ईमाम-अल्-हरमन जियाउद्दीन अब्दुल मलिक साहब। सन् १०८५ ई० (४७८हिज्री) मे मलिक महोदय का स्वर्गवास हो

गया । तव मुहम्मद गजाली साहवने मियाँ अबुल कासिम अस्कानी साहवका शिष्यत्व स्वीकार किया, और यही उन्होने अपना शेष विद्यार्थी-जीवन व्यतीत किया ।

सन् १०९१ ई० (४८४ हिज्री) मे स्नातक होकर ये निशापुरसे वगदादको चले। जिस सङ्घ (काफले) के साथ ये जा रहे थे, मार्गमे उनकी एक लुटेरोके दलसे मुठभेड हो गयी। इन्होने जिन-जिन विषयोकी शिक्षा प्राप्त की थी उनकी मुख्य-मुख्य बाते कुछ कापियोमे नोट की हुई थी। लुटेरोने और चीजोके साथ वे कापियाँ भी छीन ली। तव गजालीने वड़ी नम्रतापूर्वक उन कापियोको लौटानेके लिये प्रार्थना करते हुए कहा, "ये कागज-पत्र आप लोगोके तो किसी कामके है नही, किन्तु मुझे इनपर वहुत अवलम्वित रहना पडता है, अत आप इन्हे लौटा दे।" इसपर लुटेरोने वे कापियाँ लौटा दी, किन्तु साथ ही उन्होने व्यग्यपूर्वक कहा, "यदि इन कागजोके विना तुम ऐसे असहाय रह जाते हो तो फिर तुम्हारी विद्या किस काम की ?" यह वात युवक गजालीके हृदयमे घर कर गयी और उस दिनसे वे जो कुछ पढते या लिखते थे उसके लिये लेखपर अवलम्वित नही रहते थे, उसे कण्ठस्थ कर लेते थे।

वगदाद पहुँचनेपर ये वहाँके वजीर निजामुल्मुल्क से मिले। वह इनकी योग्यतासे वहुत प्रभावित हुआ और इन्हे अपने सुप्रसिद्ध विद्यालय मदरसा-ए-निजामियाँका अध्यक्ष वना दिया। इस समय इनकी आयु केवल अट्ठाइस सालकी थी और ये निजामुल्मुल्कके सभापंडितोमे सवसे अल्पवयस्क थे। वगदादमे रहते समय इन्होने आचार-सम्वन्धी ग्रन्थ लिखे तथा इस्लाम धर्मके वातिनिया, इमामिया और इस्माइलिया आदि सम्प्रदायोके विवादग्रस्त विषयोपर भी पुस्तके लिखी। उन दिनोमे इन्होने वौद्धिक और दार्शनिक सिद्धान्तोमे समन्वय करनेके लिये वड़ा ही परिश्रम किया तथा तत्कालीन विचारधाराओ एव विवादास्पद मतवादोका वड़े ही मनोयोगसे अध्ययन एव विवेचन किया।

सन् १०९८ ई० (४८८ हिज्री) मे इनके सरक्षक निजामुल्मुल्क

और उसके उत्तराधिकारी मलिक शाहकी हत्या हुई। तब इन्होने बग-दाद से दमिश्कशकी यात्रा की और वहाँ ये प्राय दो वर्ष रहे । दमि-श्कशमे इन्होने अपना समय एक फकीरकी तरह व्यतीत किया। ये अधिक-तर विरक्तभावसे ध्यानाभ्यासमे तत्पर रहकर मानसिक शान्ति और समाधान प्राप्त करनेका प्रयत्न करते रहे। एक दिन ये एक महा-विद्यालयमे गये। वहाँ एक शिक्षाशास्त्रीका प्रवचन हो रहा था। उन्हे इनकी उपस्थितिका कोई पता नही था । अत उन्होने सहज भावसे प्रमाणरूपमे बडे आदरपूर्वक इनका उल्लेख किया। इन्होने यह सोचकर कि एक विद्वान् शिक्षाशास्त्रीके मुखसे अपनी प्रशसा सुनकर कही मुझे अभिमान न दबा ले तुरन्त ही वह स्थान छोड दिया ।

यहाँसे ये सीरिया होते मक्का और मदीना पहुँचे। इन पुण्यक्षेत्रो मे बहुत दिनो तक रहे। फिर हजाजसे मिश्र होते मोरक्को गये और वहाँसे सन् ११०५ ई० (४९९ हिज्री) मे पुन. निशापुर लौट आये। यहाँ इनके पूर्वसरक्षक निजामुल्मुल्कके पुत्र फख्र-उल्-मुल्कने इन्हे अपने सुप्रतिष्ठित विद्यालय निजामिया मदरसाका प्रधानाध्यापक नियुक्त कर दिया। इन दिनो ये फख्र-उल्-मुल्क खुरासान प्रान्तके शासक और निशापुरके एक वजीर थे। एक साल पश्चात् फख्र-उल् मुल्ककी भी हत्या हो गयी। तब ये निशापुरसे अपने जन्मस्थान तूसमे चले आये और फिर स्थायी-रूपसे वही रहने लगे। वहाँ इन्होने एक छोटीसी पाठशाला और एक मठ स्थापित कर लिये और पाँच वर्षतक अपने पास आनेवाले लोगोको धर्मोपदेश करते रहे। अन्तमे ता० १९ दिसम्बर सन् ११११ ई० (जुम्मद-ए-सानी १४ सन् ५०५ हिज्री) मे पचपन वर्षकी आयुमे इनका स्वर्गवास हुआ। इस समय ये तेहरान मे थे। अत. यही इनको समाधिस्थ किया गया ।

अल् गजाली बडे चमत्कारी और दार्शनिक थे। ये बड़े स्वतन्त्र विचारोके थे। इन्होने पहली बार इस्लाम धर्मको दार्शनिक रूप दिया। इन्हे नि सन्देह इस्लाम धर्मका सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक कह सकते है।

विचारोकी सूक्ष्मता, स्पष्टता और शक्तिमत्तामे गजालीकी गणना पूर्व तथा पश्चिमके सर्वश्रेष्ठ दार्शनिकोमे की जा सकती है। तथापि आजसे कुछ काल पूर्वतक गजालीके ग्रन्थोको अरबीन्फारसी जाननेवाले लोगोके सिवा और कोई नही जानता था। थोडे ही दिन हुए सयुक्त राष्ट्रीय शिक्षा और विज्ञानपरिषद् (UNESCO) ने लबनान गवर्नमेण्टके सहयोग से धर्मग्रन्थोका भाषान्तर करने के लिये एक आयोग की नियुक्ति की थी। उसने इनके सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ एहिया-उल्-उलूम (Ihya-ul-ulum) का अंग्रेजी, फ्रेञ्च और स्पेनिश भाषाओमे अनुवाद किया है। इसका अंग्रेजी अनुवाद 'O Disciple' नामसे प्रसिद्ध है। गजालीने यह ग्रन्थ अपनी विदेश यात्राके समय लिखा था। इस ग्रन्थके नामका अर्थ है 'विज्ञानका पुनर्निर्माण'। इससे इसका विषय भी स्पष्ट हो जाता है। यह पुस्तक सदाचारके सिद्धान्त और उनके आचरणकी पद्धतिका वर्णन करती है। इसे दो खण्डोमे विभक्त किया गया है और प्रत्येक खण्डमे दो-दो भाग है। ये चारो भाग क्रमशः (१) अल् इबादत (प्रभुके प्रति जीवके कर्म) (२) अल् आदत (जीवनका विनियोग) (३) अल् मुहलिकात (जीवनके ध्वसकारी तत्व) और (४) अल् मुन्दजियात (सरक्षक तत्व)—इन चार विषयोका निरूपण करते हैं। इनमेसे प्रत्येक भागमे दस-दस प्रकरण है। इस प्रकार सम्पूर्ण-ग्रन्थमे चालीस प्रकरण हैं। दुर्भाग्यवश गजालीने इस ग्रन्थमे रसूलके कुछ ऐसे परम्परागत वाक्योको उद्धृत किया है जिनकी प्रामाणिकता बहुत सदिग्ध है। इसीसे परवर्ती मुस्लिम उलेमाओने इस पुस्तककी बडी कडी आलोचनाएँ की हैं। इन विद्वानोमे सबसे अधिक विरोधी इब्न कयूम है।

इनके अन्य ग्रन्थो का विवरण सामान्यतया इस प्रकार है—

१. **याकूतुत्तावील-फी-अल्-तफ्सीर—** कुरानशरीफ पर इनकी टीका है। इनके ग्रन्थोमे यह सबसे बडा है। इसके भी चालीस खण्ड है।

२. **कवायदुल् अकायद**—इसमे भगवद्विश्वास के नियमो का वर्णन है। इसकी शैली इहया-उल्-उलूमसे बहुत मिलती-जुलती है ।

३. **मकासिद-अल्-फिलॉसफा**— इसमे बहुत उच्चकोटिकी यूनानी फिलॉसफीका वर्णन किया गया है । योरोपीय विद्वानोको गजालीके ग्रन्थो मे सबसे अधिक इसीने आकर्पित किया है । किन्तु मुस्लिम जगत्ने इसकी ऐसी उपेक्षा की है कि इस्लामी देशोके किसी भी पुस्तकालयमे इसकी एक भी प्रति उपलब्ध नही होती । इस ग्रन्थमे यूनानी दर्शनशास्त्रका वडी उदारता-पूर्वक स्पष्टीकरण किया गया है । इसलिये गजालीके सम-सामयिक मुस्लिम विद्वानो की आँखो मे यह ग्रन्थ वहुत खटकता था । इसकी एक पाण्डुलिपि स्पेनके राजकीय - पुस्तकालयमे है । सन् १५०६ ई० मे ही इसका हिब्रू और लैटिन दो भाषाओ मे अनुवाद हो चुका है । ये दोनो अनुवाद फ्रासके राजकीय पुस्तकालयमे सुरक्षित है ।

४. **तहाफतुल फिलॉसफा**— यह पुस्तक भी यूनानी दर्शनशास्त्रपर ही लिखी गयी है । किन्तु इसमे उसके विरोधी सिद्धान्तोका खण्डन किया गया है और यह दिखलाया गया है कि मानव जीवनपर यूनानी दर्शनका किस प्रकार विरोधी प्रभाव पडता है । इस ग्रन्थके फ्रेंच और जर्मन अनुवाद प्रकाशित हो चुके है ।

५. **मीजान-उल्-अमल**—यह भी एक दार्शनिक ग्रन्थ है। इसमे गजालीने यह प्रदर्शित किया है कि मानवजीवनपर तर्कशास्त्रका क्या प्रभाव पडता है और यह निष्कर्ष निकाला है कि ज्ञात अथवा अज्ञात रूपसे मानवजीवन तर्कद्वारा प्रेरित होता ही है तथा वास्तव मे यह तर्कसिद्ध परिणामो के सिवा और कुछ नही है । सन् १८३९ ई० मे एक यहूदी दार्शनिकने इस पूस्तकका हिब्रू अनुवाद प्रकाशित किया है ।

६. **अल्–मुनकिद-मिन-अल्-दलाल**—यह धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तो का निरूपण करनेवाला एक उच्च कोटिका ग्रन्थ है। इसने भी योरोपीय विचारको को बहुत आकर्षित किया है। गजाली के जीवन मे विविध प्रकार के धार्मिक विचारो और शिक्षाओके अनुशीलन से जो परिणाम हुए तथा गम्भीर मनन और चिन्तन से उसमे जो-जो परिवर्तन हुए वे सब इस ग्रन्थ मे प्रदर्शित किये गये है। मुस्लिम जगत मे इस ग्रन्थ का भी विशेष आदर नही हुआ। वारबियर डी मेनार्ड (Barbier de Maynard) ने अठारहवी शतीके उत्तरार्द्ध मे इस ग्रन्थका एक फ्रेंच अनुवाद प्रकाशित किया है।

७. **अल तिब्र-अल-मसबूक**—यह राज्यशासन के नियमो का निरूपण करनेवाला एक वृहत् ग्रन्थ है। इसे गजाली ने बगदाद के खलीफा मुस्तजहर बिल्लाह (Mustauxher Billah) के आदेश से लिखा था।

८. **सिरे-अल् आलमीन व कश्फ माफिद्दारैन**—यह भी खलीफा मुस्तजहर के आदेश से लिखा हुआ शासनसम्बन्धी ग्रन्थ ही है। इसे सन् १८९६ ई० मे हेनरिच माल्टर (Henraich Malter) ने हिब्रू मे अनुवाद करके प्रकाशित किया था।

९. **मुस्तजहरी**—इस पुस्तकको भी गजालीने खलीफा मुस्तजहरकी आज्ञा से लिखा था। इसमे बातिनिया सम्प्रदायका विरोध किया गया है, जो उस समय बहुत प्रबल हो उठा था। इसका नामकरण भी उन्होने खलीफा के नाम पर ही किया था।

१०. **अल्-ताबीर-फी-इल्म-अत्ताबीर**— यह स्वप्नविचार–सम्बन्धी अत्यन्त रोचक ग्रन्थ है। योरोपमे इसका विशेष प्रचार है तथा फ्रेंच और जर्मन दोनो भाषाओमे इसके अनुवाद हो चुके है।

१२. **मज़मून-ए-सग़ीर**—इस ग्रन्थमे गजालीने आत्मा और देहके सम्बन्धमे विभिन्न जातियो का वर्णन किया है।

१३. **मुस्तसफा**—यह पुस्तक इस्लाम धर्मके दर्शन, तर्क, सदाचार, और धर्मशास्त्रसम्बन्धी विधानोके विषयमे है। इसका निर्माण सन् ११११० ई० मे हुआ था। यह ग़जालीकी रचनाओमे सम्भवतः अन्तिम है।

इसी प्रकार अल् गजालीने और भी अनेक ग्रन्थोका निर्माण किया है। उनके सम्पूर्ण ग्रन्थ सतहत्तर बताये जाते हैं। गजाली कविता भी करते थ। उन दिनो फारसी ईरानकी राजभाषा थी तथा फारसीके सुप्रसिद्ध कवि उमर खय्याम इनके समकालीन थे। अत. इन्होने वडे उत्साहसे फारसी काव्यरचना की थी। इनकी कविताएँ मुख्यतया धार्मिक भाव अथवा सूफी सिद्धान्तोके आधार पर होती थी।

सूचना

स्वामी आत्मानन्दजी मुनि, आनन्दकुटीर ट्रस्ट और पारसमणि के साहित्य के सुहृदय एव श्रद्धालु पाठकों की सर्वत्र उतकण्ठा, आकांक्षा और मॉग को दृष्टि में रखकर 'पारसमणि' को दो भागों में विभाजित कर शीघ्रही प्रकाशित कर दिया है। ऐसा ग्रन्थ के वृहद्, बोझिल और स्थूल आकार को सुडौल और हलका करने की दृष्टि से किया गया है। प्रथम भाग आपके करकमलो में है और द्वितीय भाग प्रेस में मुद्रित हो रहा है, जो शीघ्रातिशीघ्र प्रकाशित कर सेवा में प्रस्तुत कर दिया जायगा।

विनम्र निवेदक—

हरिनारायण शर्मा, एम. ए.
प्रो. श्री हरिमोहन प्रेस, जयपुर, राजस्थान

विषयानुक्रमणिका

प्रथम उल्लास

अपने आपकी पहचान

द्वितीय उल्लास

भगवान् की पहचान

तृतीय उल्लास

माया की पहचान

चतुर्थ उल्लास

परलोक की पहचान

पञ्चम उल्लास

भगवान् के भजन और सत्कर्मों में स्थित होना

षष्ठ उल्लास

क्रियाओंको विचारकी मर्यादानुसार करना

सप्तम उल्लास

चित्तके मलिन स्वभावों का शोधन

ॐ

श्रीगुरवे नमः

पारसमणि

—❀—

पूर्वाभास

भक्ति भक्त भगवन्त गुरु, चतुर नाम वपु एक ।
तिनके पद वन्दन किये, नासहि विघ्न अनेक ।।

जिन प्रभु के ऐश्वर्य, पूर्णत्व और सामर्थ्य की पहचान कोई जीव नहीं कर सकता उनके लिये मंगलाचरण, स्तुति और धन्यवाद भी आकाश के तारों, मेघ की बूँदों और वृक्षों की पंक्तियों के समान अनन्त ही हैं। उनको पूर्णतया पहचानने का मार्ग संसार में कोई जीव नहीं पा सकता तथा उनकी सृष्टि का परिचय प्राप्त करने में भी किसी का सामर्थ्य या बल काम नहीं दे सकता। अतः जो पहले महापुरुष हैं उनकी भी अन्तिम स्थिति यही होती है कि वे उन्हें पूर्णतया पहचानने में अपनी असमर्थता ही प्रकट करते है। बड़े-बड़े समर्थ पुरुष और देवता भी प्रभु की स्तुति और महिमा का वर्णन करते हुए अपनी अल्पता स्वीकार करते हैं तथा महान् बुद्धिमानों की बुद्धि भी उनके सर्वोत्कृष्ट प्रकाश एवं सामर्थ्य के सामने खो-सी जाती है। जिज्ञासु और प्रेमी पुरुष भी उन के परमधाम का मार्ग ढूँढ़ने में विस्मित हो रहे हैं। उनका स्वरूप मन की संकल्प-शक्ति से बाहर है तथा स्थूल दृष्टान्तों से भी उसे

समझाया नहीं जा सकता। इसी से बुद्धिरूपी नेत्रों की दृष्टि भी उनके स्वरूप का साक्षात्कार करने में कुण्ठित हो जाती है। अतः सारी बुद्धियों का सार यही है कि प्रभु की इस आश्चर्यमयी कृति को देखकर ही उन्हें पहचाने। ऐसा अधिकार तो किसी भी पुरुष का नहीं है जो उनके स्वरूप के विषय में यह सोच सके कि वह ऐसा और यह है। साथ ही, यह भी किसी के लिये उचित नहीं है कि एक क्षण के लिये भी उनकी इस आश्चर्यमयी कृति की ओर से असावधान हो और ऐसा समझने लगे कि इस कारीगरी का कर्ता एवं आश्रय कोई नहीं है। अतः मनुष्य को चाहिए कि प्रभु की इस कारीगरी को देखकर ऐसी भावना करे कि यह सारा जगत् उस जगदीश्वर के ऐश्वर्य का प्रतिबिम्ब ही है, यह उसी के तेज का प्रकाश है। अथवा, यह सारी आश्चर्यमयी रचना उसी का अनुभव, उसी की दृष्टि का विलास या उसी के स्वरूप का आभास है। अतः ये सब पदार्थ उसी से उत्पन्न हुए हैं और उसी में स्थित है। तात्पर्य यह कि सब कुछ वही है, क्योंकि कोई भी पदार्थ भगवान् की शक्ति के बिना स्वयं स्थित नहीं है, अतः सबके आश्रय प्रभु ही है।

इसी प्रकार उनके परमप्रिय जो सन्तजन है वे भी जिज्ञासुओं को सच्चा मार्ग दिखानेवाले, भगवान् के गुप्त रहस्य प्रकट करनेवाले और परम दयालु होते हैं। उन्हें भी मेरा नमस्कार है।

याद रखो, भगवान् ने इस मनुष्य को व्यर्थ बोलने और हँसने के लिये ही उत्पन्न नही किया है। इसका पद भी बहुत ऊँचा है और इसके लिये पतन का भय भी अधिक है। यद्यपि यह जीव अनादि नहीं है,×अर्थात् भगवान् का उत्पन्न किया हुआ है, तो भी अविनाशीस्वरूप है। और यद्यपि इस जीव का स्वरूप स्थूल तत्त्वों से रचा गया है तथापि इसका जो हृदय है वह चैतन्यरूप, अत्यन्त

× यह सिद्धान्त मुस्लिम शास्त्रो का है।

श्रेष्ठ और अमर है। जन्म होने के समय यद्यपि इस जीव का स्वभाव पशुओं, सिंहों और भूत-प्रेतों के समान ही होता है, तथापि जब इसे प्रयत्न की आँच लगाकर ढाला जाता है तो सब प्रकार के मल और नीचताओं से शुद्ध होकर यह श्रीभगवान् के दर्शन और धाम का अधिकारी बन जाता है। अतः निश्चय हुआ कि अधोगति ही रसातल है और ऊर्ध्वगतिरूप जो देवलोक है वह भी इस मनुष्य को ही प्राप्त होनेवाला स्थान है। पशुओं और सिंहों के-से स्वभाव को अपनाना तथा भोगों और क्रोधादि दोषों के अधीन होना—इसी का नाम अधोगति है। तथा देवताओं के-से स्वभाव में स्थित होना एवं भोगों और क्रोधादि को अपने अधीन रखना—इसी का नाम ऊर्ध्वगति है। जब मनुष्य भोग और क्रोधादि को अपने वश में रखता है तो वह भगवान् की भक्ति का अधिकारी हो जाता है। यही देवताओं का स्वभाव है और यही मनुष्य की उत्तम अवस्था भी है। जब मनुष्य को भगवान् के दर्शन का आनन्द प्राप्त हो जाता है तब वह उनकी झाँकी किये बिना एक क्षण भी नहीं ठहर सकता। उनकी मधुर मूर्ति के दर्शन का आनन्द ही उस का सच्चा स्वर्ग है। यह पुण्यकर्मों के परिणाम में प्राप्त होनेवाला स्थूल स्वर्ग जो दिव्य भोगों की भूमि कहा जाता है, उसे सर्वथा तुच्छ जान पड़ता है।

यह मनुष्य-देह यद्यपि अमूल्य रत्न के समान है, किन्तु जन्म लेने के समय तो यह बड़ा ही नीच और मलिन होता है। विशेष पुरुषार्थ और साधन किये बिना यह किसी प्रकार पूर्णपद को प्राप्त नहीं हो सकता। जिस प्रकार ताँबा, लोहा आदि धातुएँ पारस का स्पर्श पाये बिना सुवर्ण नहीं हो सकतीं उसी प्रकार जिस विद्या के द्वारा मनुष्य पूर्णपद प्राप्त कर सकता है वह अत्यन्त गुह्य है। उसे सब कोई नहीं जानते। उस विद्या के द्वारा मनुष्यरूपी धातु पाशविक स्वभाव एवं अज्ञानरूपी मल से शुद्ध होकर देदीप्यमान

सुवर्ण बन जाता है। इस ग्रन्थ में उसी विद्या का निरूपण किया गया है। अतः साक्षात् पारसमणि के समान होने के कारण इस ग्रन्थ का नाम भी 'पारसमणि' रखा गया है। इस ग्रन्थ में जो सदुपदेश है वे पारसरूप ही है। जो पारस ताँबे को सुवर्ण बनाता है वह तो इसके सामने बहुत स्थूल और तुच्छ है, क्योंकि ताँबे और सोने में तो केवल रंग का ही भेद है। सोने से भी मायिक भोग ही प्राप्त हो सकते हैं। और माया स्वयं ही नाशवान् है, अतः माया के भोग भी क्षणिक और परिणामी ही होते है। किन्तु, ये पारसरूपी सदुपदेश तो बड़े ही महत्त्व के है, क्योंकि इनके द्वारा जीव रसातल से निकल कर ऊर्ध्वगति प्राप्त करता है। इस अधोगति और ऊर्ध्वगति में बड़ा भारी अन्तर है। जब यह मनुष्य निर्मल स्वभावरूपी ऊर्ध्वगति प्राप्त करता है तो इसे अविनाशी पद की प्राप्ति हो जाती है। वह ऐसा सुख है जिसका कभी अन्त या नाश नहीं होता तथा दुःखरूपो मल का भी उस परम सुख से कभी स्पर्श नहीं होता। इसी से इस ग्रन्थ का नाम 'पारसमणि' रखा गया है।

स्थूल पारस की शोभा यद्यपि देखने भर की होती है, तथापि ताँबा आदि धातु तो उसका स्पर्श पाने पर ही सुवर्ण हो सकते है। यह स्थूल पारस भी सब जगह नहीं मिलता, किसी सिद्ध महात्मा या राजराजेश्वर के भण्डार में ही पाया जाता है। इसी प्रकार यह सूक्ष्म पारस भी साक्षात् श्रीभगवान् के भण्डार में ही मिलता है, और वह भगवान् का भण्डार है संतजनों का हृदय। अतः जो पुरुष इस पारस को संतजनों के हृदय के सिवा किसी अन्य स्थान में ढूँढता है वह तो व्यर्थ ही भटकता रहता है, उसे कुछ भी प्राप्त नहीं होता। इसी से अन्त में उसे दीनता ही हाथ लगती है। वह पहले तो बड़ा अभिमान करता था, किन्तु पीछे उसे लज्जा से सिर झुकाना पड़ता है। दयालु प्रभु ने जीवों पर यह बड़ा उपकार किया

है जो जगत् के कल्याण के लिये संतों को धराधाम में भेजते रहते हैं। इसमें भगवान् का यही अभिप्राय है कि वे संतजन अपने सदुपदेशरूपी पारसमणि को प्रसिद्ध करें और जीवों को बतायें कि किस प्रकार अपने हृदयरूपी धातु को साधनरूपी कुठाली में तपाकर उसके मलिन स्वभावों को दूर किया जाय तथा उत्तम स्वभावों को प्राप्त किया जाय। संतजनों का उपदेश प्राप्त होने पर ही मनुष्य नीच स्वभावों से छुटकारा पाकर निर्मल स्वभावों का उपार्जन कर सकता है। अतः इस संतवचनरूप पारसमणि का तात्पर्य यही है कि पहले जीव माया के पदार्थों से विरक्त होकर श्रीभगवान् की शरण ले। यही बात महापुरुष० ने भी कही है कि सब पदार्थों को त्यागकर अपने को श्रीभगवान् की शरण में लाओ। × यही सम्पूर्ण विद्याओं का भी तात्पर्य है। शास्त्रों में इसका वर्णन भी बड़े विस्तार से किया गया है, तथापि इसकी पहचान चार प्रकार से हो सकती है—

१. अपने-आपको पहचानो।
२. भगवान् को पहचानो।
३. माया को पहचानो।
४. परलोक को पहचानो।

आगे के चार उल्लासों में क्रमशः इन चार पहचानों के उपायों का ही वर्णन किया जाता है।

---

० इस ग्रन्थ मे इस्लाम-धर्म-सस्थापक हजरत मुहम्मद साहब का 'महापुरुष' पद से उल्लेख किया गया है।

× गीता मे श्रीभगवान् ने भी अपना सबसे गुह्यतम उपदेश यही बताया है कि सब धर्मों को छोड़कर एक मात्र मेरी शरण मे आ जा, यथा—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। (१८।६६)

(१)

प्रथम उल्लास

(अपने-आपकी पहचान)

पहली किरण

भगवत्साक्षात्कार के लिये अपने को पहचानने की आवश्यकता

याद रखो, अपने-आपको पहचानना ही श्रीभगवान् को पहचानने की कुञ्जी है। इसी विषय में महापुरुष ने भी कहा है कि जिसने अपने को पहचाना है उसने निःसन्देह अपने प्रभु को भी पहचान लिया है। तथा प्रभु भी कहते हैं कि मैंने अपने ही लक्षण जीवों के हृदय में प्रकट किये हैं जिससे कि वे अपने को पहचान कर फिर मुझे भी पहचानें। सो, भाई! तेरे आस-पास ऐसा और कोई नहीं है जिसे पहचानना तेरे लिये अपने-आपको पहचानने से अधिक आवश्यक हो। पहले जब तू अपने को भी नहीं पहचानता तो और किसी को कैसे पहचानेगा? यदि तू कहे कि मैं अपने को तो पहचानता हूँ, तो तेरा कथन ठीक नहीं, क्योंकि जिस रूप में तू अपने को पहचानता है तेरी वह पहचान श्रीभगवान् को पहचानने की कुञ्जी नहीं है। तू जो अपने को हाथ, पाँव, त्वचा एवं मांस आदि से युक्त स्थूल शरीर समझता है तथा भूख होने पर आहार की इच्छा करनेवाला, क्रोधित होने पर लड़ने-झगड़नेवाला और कामातुर होने पर भोगवासना से व्याकुल और उसी संकल्प में डूब जानेवाला जानता है, सो इस प्रकार की पहचान में तो पशु भी तेरे समान ही है। अतः तुझे यह वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना चाहिये कि मैं क्या वस्तु हूँ, कहाँ

से आया हूँ, किस जगह जाऊँगा, किस निमित्त से मै संसार में आया हूँ, किस कार्य के लिये भगवान् ने मुझे उत्पन्न किया है, मेरी भलाई किस में है और क्या मेरा दुर्भाग्य है? इसके अतिरिक्त यह भी देखना चाहिये कि तेरे भीतर जो दैवी और पाशविक वृत्तियों का संगठन हुआ है उनमें किस प्रकार की वृत्तियो की प्रबलता है। तथा साथ ही यह भी पहचान कि तेरा अपना स्वभाव क्या है और परस्वभाव क्या है।

जब तू भली प्रकार इन सब बातो को पहचान लेगा तो तेरी इनमें श्रद्धा भी होगी, क्योंकि विभिन्न जीवों की भलाई, पूर्णता और आहार भी भिन्न-भिन्न हैं। पशुओं की भलाई और पूर्णता इसी में है कि उन्हें अच्छी तरह सोने और खाने-पीने की सुविधा मिल जाय तथा दूसरे पशुओं को लड़ाई में परास्त करने की शक्ति हो। सो, यदि तू अपने को पशु समझता हो तो दिन-रात उदर-पूर्त्ति और इन्द्रियपोषण के लिये ही पुरुषार्थ कर। सिंहों की पूर्णता दूसरे जीवों को फाड़ खाने और क्रोधाविष्ट होने में ही है तथा भूत-प्रेत छल-कपट के द्वारा ही अपना आतंक स्थापित करते है। सो, यदि तू सिंह या भूत-प्रेत है तो इसी प्रकार के स्वभाव में स्थित रह। ऐसा होने पर ही तेरी पूर्णता सिद्ध होगी। देवताओं की भलाई और पूर्णता तो श्रीभगवान् के दर्शन प्राप्त करने में है और यही उनका आहार भी है। भोगवासना और क्रोधादि तो पशुओं के स्वभाव हैं। ये देवताओं को छू भी नहीं सकते।

इसलिये यदि मानवयोनि में जन्म लेने के कारण तुझे जन्मतः देवभाव का अधिकार प्राप्त हुआ है तो यही पुरुषार्थ कर कि भगवान् के दरबार तक पहुँच सके। इसके लिये अपने को भोगवासना और क्रोधादि से दूर रख और इस भेद को याद रख कि भगवान् ने तेरे लिये जो पाशविक स्वभाव और वृत्तियों की रचना की है वह इसलिये है कि तेरा उन पर पूर्ण अधिकार हो और तुझे जिस

मार्ग द्वारा अपने गन्तव्य स्थान पर जाना है उसमें तू इन्हें अपने अधीन रखकर चले, स्वयं कभी इनके अधीन न हो । अतः जिस प्रकार घोड़े और शस्त्रों पर अधिकार रखकर शिकार खेला जाता है उसी प्रकार इन पाशविक स्वभाव और वृत्तियों पर सवारी गाँठ कर इन्हीं के द्वारा तू देवभावरूप अपने लक्ष्य को वेध । जितने समय तुझे जीना है इसी कार्य को सिद्ध करने में अपनी आयु लगा दे । इस प्रकार जब तुझे भलाई प्राप्त होगी और तुझमें दैवी स्वभाव का आविर्भाव होगा तो तू भगवान् को पहचानने के लिये प्रवृत्त होगा और फिर मुक्त हो जायगा ।

अच्छा तो, यह भगवान् की पहचान कैसी है ? यही संतजनों के स्थित होने का स्थान है । यह अत्यन्त सूक्ष्म वस्तु है । दूसरे लोग स्वर्ग को ही सर्वोत्कृष्ट सुख समझते है, किन्तु संतों का सुख तो श्रीभगवान् की शरण में ही है । जब तू ऐसा समझेगा तभी अपने को थोड़ा पहचान सकेगा । जो पुरुष इस भेद को नहीं पहचानता उसके लिये धर्ममार्ग में चलना कठिन है तथा आत्म-सुख भी उससे ओझल ही रहता है ।

—❀—
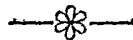
दूसरी किरण

जीव के वास्तविक स्वरूप और आत्माभ्यास का वर्णन

यदि तू अपने को पहचानना चाहता है तो ऐसा निश्चय कर कि भगवान् ने तुझे दो तत्त्वों से युक्त उत्पन्न किया है। इनमें एक तो शरीर है जो स्थूल नेत्रों से दिखाई देता है और दूसरा चैतन्य है। वह अत्यन्त सूक्ष्म है। उसी को जीव भी कहते हैं तथा मन और चित्त भी उसी के नाम हैं। वह स्थूल दृष्टि से परे है उसे बुद्धिरूप नेत्र के द्वारा ही देखा जा सकता है। तेरा निज-स्वरूप यह चैतन्य तत्त्व ही है और जितने भी गुण है वे इस चैतन्य के ही अधीन है, इसी के टहलुए है अथवा इसी की सेना के सदृश है। मैंने उसी चैतन्य का नाम 'हृदय' रखा है। इसमें सन्देह नही कि आत्मा, हृदय और मन ये सब उस चैतन्य के ही नाम है। अतः जब मैं हृदय का वर्णन करूँ तो मेरा प्रयोजन शरीर के अंगभूत हृदय से न समझे, क्योंकि यह हृदय-स्थान तो मांस और त्वचा आदि से रचा हुआ है और पञ्चभूतों का कार्य है; अतः जड़ है। और मनुष्य का जो चैतन्यस्वरूप हृदय है वह स्थूल दृष्टि से सर्वथा विलक्षण है। वह तो एक परदेशी की तरह अपने कार्य के लिये इस शरीर में आया है। शरीर में जो स्थूल हृदय-स्थान है वह जीव के घोड़े या शस्त्र की तरह है, इन्द्रियाँ सेना

हैं और जीव शरीर का राजा है। अतः भगवान् को पहचानना और उनका दर्शन करना यह जीव का अधिकार है। इसी से दण्ड और उपदेश तथा पाप और पुण्य का अधिकारी भी जीव ही है। तथा भाग्यहीन और भाग्यवान् भी इस जीव को ही कहा जाता है। यह शरीर सर्वदा जीव के अधीन है; अतः उस चैतन्य के स्वरूप को पहचानना और उसके स्वभाव को समझना ही श्रीभगवान् को पहचानने की कुञ्जी है।

बस, तू यही पुरुषार्थ कर कि इस चैतन्य के शरीर को पहचान जाय, क्योंकि यह चैतन्यरूपी रत्न अत्यन्त दुर्लभ है और देवताओं की तरह नित्य निर्मल है। इस रत्न की खानि परब्रह्म है, क्योंकि यह जीव वहीं से आया है और फिर उसी में लीन भी होगा। इस संसार में तो यह परदेशी की तरह है, अपने कार्य के लिये ही यहाँ आया है। अतः तुझे अपना वह कार्य भी अवश्य पहचानना चाहिये। परन्तु, उसकी पहचान श्रीभगवान् की कृपा से ही हो सकती है।

अब मैं आत्मसत्ता के अभ्यास का वर्णन करता हूँ। यह बात निश्चय जानो कि जब तक तुम अपने चैतन्य स्वरूप को नहीं पहचानोगे तब तक हृदय के वास्तविक स्वरूप को भी नहीं जान सकोगे; और इसी से तुम्हें श्रीभगवान् की भी पहचान नहीं हो सकेगी और न उत्कृष्ट लोगों का ही ज्ञान होगा। यदि एक दृष्टि से देखा जाय तो चैतन्य-सत्ता अत्यन्त स्पष्ट है, क्योंकि उसकी स्थिति शरीर के आश्रित नहीं है, अपितु उसके न रहने पर ही शरीर और इन्द्रियाँ निर्जीव हो जाती हैं और उन्हें मृतक कहा जाता है। इसके सिवा यदि कोई मनुष्य नेत्रादि इन्द्रियों को रोक कर चैतन्य का अभ्यास करते हुए अपने शरीर और सम्पूर्ण जगत् को भूल जाय तो उसे निःसन्देह अपने स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है और वह आत्मा के यथार्थ स्वरूप को जान लेता है। जब

इसका अधिक अभ्यास और विचार किया जाता है तो सुगमता से ही परमात्मा का भी दर्शन हो जाता है और यह बात प्रत्यक्ष दिखाई देने लगती है कि जब मनुष्य का शरीर छूटता है तो चैतन्य-स्वरूप जीव का नाश नहीं होता, वह अपने स्वरूप में ही स्थित रहता है।

इस जीव का जो शुद्ध स्वरूप है—इसका जो वास्तविक स्वभाव है उसका धर्मशास्त्रो ने स्पष्ट शब्दों में निरूपण नहीं किया। कहते है, कुछ लोगों ने महापुरुष के पास जाकर पूछा था कि जीव का स्वरूप क्या है। इस पर उन्होंने उसका कोई स्पष्ट वर्णन नही किया, भगवत्प्रेरणा से केवल इतना कहा कि वह प्रभु की सत्ता मात्र है। इसका और अधिक वर्णन करना उन्होंने उचित नहीं समझा। बस, इतना ही उत्तर दिया कि यह सृष्टि दो प्रकार की है—एक स्थूल सृष्टि है और दूसरी इसकी सूक्ष्म सत्ता। जहाँ पदार्थों की मर्यादा, आकार अथवा घटना-बढ़ना देखा जाता है वह स्थूल सृष्टि है और चेतन्य-सत्ता सूक्ष्म-रूप है। उसकी कोई मर्यादा या आकृति नहीं है, वह अखण्ड है। मनुष्य का जो हृदय-स्थान है वह तो खण्ड-रूप है, इसी में मानव हृदय में एक ओर विद्या और दूसरी ओर अविद्या रहती है। किन्तु चैतन्य-सत्ता में इस प्रकार विद्या-अविद्या का भेद नहीं है। इसी से यह अखण्ड कही जाती है। इसकी कोई मर्यादा या सीमा भी नही है। इस प्रकार यद्यपि यह भगवत्स्वरूप ही है, तथापि इसे भगवान् ने उत्पन्न किया है,× इसलिये यह 'जीव' कही जाती है। यह जीव-सत्ता ही सूक्ष्म सृष्टि है, क्योंकि इसका कोई स्थूल स्वरूप नहीं है।

जिन लोगो ने ऐसा निश्चय किया है कि जीव अनादि है वे

× 'जीवं कल्पयते पूर्वं ततो भावान् पृथग्विधान्।'

(माण्डूक्य-कारिका २।१६)

भूल में है तथा जो इसे परमात्मा का प्रतिबिम्ब मानते हैं वे भी भूले हुए हैं, क्योंकि प्रतिबिम्ब तो स्वयं कोई वस्तु ही नहीं होती। इसी प्रकार जो अनादि होता है उसकी कभी उत्पत्ति नहीं होती, और जीव उत्पन्न किया हुआ है तथा इस शरीर का आश्रय है। अतः इसे अनादि या प्रतिबिम्ब कहना उचित नहीं। जो लोग इस शरीर को ही आत्मा मानते है वे भी भूले हुए है, क्योंकि यह शरीर तो खण्ड-खण्ड होता है और आत्मा अखण्ड है इसके सिवा यह ज्ञान-स्वरूप है और शरीर जड़ है। अतः शरीर ही आत्मा नहीं हो सकता। आत्मा तो सत्तास्वरूप, चैतन्य और देवताओं के समान प्रकाशमान है। वास्तव में, इस जीव का मूल रूप तो किसी की पहचान में आना अत्यन्त कठिन है। उसका शब्दों द्वारा निरूपण भी नहीं किया जा सकता। तथा साधनकाल में जिज्ञासु को इस का निर्णय करने की आवश्यकता भी नहीं रहती। जिज्ञासु को तो धर्ममार्ग में बढ़ते रहने का प्रयत्न एवं उद्यम करते रहना चाहिये। जब विधिवत् प्रयत्न करते-करते अभ्यास में दृढ़ता आती है तो उसे स्वयं ही स्वरूप का प्रकाश हो जाता है, फिर किसी के कुछ कहने सुनने की अपेक्षा नहीं रहती। इस विषय मे भगवान् ने भी कहा है कि जब पुरुष मेरे मार्ग में चित्त लगाता है और अभ्यास करने लगता है तो मै उसे अपने स्वरूप का ज्ञान करा देता हूँ।❀ जिस पुरुष ने सम्यक् प्रकार से अभ्यास और प्रयत्न न किया हो उसके आगे आत्मा के स्वरूप की चर्चा करना उचित नही। यदि उसके आगे इसकी चर्चा की भी जायेगी तो वह बात उसके हृदय में बैठेगी नहीं।

❀गीता मे श्रीभगवान् ने भी कहा है—

तेषा सततयुक्ताना भजता प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोग त येन मामुपयान्ति ते॥ (१०।१०)

किन्तु आत्मसाक्षात्कार का प्रयत्न करने से पहले ही जीव की सेना का परिचय प्राप्त कर लेना आवश्यक है, क्योंकि उसको जाने बिना अशुभ सेना से विरोध करना असम्भव होगा। अतः अगली किरण में जीव की सेना का वर्णन किया जाता है।

तीसरी किरण

जीव की सेना

यह जीव एक राजा के समान है और शरीर इसका राज्य-मण्डल है। इसमें अनेक प्रकार की सेना रहती है। भगवान् ने जीव को इस उद्देश्य से रचा है कि यह अपना परलोक सुधार ले। अतः अपनी भलाई को ढूँढ़ना ही इसका मुख्य कर्त्तव्य है और इसकी सबसे बड़ी भलाई यही है कि यह श्री भगवान् को पहचान ले। भगवान् की पहचान उनकी आश्चर्यमयी कारीगरी को देख-कर होती है। यह सारा संसार भगवान् की कारीगरी ही है और इसकी पहचान इन्द्रियों-द्वारा होती है। अतः जिस प्रकार शिकारी के पास अपने शिकार को फँसाने का फन्दा रहता है उसी प्रकार भगवान् की कारीगरीरूप शिकार को ग्रहण करने के लिये मानो जीव को इन्द्रियरूप फन्दा मिला हुआ है।

मनुष्य का शरीर पाँच तत्त्वों से बना हुआ है और वात, पित्त, कफ ये तीन इसके प्रबल विकार है। अतः इसे सर्वदा नष्ट हो जाने का भय लगा रहता है। शरीर का नाश भूख-प्यास से भी हो सकता है, अतएव इनसे बचने के लिये भगवान् ने अन्न और जल उत्पन्न कर दिये है। इनके सिवा अग्नि, शत्रु और सिंहादि हिंस्र जीवों के द्वारा भी इसके नाश की आशंका रहती है। इनसे शरीर को सुरक्षित रखने के लिये भगवान् ने दो प्रकार की सेना रची है—स्थूल और सूक्ष्म। हाथ, पाँव और शस्त्रास्त्र ये

स्थूल सेना है तथा मन की जो भिन्न-भिन्न वृत्तियाँ हैं वे सूक्ष्म सेना हैं। इन सब में प्रधान बुद्धि है। वही शत्रु और मित्र की पहचान करती है तथा उसी के आदेशानुसार स्थूल एवं सूक्ष्म सेनाएँ अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त होती है। इनके सिवा श्रवण, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ है। ये भी बुद्धि के ही अधीन है। बुद्धि ही अन्तःकरणचतुष्टय-रूप से इन सबकी प्रेरक है। भगवान् ने यह सारी सेना जीवरूप राजा का कार्य करने के लिये ही बनायी है। इस सेना में से जब किसी अंग में कोई त्रुटि आ जाती है तो मनुष्य के स्वार्थ या परमार्थ का कार्य ठीक-ठीक नहीं हो पाता।

इस प्रकार यह स्थूल और सूक्ष्म सारी सेना जीव के ही अधीन है। वही इस सारी सेना का राजा है। उसी का संकेत पाकर रसनेन्द्रिय रस ग्रहण करती है, जिह्वा बोलने लगती है, हाथ वस्तु को ग्रहण करते हैं और चित्त चिन्तन करने लगता है। इस प्रकार सब अंगों और सब प्रवृत्तियों में जीव की आज्ञा ही बर्तती है। अतः यदि यह जीव परलोकमार्ग के लिये तोशा तैयार रखे, भगवान् के स्वरूप की पहचान करे और अपनी भलाई के बीज एकत्रित करे तो अपने परमार्थ-सम्बन्धी कर्त्तव्य में दृढ़ हो सकता है और तभी इसे निःसन्देह परमपद की प्राप्ति भी हो सकती है।

जीव शरीर के द्वारा ही अपने वास्तविक कर्त्तव्य की पूर्ति कर सकता है, इसी उद्देश्य से उसके लिये शरीररक्षा आवश्यक मानी गयी है। जिस प्रकार देवतालोग श्रीभगवान् की आज्ञा का अनुसरण करते है उसी प्रकार शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरण जीव की आज्ञा के वशवर्ती हैं। अतः ये सब जीव की सेना हैं। इस सेना का पूर्णतया वर्णन किया जाय तो बहुत विस्तार होगा, अतः केवल परिचय के लिये संक्षेप से वर्णन करता हूँ। यह शरीर ही जीवरूपी राजा के रहने का नगर है और सम्पूर्ण इन्द्रियाँ इसमें

बसनेवाले नागरिक है। भोगों की अभिलाषा अर्थात् काम इस राजा का प्रधान सेनानायक है और क्रोध कोतवाल है। इसकी मन्त्री यद्यपि बुद्धि है, तथापि राज्य की व्यवस्था में सेना की सहायता अपेक्षित होती है और उसका प्रधान है काम, जो अत्यन्त झूठा और पाखण्डी है। यह सर्वदा बुद्धिरूप मन्त्री के विपरीत हो चलना चाहता है और सब प्रकार की सामग्री का स्वयं ही उपभोग करने के लिये उत्सुक रहता है। तथा इसका साथी क्रोध रूपी कोतवाल भी बड़ा ही तीक्ष्ण और कठोर है, वह सर्वदा दूसरों का घात ही करना चाहता है। इसलिये इस राजा का यह शरीर-रूपी राज्यमण्डल अत्यन्त सन्तप्त रहता है।

किन्तु, यदि यह राजा बुद्धिरूपी मन्त्री से सहयोग रखे और उसकी सम्पति से कामरूपी सेनानायक को दबाकर अपने अधीन रखे—वह बुद्धि के विपरीत कुछ कहे तो उसे बिल्कुल न सुने तथा क्रोधरूपी कोतवाल को भी उसे मर्यादा में ही रखने के लिये प्रेरित करे और साथ ही इस कोतवाल को भी निरंकुश न होने दे, इसे भी मर्य्यादा में ही रखे–तो इसका यह देश सुखी हो सकता है। अतः इसे सर्वदा बुद्धि के कथनानुसार ही बर्तना चाहिये तथा काम और क्रोध को भी इतना दबाकर रखना चाहिये कि वे बुद्धि के संकेत का ही अनुसरण करे, स्वयं बुद्धि पर अधिकार न जमा ले। ऐसा होने पर ही इस जीव का राज्य स्वाधीन एवं सुखी हो सकता है तथा तभी इसे भगवान् के दरबार में भी स्थान प्राप्त हो सकता है। इसके विपरीत यदि यह बुद्धि को काम और क्रोध के अधीन कर देगा तो इसका राज्य नष्ट हो जायगा और स्वयं इसे भी बड़े दुर्भाग्य का सामना करना पड़ेगा।

भगवान् ने जल और अन्न शरीर की रक्षा के लिये बनाये हैं तथा शरीर इन्द्रियों की स्थिति के लिये रचा है। अतः शरीर इन्द्रियों का टहलुआ है। इसी प्रकार इन्द्रियों की रचना भगवान्

की कारीगरी देखने के लिये की गई है, इसलिये इन्हें बुद्धि की टहल करनेवाली समझना चाहिये। ये ही बुद्धि के पास सब प्रकार की सूचनाएँ पहुँचाती है। बुद्धि जीव के लिये है। यह उसके पथप्रदर्शन के लिये दीपक के समान है और इसी के द्वारा वह भगवान् का दर्शन भी करता है। यह भगवान् का दर्शन ही जीव का परम स्वर्ग है; अतः बुद्धि जीव की टहलुनी है। इसी प्रकार जीव की रचना भगवान् का दर्शन करने के लिये हुई है। अतः जब यह भगवान् का दर्शन कर लेता है तभी इसके वास्तविक कर्त्तव्य की पूर्ति होती है और तभी यह अपने को प्रभु की सेवा में तल्लीन कर सकता है। इसी विषय में श्री भगवान् ने भी कहा है कि मैंने सब मनुष्यों को अपना भजन करने के लिये ही उत्पन्न किया है।

इसका तात्पर्य यही है कि भगवान् ने जो जीव को इन्द्रियादि-रूप सेना और शरीररूप घोड़े से सुसज्जित किया है उनके द्वारा उसे स्थूल देश को लाँघकर सूक्ष्म देश में प्रवेश करना चाहिये। अतः यदि यह श्री भगवान् के उपकार का आभारी होकर उनका दर्शन करना चाहे तो इसे सबसे पहले अपने शरीररूपी देश पर ही स्वाधीन शासन स्थापित करते हुए श्रीभगवान् की ओर अपना मुख रखना चाहिये। इस संसार से इसे अनासक्त रहना चाहिये तथा इन्द्रियों के अधीन न होकर उन्हें अपनी टहल में लगाना चाहिये; अर्थात् इन्द्रियों को अपने-अपने कार्य में सावधान रखे। वे जब कोई विषय प्रस्तुत करें तो पहले चित्त में उस पर विचार करे, फिर उसके विषय में बुद्धि की भी सम्मति ले और जैसा बुद्धि का निर्णय हो वैसा ही करे। इस बात को एक दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं—जब दूतलोग देशान्तर से कोई समाचार लेकर आते हैं तो पहले दरवान-लोग यह समाचार मन्त्री के पास पहुँचाते हैं और फिर मन्त्री उसे राजा को समझाता है। इसी प्रकार इन्द्रियाँ

इस जीव की दूतियाँ है, चित्त दरवान है और बुद्धि मन्त्री है। अतः इन्द्रियरूपी दूतों के द्वारा चित्तरूपी दरवान को जो सन्देश मिले वह बुद्धिरूप मन्त्री के द्वारा जीवरूपी राजा के पास पहुँचना चाहिये। जब बुद्धिरूपी मन्त्री को दिखाई दे कि इस जीव की सेना में काम, क्रोध अथवा कोई और दूषित प्रवृत्ति बढ़ने लगी है और वह राजा के अनुशासन का उल्लंघन करके उसे नष्ट करने पर तुली हुई है तो वह उसे अपने अधीन करे और अपनी आज्ञा की अनुवर्तिनी बनाकर रखे, क्योंकि शारीरिक व्यवहार में कभी-कभी इन प्रवृत्तियों का भी कुछ उपयोग होता है। दुःखदायी तो इनका प्रबल होना ही है, यदि ये बुद्धि की अनुवर्तिनी रहें तब तो इनसे भी परमार्थ-पथ में सहायता मिल सकती है।

इस प्रकार यदि यह जीवरूपी राजा नियमानुसार बर्ताव करता है तो अन्त में अपने प्रभु को प्राप्त कर लेता है और उनके पुरस्कार का भागी बनता है। और यदि वह अपने देश में न्याया-नुसार आचरण नहीं करता, दुष्टों से मिल जाता अथवा वासनाओं के अधीन हो जाता है तो यह भगवान् के प्रति कृतघ्नी होता है और भाग्यहीन होकर अनेकों दुःख पाता है।

चौथी किरण

जीव के चार प्रकार के स्वभाव

याद रखो, इस शरीर में जितने स्वभाव पाये जाते हैं उन सभी के साथ जीव का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। उनमें भेद इतना ही है कि कोई स्वभाव शुभ होते हैं, कोई अशुभ। अशुभ स्वभाव जीव को नष्ट कर देते हैं और शुभ उसे उत्तम स्थिति में पहुँचा देते हैं। इन शुभ और अशुभ स्वभावों के यद्यपि अगणित भेद हैं, तथापि मुख्यतया उन्हें चार विभागों में बाँटा जा सकता है; यथा—पशु-स्वभाव, सिंह-स्वभाव, प्रेत-स्वभाव और देव-स्वभाव। मनुष्यों में जो भोगों की अभिलाषा और तृष्णा है, यह इसके पशु-स्वभाव की सूचक है। इसी से प्रेरित होकर जीव कामोपभोग अथवा खान-पान आदि में लगे रहते हैं। क्रोध सिंह-स्वभाव का परिणाम है। इसी से प्रेरित होकर जीव मन, वचन अथवा कर्म से ईर्ष्या, द्वेष और जीवहिंसा आदि में प्रवृत्त होते हैं। तीसरा जो भूत-प्रेतों का स्वभाव है वह मनुष्य को छल, कपट और दम्भ आदि में प्रवृत्त करता है। इसके कारण जीव तरह-तरह के प्रपञ्चों और झंझटों में फँस जाता है। चौथा जो देव-स्वभाव है वह बुद्धि की प्रेरणा है। इससे प्रेरित होकर मनुष्य अनेकों दिव्य कार्य करता है। इसी के कारण वह विद्या, सत्कर्म और वैराग्यादि को स्वीकार करता तथा निन्द्य कर्मों से बचाता है। सब जीवों का हित चाहना, शुभ कर्मों में प्रसन्नता का अनुभव करना तथा

जड़ता और मूर्खता के विघ्नों से बचना—ये सब भी देव-स्वभाव के ही परिणाम हैं।

इस प्रकार मनुष्य में ये चार प्रकार के स्वभाव पाये जाते है। इन्हीं का आगे विशेष रूप से वर्णन किया गया है। इन स्वभावों के कारण ही जीवों को श्रेष्ठ या निकृष्ट कहा जाता है। कुत्ते को लोग अपवित्र मानते है, सो इसलिये नहीं कि उसका शरीर अपवित्र है, वल्कि स्वभाव की अपवित्रता के कारण ही उसे अपवित्र कहा जाता है। वह क्रोधातुर होकर जीवों को फाड़ने लगता है, इसी से अपवित्र माना जाता है। शूकर में भी शरीर-दृष्टि से कोई अपवित्रता नहीं है। वह भी अपवित्र पदार्थों की तृष्णा रखने के कारण ही अपवित्र है। इसी प्रकार भूत-प्रेत और देवताओं की निकृष्टता उत्कृष्टता भी उनके स्वभावों के कारण ही मानी गयी है। अतः मनुष्यों को शास्त्र और संतजन यही उपदेश करते है कि बुद्धिरूपी नेत्रों के द्वारा मनरूपी पिशाच के छल-कपटों को पहचाने और उनकी बुराई को समझकर उन्हें अपने चित्त से दूर करे; तभी यह इस मन की चालों से बच सकता है। इसी विषय में महापुरुष ने भी कहा है कि यह प्रेत-स्वभाव सभी मनुष्यों में प्रत्यक्ष पाया जाता है और मुझ-में भी है, परन्तु प्रभु की कृपा ने मुझे इस पर प्रबल कर दिया है, इसलिये इसका विघ्न मुझे स्पर्श नहीं कर सकता। इसी प्रकार संतो ने भी मनुष्य-मात्र को आदेश दिया है कि सर्वदा बुद्धि की आज्ञा के अनुसार बर्ताव करो। ऐसा करने से तुम्हारे स्वभाव सुधर जायेगे और ये स्वभाव ही तुम्हारे पुण्यों के मूल कारण होंगे। और यदि तुम इसके विपरीत आचरण करोगे अर्थात् उन दुष्ट स्वभावों के अधीन होकर चलोगे तो तुम्हारे सभी स्वभाव दूषित हो जायेगे और वे दूषित स्वभाव ही तुम्हारे दुर्भाग्य के बीज बनेंगे।

जब इस जीव को जाग्रत अथवा स्वप्न अवस्था में अपनी

दुष्ट प्रवृत्ति प्रत्यक्ष प्रतीत हो तो निःसन्देह जाने कि मैं प्रेतों या कुक्कुरों के अधीन हूँ और उन्हीं की आज्ञाओं का अनुसरण करता हूँ। यह ऐसी अवस्था है जैसे कोई धर्मात्मा पुरुष यदि किसी अधर्मी या तामसी व्यक्ति के चंगुल में फँस जाय तो उसे अत्यन्त दुःख और कष्ट सहना पड़ता है; अथवा जैसे कोई देवता किसी दैत्य के बन्धन में आ फँसे तो उसे अत्यन्त दुर्गति का सामना करना पड़ता है। अतः जब यह मनुष्य विचारपूर्वक यथार्थ दृष्टि से देखेगा तो इसे मालूम होगा कि मैं रात-दिन अपने मन की वासनाओं के अधीन हूँ। यद्यपि देखने में तो मेरा शरीर मनुष्य के समान है तथापि स्वभाव से तो मैं कुत्ते, शूकर या प्रेतों के समान ही हूँ। सो परलोक में यह बात प्रत्यक्ष प्रकट हो जायगी; क्योंकि यहाँ जिसका जैसा स्वभाव होता है, परलोक में उसे वैसा ही शरीर मिलता है। अतः जिस मनुष्य में तृष्णा और अभिलाषा की प्रबलता है वह वहाँ शूकर-देह ही प्राप्त करेगा। यह बात भी निश्चय समझनी चाहिये कि जब कोई मनुष्य स्वप्न में दूषित दृश्य ही अधिक देखे तो समझना चाहिये कि उसका स्वभाव अपवित्र है। यह स्वप्नावस्था भी परलोक की सूचना देने वाली होती है, क्योंकि उस समय जीव इन्द्रियादि देश से ऊपर उठ जाता है, अतः उस समय इसे अपने आन्तरिक संस्कारो का आभास प्रतीत होने लगता है और इसका जैसा हृदय होता है वैसा ही आकार प्रत्यक्ष सामने आ जाता है। इस विषय का विशेष वर्णन करने से बहुत विस्तार हो जायगा, इसलिये इतना ही कह कर समाप्त करते है।

इस प्रकार जब तुमने यह जान लिया कि ये चारों स्वभाव तुम्हारे अन्तःकरण में रहते है तो तुम अपनी चेष्टाओं से यह निश्चय करो कि मै इनमें से किस प्रकार के स्वभावों की आज्ञा का अनुवर्तन करता हूँ। यह तो तुम निश्चय जानो कि तुम जिस

प्रकार की चेष्टाएँ करते हो उसी प्रकार का स्वभाव तुम्हारे अन्तः-करण में पुष्ट होता जाता है और वही परलोक में भी तुम्हारे साथ जायगा। सब प्रकार के स्वभावों का मूल उपर्युक्त चार प्रकार की चेष्टाएँ ही है। अतः जब तुम तृष्णारूपी शूकरी के संकेत का अनुसरण करते हो तो तुम्हारे हृदय में अपवित्रता, निर्लज्जता, लम्पटता एवं ईर्ष्या आदि अशुभ लक्षण प्रकट होते है और जब उस तृष्णा-शूकरी को अपने अधीन रखकर आचरण करते हो तो संयम, शीलता, गम्भीरता, निर्लोभता, एवं निराशयता आदि शुभ गुणों का आविर्भाव होता है। इसी प्रकार जब तुम क्रोधरूपी कूकुर के अधीन होते हो तो तब तुम्हारे हृदय में कुटिलता, निःशंकता, गर्व, आत्मश्लाघा कटुभाषण और मान आदि दोष बढ़ने लगते है, जिनके कारण तुम अन्य प्राणियों को नीच समझ कर उन्हें दुःख पहुँचाने लगते हो। किन्तु जब यह क्रोधरूपी कूकुर तुम्हारे अधीन रहेगा तो तुम्हारे भीतर धैर्य, सहनशीलता, क्षमा, स्थिरता, पराक्रम एवं दया आदि अनेकों दिव्य गुण उत्पन्न हो जायँगे। तथा जब तुम छल-कपटरूप शैतान या पिशाचों के अधीन रहोगे तो तुम्हारे चित्त में मलिनता, रोग, कपट, दुविधा, छल एवं पाख-ण्ड आदि दूषित प्रवृत्तियाँ घर कर लेगी, और यदि तुम इन पिशाचों को अपने वशीभूत रखोगे तो फिर तुम्हारी बुद्धि इन पर विजय प्राप्त कर लेगी, जिससे तुम्हारे अन्दर विवेक, विज्ञान, विद्या, सर्वभूतहितैषिता एवं सद्भाव आदि अनेक गुण प्रकट हो जायँगे। जब ये सद्गुण तुम्हारे हृदय में आयँगे तो सर्वदा सच्चे सुहृद् की तरह तुम्हारे साथ रहेंगे और सब प्रकार के दोषों से तुम्हें बचाते रहेंगे। यदि तुम प्रमाद न करोगे तो ये कभी तुम्हारा साथ न छोड़ेंगे। और ये ही तुम्हारी परमगति के कारण होंगे। इसके विपरीत जो अशुभ कर्म है उनसे तो हृदय कलुषित ही होता है। इसी से उन्हें 'पाप' कहा जाता है।

इस प्रकार इस मनुष्य की जितनी चेष्टाएँ हैं वे शुभ या अशुभ के अन्तर्गत ही रहती हैं, इनसे रहित नहीं होतीं। मनुष्य का हृदय तो दर्पण के समान स्वच्छ है और अशुभ स्वभाव धुएँ या मल के समान है। इनका संसर्ग होने पर हृदय-दर्पण ऐसा मलिन हो जाता है कि फिर भगवान् की महिमा का अनुभव नहीं कर सकता। तथा शुभ स्वभाव प्रकाश के समान हैं, अतः उनका संसर्ग होने पर हृदय-दर्पण की अविद्यारूप मलिनता दूर हो जाती है। इसी से महापुरुष ने कहा है कि जब तुम से कोई निन्दित कर्म हो जाय तो उसके पीछे तुरन्त ही कोई शुभ कर्म करो। उससे वह बुराई नष्ट हो जायगी और उसके कारण हृदय मलिन न होने पायेगा। परलोक में तो जैसा जिसका हृदय होता है वैसा ही सामने आता है। यदि हृदय स्वच्छ होगा तो वहाँ वह प्रत्यक्ष अनुभव होगा। इस पर श्री भगवान् ने भी कहा है कि जिसका हृदय शुद्ध है उसी के लिए मेरा मार्ग खुलता है। पहले तो इस मनुष्य का हृदय लोहे के समान होता है, जब विधिवत् उसका मार्जन किया जाता है तब दर्पण के समान निर्मल हो जाता है और उसमें सब प्रकार के तात्त्विक विचार प्रकट होने लगते है। किन्तु यदि उसका मार्जन न किया जाय तो इतना मलिन हो जाता है कि फिर उसमें कुछ भी देखने की योग्यता नहीं रहती, इस पर श्री भगवान् भी कहते हैं कि मैं निःसन्देह तुम्हारे हृदय की ओर ही देखता हूँ और तुम जैसी चेष्टाएँ करते हो उनको भी देखता रहता हूँ।

—❀—

पाँचवीं किरण

मानव की विशेषता—विद्या, विद्या के भेद, तथा अन्तर्दृष्टि की प्राप्ति का साधन

प्रश्न—इस मनुष्य में पशुओं, सिंहों, प्रेतों और देवताओं के स्वभाव स्पष्ट ही पाये जाते है। यह बात तो मै अच्छी तरह समझ गया। फिर आप ऐसा क्यों कहते हैं कि यह मानव-देह दिव्य-रत्न के समान है, यह मूलतः निर्मल है और इसका अपना स्वभाव भी शुद्ध ही है; तथा इसके जो अन्य स्वभाव है वे अपने नहीं, पराये है? अतः आप यह बात स्पष्ट करके समझाइये कि किस प्रकार इस मनुष्य को भगवान् का निर्मल स्वभाव प्राप्त करने के लिये ही रचा गया है। यदि यह चारों ही स्वभाव मनुष्य में एकत्रित हुए है और उसे जन्म से ही प्राप्त है तो इसे निर्मल स्वभाव ही कैसे कह सकते है और अन्य स्वभावों को भी पराया कैसे कहा जा सकता है?

उत्तर—यह ठीक है, किन्तु भगवान् ने इस मनुष्य को पशुओं और सिंहों से कुछ विशेष रचा है और सब वस्तुओं की श्रेष्ठता एवं पूर्णता भी अलग-अलग हुआ करती है। जो वस्तु जिस दृष्टि से अन्य वस्तु की अपेक्षा श्रेष्ठ होती है वही उसका वास्तविक गुण माना जाता है और वही अन्य वस्तु से उसके पार्थक्य का भी कारण होता है। जैसे गधे से घोड़ा श्रेष्ठ है, क्योंकि गधा केवल

बोझा ढोने के लिये बनाया गया है और घोड़े की रचना इसलिये हुई है कि वह सवारी के काम आवे, सवार के संकेत के अनुसार चले तथा युद्ध के समय भी सावधान रहे। इसके सिवा बोझा उठाने में भी गधे की अपेक्षा वह बहुत अधिक शक्ति रखता है। ये सब गुण गधे में नहीं पाये जाते। किन्तु यदि घोड़े में भी ये सब विशेषताएँ न रहें तो वह भी फिर बोझा ढोने का ही अधिकारी रह जाता है और उसे भी गधे की ही पदवी प्राप्त होती है। इस प्रकार वह अपनी श्रेष्ठता खो बैठता है। अतः जो मनुष्य समझते है कि उनका जन्म खाने, सोने, धन-संग्रह करने और तरह-तरह के भोग-भोगने के लिये ही हुआ है वे मूढ़ हैं और उन की सारी आयु इन्हीं झंझटों में बीत जाती है। इसी प्रकार जिन मनुष्यो का ऐसा विचार है कि उनका जन्म दूसरों को दबाने और उन पर शासन करने के लिये हुआ है वे भी महातामसी और दुष्ट प्रकृति के है। ये दोनों ही प्रकार के मनुष्य भूले हुए है, क्यों कि भोग और आहार तो पशुओं में भी पाये जाते है, बैल मनुष्य से भी अधिक खाता है, चिड़िया में कामचेष्टा की अधिकता है तथा दूसरों पर क्रोध करना या चीरना-फाड़ना सिंहों का काम है। मनुष्य को यद्यपि ये सब स्वभाव भी प्राप्त है तथापि इनकी अपेक्षा उसमें एक श्रेष्ठता भी है, वह है बुद्धि। उस बुद्धि के द्वारा ही वह भगवान् को पहचानता है, उसी से उनकी कारीगरी को देखता है और उसी के द्वारा वह क्रोध एवं भोग की आँच से अपने को बचाये रखता है। इसी से उसे देवस्वभाव कहा गया है। इस स्वभाव के कारण ही मनुष्य को पशुओं एवं सिंहों से श्रेष्ठ कहा जाता है तथा इसी के प्रताप से सारी जीवसृष्टि मनुष्य के अधीन है। इस विषय में श्री भगवान् ने भी कहा है कि पृथ्वी और आकाश में जितनी सृष्टि है वह सब मैंने तुम्हारी आज्ञा-कारिणी रची है। अतः मनुष्य का अर्थ है बुद्धि; और इसकी

श्रेष्ठता एवं विशेषता भी केवल बुद्धि के कारण ही प्रकट होती है। बुद्धि के सिवा और जितने स्वभाव है वे वास्तव में मनुष्य के अपने स्वभाव नहीं हैं, वे तो केवल इसकी सेवा और कार्य करने के लिये ही इसे दिये गये है।

इसके सिवा जब यह जीव मरता है तो इसकी भोग और क्रोध की सभी सामग्री नष्ट हो जाती है, किन्तु बुद्धि तो बनी ही रहती है। यदि वह बुद्धि शुद्ध होती है तो इसका स्वभाव देवताओं के समान निर्मल होता है और इसे चैतन्य देश की प्राप्ति होती है। वहाँ यह श्रीभगवान् का साक्षात्कार करता है और उन्हीं के स्वरूप में लीन हो जाता है। और यदि इसकी बुद्धि मलिन अथवा विपरीत होती है तो उस पर भोग और क्रोध के संस्कारों का आवरण आ जाता है, जिससे उस चैतन्य देश में पहुँचकर भी इसका मुख संसार की ही ओर रहता है। तात्पर्य यह है कि वहाँ भी उसका हृदय इन्द्रियादि के भोगों में ही बँधा रहता है और इसे इन्द्रियो के विषय ही खींचते रहते है। इसी से उसे अधोगति कहा है। अधोगति का तात्पर्य यही है कि परलोक-रूप उत्तम देश में पहुँचकर भी उसके हृदय का आकर्षण नीचता की ओर रहता है। इसीलिये प्रभु ने कहा है कि परलोक में पापियों का सिर नीचे लटकाया रहेगा। अतः जिस मनुष्य की ऐसी अवस्था है उसे तो पिशाचों के समान ही कहना चाहिये।

तुम निश्चय जानो, इस मनुष्य के हृदय-देश का ऐश्वर्य अतुलित है। इसका हृदय सभी पदार्थों की अपेक्षा आश्चर्यमय है। किन्तु प्रमादवश मनुष्य इस आश्चर्यरूपता का अनुभव नहीं कर पाते। मनुष्य में प्रधानतया दो प्रकार की विशेषताएँ बतायी गयी है—विद्या और बल। 'विद्या' शब्द से सामान्यतया जो विशेषता समझी जाती है वह तो बहुत स्थूल है। वास्तविक विद्या तो अत्यन्त सूक्ष्म, गुह्य और महादुर्लभ है। स्थूल विद्या तो यह है

कि मनुष्य अनेक पदार्थों का विज्ञान प्राप्त कर ले, तरह-तरह की कलाओं से परिचित हो जाय, अनेकों ग्रन्थों को पढ़ सके तथा वैद्यक, ज्यौतिष, व्याकरण और धर्मशास्त्र आदि विद्याओं का सर्वज्ञ हो जाय। किन्तु मनुष्य का हृदय तो आकाश के समान इतना विशाल है कि इन सब प्रकार की विद्याओं का पारंगत होने पर भी उसे वास्तविक पाण्डित्य प्राप्त नहीं होता। ये सारे ज्ञान उसमें लीन हो जाते है। और ये ही क्या, सारा संसार ही इसकी चेतना मे इस प्रकार समाया हुआ है जैसे समुद्र में बूँद। इस चैतन्य पुरुष की ऐसी सूक्ष्म गति है कि अपने किञ्चित् संकल्प से ही यह आकाश-पाताल के कार्य कर डालता है और उदयाचल से अस्ताचल तक देख आता है। यद्यपि शरीर के साथ उसका सम्बन्ध ऐसा दृढ़ बना हुआ है कि स्वयं चैतन्यस्वरूप होने पर भी अपने को शरीर ही समझता है तो भी इसमें ऐसी शक्ति है कि यह विद्या के बल से आकाश के तारों का भी प्रमाण पहचान लेता है और यह भी जान लेता है कि अमुक ग्रह अमुक ग्रह से इतनी दूरी पर है। विद्या के बल से ही यह मछली को समुद्र की गहराई से निकाल लेता है तथा आकाश में उड़नेवाले पक्षियों को नीचे गिरा लेता है। तथापि इस संसार में जो कुछ आश्चर्यमय है उसे यह अपनी पाँच ज्ञानेन्द्रियों से ही ग्रहण करता है। अतः इन्द्रियाश्रित होने के कारण यह सारी विद्या स्थूल ही है। इसी से इस विद्या को तो सभी समझते है।

किन्तु एक दूसरी विद्या है जो अत्यन्त आश्चर्य-रूप है। वह यह है कि मनुष्य के हृदय में एक झरोखा या खिड़की है, जो दिव्यलोक की ओर खुली हुई है। इन पाँचों इन्द्रियों का मुख तो स्थूल जगत् की ओर है जो आधिभौतिक जगत् कहलाता है। देवलोक इसकी अपेक्षा अत्यन्त सूक्ष्म है, उसी को चैतन्य-देश या चिन्मय-लोक भी कहते है। उसकी अपेक्षा यह आधिभौतिक जगत

अत्यन्त तुच्छ है। सो हृदयदेशस्थ झरोखे का जो खुलना होता है वह भी दो प्रकार का है। एक तो जब निद्रा के द्वारा सम्पूर्ण इन्द्रिय-द्वार रुक जाते है तब स्वप्नावस्था में वह झरोखा सूक्ष्मदेश की ओर खुलता है और उस अवस्था में अनेकों नई-नई चीजें दीखने लगती है, किन्तु वे स्पष्ट दिखाई नही देती। जैसे मन्द दृष्टि पुरुषों को पदार्थों का स्वरूप भी धुँधला ही दिखायी देता है वैसे ही स्वप्नावस्था में भी जब कोई भविष्यकालीन घटना की सूचना मिलती है तो वह स्पष्ट समझ में नही आती। उसका वर्णन करने पर स्वप्नवेत्ता ही बुद्धिबल से उसका अर्थ समझ पाते है, दूसरे लोग नहीं। स्वप्न के तात्पर्य को खोला जाय तो बहुत विस्तार हो जायगा, तथापि इतना समझना चाहिये कि मनुष्य का हृदय दर्पण की तरह निर्मल है और जब दो दर्पण परस्पर सम्मुख होते है तो उनमें से प्रत्येक में एक दूसरे का प्रतिबिम्ब आ जाता है। इसी प्रकार जब चित्तरूपी दर्पण इन्द्रियादि की वृत्तियों से अलग होता है तो उसमें सम्पूर्ण स्थूल जगत् के आश्रयभूत हिरण्यगर्भ का प्रतिबिम्ब भासने लगता है। इसी से इन्द्रियो की वृत्तियों को त्याग देने पर यह चित्त भविष्य-काल का अनुभव कर लेता है। किन्तु स्वप्न में इन्द्रियों की वृत्तियाँ रुक जाने पर भी चित्त संकल्प-शून्य नहीं होता, वह भटकता ही रहता है इसलिये उसे भविष्य का धुँधला ज्ञान ही होता है, स्पष्ट नहीं। और जब यह जीव शरीर को त्याग देता है तो इसकी इन्द्रियों और चित्त की वृत्तियाँ नष्ट हो जाती है, इसलिये इसे परलोक प्रत्यक्ष दिखायी देने लगता है तथा स्वर्ग और नरक भी स्पष्ट भासने लगते है। तथा यह प्रभु से प्रार्थना करता है कि भगवन्! 'मेरी रक्षा करो।' इसके सिवा एक स्थिति ऐसी भी होती है जब अकस्मात् कोई संकल्प हृदय में स्फुरित हो आता है। ऐसा संकल्प प्रायः सत्य ही हो जाता है। इसके विषय में यह नही कहा जा सकता है कि वह कहाँ

से आता है। किन्तु इससे इतना तो पता चलता है कि ज्ञान का साधन केवल इन्द्रियाँ ही नहीं है। अतः वास्तविक विद्या का प्राकट्य तो सूक्ष्म देश से ही होता है, इन्द्रियाँ तो केवल स्थूल जगत् के पदार्थों को ग्रहण करने के लिये ही बनायी गयी है। इसी से सूक्ष्म देश का अनुभव करने में तो इन्द्रियाँ विघ्नरूप ही है, जब तक इन्द्रियों का विक्षेप शान्त नहीं होता तब तक सूक्ष्म-देश का अनुभव नहीं हो सकता।

अस्तु; हृदय में जो झरोखा बताया गया है उसके खुलने का दूसरा साधन इस प्रकार है :— जब कोई मनुष्य पुरुषार्थ और अभ्यास के द्वारा इन्द्रियों को रोके, चित्त के क्रोध और कामरूप मलिन स्वभावों को दूर करे, एकान्त में बैठ कर उसे एकाग्र करे, चित्तवृत्ति को चैतन्य देश में ले जाकर स्थिर करे और भगवत्स्मृति में सावधान रहे तो उस अभ्यास में वह ऐसा लीन हो जाता है कि उसे अपने शरीर और संसार की कोई सुधि नहीं रहती। उस अवस्था में उसके चित्त में किसी भी पदार्थ का संकल्प नहीं फुरता। ऐसा होने पर निःसन्देह जाग्रत अवस्था में ही उसके हृदय की खिड़की खुल जाती है और दूसरे मनुष्यों को जो स्वप्नावस्था में भावी घटनाओं का आभास मिलता है वे इसे जाग्रत्काल में ही स्पष्ट प्रतीत होने लगती है। इसे अनेकों देवताओं, महापुरुषों और अवतारों के दर्शन होते है तथा उनसे सहायता और वर आदि की भी प्राप्ति होती है। जिसके हृदय का यह मार्ग खुल जाता है उसको ऐसे अनेकों पदार्थों का ज्ञान होता है, जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता। इस विषय में महापुरुष ने अपने अनुभव का उल्लेख करते हुए कहा है—'मैने अपने तेज से पृथ्वी और आकाश को व्याप्त किया हुआ है तथा उदय और अस्त के स्थानों को मैने प्रत्यक्ष देखा है।' अतः संतों की जो विद्या है वह उन्हें हृदय के मार्ग से प्राप्त हुई है, इन्द्रियों के द्वारा वह नहीं मिल सकती। परन्तु

पहले उन्होंने भी बहुत प्रयत्न और अभ्यास किया है। इसी पर भगवान् ने कहा है कि पहले तुम सब पदार्थों से विरक्त और शुद्ध होओ। फिर अपने आपको मुझे अर्पण करो और मायिक पदार्थों की आसक्ति छोड़ दो, क्योंकि तुम्हारे सब काम मेरी ही सहायता से पूर्ण हो जायेंगे। संसार से मुझसे अधिक समर्थ और कोई नहीं है। अतः मेरा ही आश्रय लो, किसी और कार्य में चित्त मत लगाओ। जब तुमने मेरा सहारा लिया है तो तुम अपने चित्त को निःसंकल्प कर सारे जगत् से असंग हो जाओ। यह सारा उपदेश और साधन इसीलिये कहा गया है कि हृदय जगत् के प्रपञ्च और इन्द्रियजनित भोगों की वासनाओं से मुक्त हो जाय। जिज्ञासुओं और संतों का तो सनातन मार्ग यही है।

यद्यपि शास्त्रों को पढ़ना और उनके रहस्यों को समझना यह पण्डितों का मार्ग और उन्हीं की विशेषता है, तथापि संतों की विद्या ऐसी है कि वह किसी भी शास्त्र या उपदेश के अधीन नहीं है; अतः उनके हृदय में भगवत्कृपा से सर्वदा ही अनुभव का मेघ बरसता रहता है। यह स्थिति अनेक पुरुषों को प्राप्त हुई है और उनकी अवस्था भी ऐसी ही दृढ़ हुई है। यह बात शास्त्र के वचनों से और अपनी बुद्धि से भी समझ में आती है। अतः मेरे इस कथन से तुम्हारे चित्त में इतना तो दृढ़ विश्वास हो जाना चाहिये कि यह अवस्था प्राप्त हो सकती है। ऐसा होने पर संतों के अनुभव, विद्वानों के शास्त्रज्ञान और उनके प्रति अपने विश्वास के आधार पर यह स्थिति सर्वथा अप्राप्य नहीं रहेगी।

ऊपर जिस अवस्था का वर्णन किया है वही मनुष्य के हृदय का आश्चर्य है और यही उसकी विशेषता है। साथ ही ऐसा अनुमान करना भी ठीक नही कि यह स्थिति तो पहले संतजन और अवतारों को ही प्राप्त हुई थी, अब किसी को प्राप्त नहीं होती, क्योंकि सृष्टि के आरम्भ से ही सभी मनुष्यों का हृदय इस पद

का अधिकारी है। जैसे प्रत्येक लोहा दर्पण के समान स्वच्छ होने की योग्यता रखता है, किन्तु यदि किसी पर जंक लग जाय तो वह मलिन हो जाता है और उसकी स्वच्छता नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार जिस मनुष्य का हृदय मायिक पदार्थों की तृष्णा, भोगों की अभिलाषा एवं पाप-कर्मों के द्वारा मलिन हो जाता है और इन दूषित स्वभावों की ही जिसमें प्रबलता हो जाती है, उसकी मनुष्यता निःसन्देह नष्ट हो जाती है और वह उस परम-पद को प्राप्त करने का अधिकारी नहीं कहा जाता। महापुरुष ने कहा है कि यद्यपि सभी बालकों का एक ही धर्म होता है, तथापि पीछे माता-पिता की संगति के कारण उनके विचार भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। इसी पर साईं ने भी कहा है कि मैं तुम्हारा ईश्वर हूँ और तुम मेरे उत्पन्न किये हुए हो। प्रभु का यह वचन सभी जीवों ने सत्य माना है; अतः इससे निश्चय हुआ कि इस अवस्था को प्राप्त करने के सभी अधिकारी हैं, इसमें कोई भेदभाव नहीं है। जैसे बुद्धिमान पुरुष किसी से न सुनने पर भी यह निःसन्देह जानता है कि एक की अपेक्षा दो अधिक होते हैं वैसे ही सब जीवों को आदि—उत्पत्ति के विषय में यह दृढ़ निश्चय है कि हम सभी को उत्पन्न करनेवाला ईश्वर है तथा उसी ने पृथ्वी और द्युलोक को स्थित किया है। अतः अपने अनुभव और युक्ति के द्वारा हमारा स्पष्ट निश्चय है कि उस परम-पद को प्राप्त करने का अधिकार केवल उन्हीं को नहीं, हम सभी को है। इस विषय में महापुरुष ने कहा है कि मैं भी तुम्हारी तरह मनुष्य ही हूँ पर भगवान् की कृपा से मुझे आकाशवाणी होती है। इस वचन का तात्पर्य यही है कि जिस मनुष्य को ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाती है और जो उपदेश करके सब जीवों को कल्याण का मार्ग दिखाता है उसी को आचार्य या अवतार कहने लगते हैं। यदि कोई ऐसा व्यक्ति हो जिसे यह अवस्था प्राप्त है और वह दूसरों को उपदेश करने में भी समर्थ है, किन्तु पहले से ही जनता में किसी

अन्य आचार्य का उपदेश विद्यमान है, इसलिये स्वयं उपदेश नहीं करता, तो इससे भी उसकी स्थिति में कोई क्षति नहीं आती।

किन्तु एक बात निश्चय जानो कि यद्यपि इस अवस्था के प्राप्त होने का मूल कारण अभ्यास ही है, तथापि इसकी प्राप्ति होती है भगवान् की कृपा होने पर ही, केवल अपने बल से यहाँ तक पहुँचना कठिन है। क्योंकि इसके मार्ग में विघ्न करने वाले शत्रु भी अनेक हैं। जो पदार्थ अद्भुत होता है उसकी प्राप्ति भी बहुत कठिन हुआ करती है। उसे पाने के लिये युक्तियाँ भी अनेक करनी पड़ती है इसी से सभी खेतिहरों को अनाज नहीं मिलता और सभी ढूँढ़नेवालों को अपनी इष्ट वस्तु नहीं मिलती। यद्यपि अनाज की प्राप्ति खेती करने से और इष्ट वस्तु की उपलब्धि ढूँढ़ने से ही होती है, तथापि बीच में अनेक विघ्न भी आ जाया करते है। अतः उनकी निवृत्ति के लिये भगवत्कृपा भी अत्यन्त आवश्यक है।

इस प्रकार इस प्रसङ्ग में मनुष्य की बुद्धि और उसकी सर्व-श्रेष्ठ स्थिति के विषय में वर्णन किया गया। किन्तु इसका प्राप्त होना अपने पूर्ण प्रयत्न और गुरुदेव की सहानता के बिना सम्भव नहीं। अपना प्रयत्न और गुरुदेव की सहायता प्राप्त हो तो भी भगवत्कृपा अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि उनकी कृपा हुए बिना किसी भी कार्य में सफलता नहीं मिल सकती। इसी से महापुरुष ने भी कहा है कि पुरुषार्थ और महत्त्व भी उसी को प्राप्त होते हैं जिसको भगवान् देते हैं तथा धर्म का मार्ग भी उसी को दिखायी देता है जिसे वे दिखाते हैं।

छठी किरण

मानव की दूसरी विशेषता-बल और उसके भेद

इस प्रकार तुमने मनुष्य की एक विशेषता-विद्या को तो भली प्रकार समझा। अब उसकी दूसरी विशेषता जो वल है उसे भी पहचानो, क्योंकि वह भी एक दिव्य शक्ति है जो पशु आदि में नहीं पायी जाती। ये जितने देहधारी जीव है, सब देवताओं के ही अधीन है। देवता ही भगवान् की आज्ञानुसार जीवो के सुख के लिये जल बरसाते है और जब आवश्यकता होती है तब वायु को भी चलाते हैं। वे ही गर्भ में जीवों का पालन-पोषण करते है तथा पृथ्वी में तरह-तरह की वनस्पतियाँ उत्पन्न करते है। इस प्रकार भगवान् ने सभी देवताओं को अपने-अपने कार्य में नियुक्त किया हुआ है। इन्हीं की तरह मनुष्य का हृदय भी एक प्रधान देवता ही है। इसे भी भगवान् ने देवताओं के समान ही बल दिया है। इसी से अनेक शरीरों पर इसका अनुशासन भी चलता है। मनुष्य का जो अपना शरीर है वह भी हृदय के ही अधीन है तथा इसके सब अङ्गों पर चित्त का ही आदेश चलता है। यह बात सब लोग जानते है कि हाथ की अँगुलियों में चित्त का स्थान नहीं है, फिर भी चित्त की प्रेरणा होने पर ही अँगुलियाँ हिलती हैं। इसी तरह जब हृदय में क्रोध या आवेग होता है तब शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों में पसीना आ जाता है। जब चित्त में काम का संकल्प आता है तो इन्द्रियों में चपलता आ जाती है और जब भोजन की इच्छा होती है तो जीभ जल डालने लगती है। इस

प्रकार यह सभी जानते हैं कि शरीर की सारी क्रियाएँ चित्त का संकल्प होने पर ही होती हैं।

किन्हीं-किन्हीं मनुष्यों में तो ऐसी विलक्षणता और पुरुषार्थ की विशेषता होती है कि उनका अपना स्वभाव तो देवताओं के समान होता ही है, अन्य शरीरों पर भी उनका आदेश चलता है। उनके तेज से सिंह भी काँपने लगते हैं, वे जब चाहें तो रोगियों को नीरोग कर सकते हैं, यदि क्रोध करके किसी की ओर देख दें तो नीरोग को भी रोगी बना सकते हैं, अपने संकल्प द्वारा खींच कर दूरदेशवर्ती पुरुषों को अपने पास बुला सकते हैं तथा जब इच्छा करे तभी जल बरसा सकते है। ये सब बाते प्रसिद्ध ही है, और इनके होने में भी किसी प्रकार का सन्देह नहीं हो सकता—यह बात बुद्धि और युक्ति के द्वारा भी सिद्ध की जा सकती है। इतना ही नहीं, संतों का बल तो इससे भी बहुत बढ़ा-चढ़ा होता है। इसके सिवा दृष्टिदोष और मन्त्र-यन्त्र आदि की जो करामात है वह भी मनुष्य के हृदय की विशेषतता और बल ही है। यह हृदय का बल ही शरीर में भी उतर आता है। किन्तु जिसका हृदय मलिन होता है उसका बल भी ऐसा ही होता है। यहाँ तक कि यदि वह किसी सुन्दर पशु को देखता है तो हृदय में ईर्ष्या और दृष्टि का दोष आने से तत्काल ही वह पशु रोगी पड़ कर मर भी जाता है।× यह भी यद्यपि मनुष्य के हृदय का बल ही है, तथापि इसमें और अन्य बलों में इतना अन्तर है कि जिस बल के द्वारा जीवों का हृदय शुभ मार्ग में स्थिर हो वह शुद्ध सात्त्विकी बल कहलाता है, जिससे उन्हें शारीरिक अथवा आर्थिक सुख प्राप्त हो उसे सिद्धि, ऐश्वर्य या राजस बल कहते है और जिसके द्वारा उनको दुःख या खेद उत्पन्न हो वह तामस बल है। तथापि ये सात्त्विक,

× इसे ही लोक मे 'नजर लगना' कहते है।

राजस और तामस जितने भी बल हैं वे सब इस मनुष्य के हृदय के ही बल या पुरुषार्थ हैं, यद्यपि बाह्य दृष्टि से इनमें बड़ा अन्तर दिखायी देता है तथा इनके परिणाम भी परस्पर बहुत विभिन्न होते हैं। इन सब प्रकार के बलों का बड़ा विस्तार है, अतः इनका पूरा विवरण इस ग्रन्थ में नहीं दिया जा सकता।

किन्तु जो पुरुष ऊपर बताये हुए भेदों का रहस्य नहीं समझता उसे संतों की वास्तविक अवस्था का कुछ भी परिचय नहीं हो सकता, वह तो केवल दूसरों से सुनकर ही उन्हें संत समझ लेता है। तथापि संतो और अवतारी पुरुषो को भी जो अवस्था प्राप्त हुई है वह इस मनुष्य का पुरुषार्थ ही है। इस अवस्था के तीन लक्षण है—पहला तो यह कि संसारी जीवों को जिस रहस्य या भावी घटना का स्वप्न में भान होता है उसे संतजन जाग्रत् अवस्था मे ही जान लेते हैं। दूसरा यह कि अन्य जीवों का संकल्प केवल अपने शरीर तक ही कार्यकारी रहता है किन्तु संतो का संकल्प दूसरों के शरीरों में भी चरितार्थ हो जाता है। तथापि उनके संकल्प से जीवों के हृदय की सर्वदा शुभ मार्ग में ही प्रवृत्ति होती है। तथा तीसरा लक्षण यह है कि अन्य जीव जिस विद्या को पढ़ कर प्राप्त करते है संतों के हृदय में वह बिना पढ़े ही स्फुरित हो जाती है। इसका कारण यह है कि जिस पुरुष का हृदय शुद्ध होता है, उसे कोई-कोई विद्या स्वतः ही भास आती है। इसी को अनुभव कहते हैं। इसी पर साईं ने भी कहा है कि किन्हीं पुरुषों को विद्या तो अपने अनुभव के आधार पर ही होती है। अतः जिस पुरुष में ये तीनों लक्षण पूर्णतया हों उसकी स्थिति संतों, अवतारों या आचार्यों की कही जाती है। आचार्य उनमें वे ही कहे जाते हैं जिनके आदेश या उपदेश का संसार में प्रचार हो। और जब ऐसा महापुरुष वैराग्यवश संकोच करता है, उपदेशादि नहीं देता तो उसकी अवस्था सनकादि के समान अवधूतकोटि की कही जाती है।

संतों की अवस्थाओं में भी बड़ा भेद रहता है। अवस्थाभेद से वे उत्तम, मध्यम और निकृष्ट कोटि के कहे जा सकते है। वास्तव में सम्पूर्ण सन्त तो उन्हीं को कहा जा सकता है, जिनमें उपर्युक्त तीनों लक्षण पूर्णतया पाये जायँ। हमने संतों के ये तीन लक्षण भी केवल इसी दृष्टि से बताये है कि इनका कुछ अंश अन्य जीवों में भी पाया जाता है; जैसे स्वप्न का अनुभव अथवा किसी संकल्प का सत्य हो जाना आदि। इस प्रकार अपने को थोड़ा अनुभव होने से जीव इन लक्षणों को परख सकता है, क्योंकि मनुष्य का यह स्वभाव ही है कि जिस स्थिति का अंश उसमें रहता है उसी को वह समझ भी सकता है। इसी से कहा है कि भगवान् की पूर्णता को तो भगवान् ही ठीक-ठीक जान सकते है, और कोई नहीं। इसका तात्पर्य यही है कि यद्यपि आचार्यो और संतों में इन तीन लक्षणों के सिवा और भी अनेक लक्षण होते है, किन्तु हम उन्हें पहचान नहीं सकते, क्योंकि हमारे भीतर उनका कोई अंश नहीं है। इसी से कहा है कि जैसे भगवान् स्वयं ही अपने को यथावत् जान सकते है वैसे ही संतों की यथार्थ स्थिति को भी संतजन ही पहचान सकते हैं, अन्य जीव नहीं। इसे इस दृष्टान्त से समझ सकते है—मान लो, हमारे देश में किसी को निद्रा का अनुभव नहीं होता और तब हमसे आकर कोई पुरुष सुनाता है कि अमुक देश में हमने लोगों को पृथ्वी पर पड़े हुए देखा है; उस समय उनमें बोलना, सुनना, देखना कुछ भी नहीं रहता और उनकी चेष्टा भी शून्य हो जाती है तथा कुछ समय पश्चात् वे सचेत होकर उठ बैठते है—तो हम इस बात को किसी प्रकार नहीं समझ सकते थे, क्योंकि यह पुरुष जो स्वयं अनुभव करता है उसी को समझ भी सकता है। इसी पर साईं ने भी कहा है कि यद्यपि मैंने तुझे विद्या-प्राप्त करने का अधिकार दिया है तथापि जब तक मै मार्ग न दिखाऊँ तब तक तुझे विद्या का रहस्य जानने

की युक्ति नहीं मिल सकती। अतः इस बात से तुम्हें आश्चर्य नहीं होना चाहिये कि संतों में कितने ही ऐसे भी लक्षण होते हैं जिनको अन्य जीव नहीं पहचान सकते और उन लक्षणों के कारण संतजन परमानन्द का अनुभव करते है। जैसे यह बात सभी जानते हैं कि जिस पुरुष को राग और गीत की पहचान नहीं होती उसे उसके श्रवण का आनन्द भी प्राप्त नहीं हो सकता और यदि उसे कोई समझावे तो वह नहीं समझ सकता, तथा जैसे जन्मान्ध को प्रकाश अथवा रूप के सौन्दर्य का कोई अनुभव नहीं हो सकता, उसी प्रकार श्रीभगवान् का अद्भुत सामर्थ्य देखते हुए इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि संत और आचार्य जनों की ऐसी भी अनेक अवस्थाएँ होती हैं जिन्हें अन्य जीव नहीं जानते।

—❀—
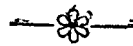
सातवीं किरण

अनुभव-ज्ञान की महत्ता तथा शरीरविज्ञान की आवश्यकता

यहाँ तक जो कुछ वर्णन हुआ है उससे तुमने मनुष्य की विशेषता तथा जिज्ञासुओं के मार्ग को अच्छी तरह समझ लिया होगा। किन्तु तुमने योगियों से सुना होगा कि आन्तरिक अभ्यास के मार्ग में वाह्य विषयों का ज्ञान अर्थात् स्थूल विद्या तो विघ्न रूप ही है। यह वचन निःसन्देह सत्य है, इसमें तुम किसी प्रकार अविश्वास न करना। ये इन्द्रियाँ और इन्द्रियसम्बन्धी ज्ञान हृदय की एकाग्रता में निश्चय ही विघ्नकारक है, क्योंकि इनके द्वारा चित्त में विक्षेप होता है। इस बात को समझाने के लिये एक दृष्टान्त दिया जाता है। मनुष्य का हृदय एक तालाब के समान है और ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ उसमें बाहर से जल जाने के मार्ग है। इनके द्वारा उसमें निरन्तर गँदला जल जाता रहता है। अब यदि कोई पुरुष इस तालाब के जल को स्वच्छ करना चाहे तो उसका उपाय यही है कि उस तालाब में जो गन्दा जल है उसे बाहर निकालकर बाहर से जल जाने के मार्ग को रोक दे तथा उसकी कीचड़ साफ करके उसे गहरा कर दे। इससे उसमें नीचे के स्रोत-द्वारा स्वयं ही निर्मल जल भर जायगा। किन्तु यदि बाहर के गँदले पानी और कीचड़ की सफाई नहीं की जायगी तो उसमें स्वच्छ जल कभी नहीं भर सकेगा। इसी प्रकार जब तक चित्त

बाह्य स्थूल विद्या के संकल्पों से शून्य नहीं होगा तब तक उसमें सूक्ष्म विद्या प्रकट नहीं हो सकती। अतः जब यह मनुष्य स्थूल जगत् की स्फुरणाओं को छोड़कर दृढ़तापूर्वक हृदय के संयम का अभ्यास करेगा तभी इसे निःसन्देह परमार्थ का अनुभव हो सकेगा।

इसके सिवा स्थूल विद्या को जो विघ्नरूप माना है उसका एक अन्य कारण भी है। जब यह मनुष्य पढ़-लिखकर किसी मत या पन्थ को स्वीकार कर लेता है और युक्तियों-द्वारा भी उसके हृदय में उसकी पुष्टि हो जाती है तो वह दूसरे मतों का खण्डन करने लगता है और वाद-विवाद में ही उसकी दृढ़ आस्था हो जाती है। फिर तो वह यह समझने लगता है कि वास्तविक ज्ञान यही है, इससे भिन्न और कोई ज्ञान या विद्या नहीं। उसे यदि कोई परमार्थ-विद्या की बात सुनने या समझने का अवसर भी आता है तो भी वह अपने मन से भिन्न होने के कारण उसे अपरमार्थ ही समझता है। इसी से उसे फिर यथार्थ-विद्या की प्राप्ति असम्भव हो जाती है। ऐसे मताग्रही लोगों को जिस विद्या या मत का आग्रह होता है वह तो यथार्थ-ज्ञान की त्वचा के समान है, वह सार-वस्तु या यथार्थ-ज्ञान नहीं है। यथार्थ-ज्ञान तो वह है जिससे हृदय का अन्तर्निहित गुह्य रहस्य एकदम खुल जाता है, जैसे त्वचा या छिलका दूर होने पर ही फल का सारभूत गूदा या रस प्राप्त होता है, इसी प्रकार जब हृदय से मत-मतान्तर का आग्रह निकल जाता है तभी यथार्थ-ज्ञान की उपलब्धि होती है। इस प्रकार निश्चय जानो कि जो पुरुष वाद-विवाद की विद्या ही प्राप्त करता है, यथार्थ-ज्ञान उससे कोसों दूर रहता है। किन्तु वह स्वयं यही समझता है कि मैंने पढ़-लिखकर जो कुछ निश्चय किया है यही यथार्थ-विद्या है; इसी से इस मिथ्याभिमान को यथार्थ-ज्ञान का विघ्न कहा है। हाँ, यदि उसे

पढ़-लिखकर भी अभिमान न हो तो उसकी विद्या विघ्न-रूप नहीं कही जाती, वह तो कालान्तर में उसके द्वारा यथार्थ-ज्ञान ही प्राप्त कर लेता है। उसकी अवस्था तो उत्तम ही है। किन्तु अधिकांश विद्वान् तो ऐसे ही होते हैं जो मिथ्या अभिमान में ही अपना जीवन नष्ट करते है।

जो पण्डित बुद्धिमान् होता है वह इस प्रकार का मिथ्या मताग्रह कभी नहीं करता। उसके तो इस विद्या के द्वारा अनेक संशय निवृत्त हो जाते है और उसमें एक प्रकार की निर्भयता आ जाती है। अतः ऊपर जो स्थूल विद्या को विघ्नरूप बताया गया है उस बात को तुम्हें अच्छी तरह समझ लेना चाहिये, उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। हाँ, यह बात कहने का अधिकारी वही है जिसे अनुभवगम्य विद्या प्राप्त हुई है। जो मनमाने चलानेवाले मिथ्याभिमानी लोग है उन्हें वह विद्या प्राप्त नही है। उन्होंने संतों के कुछ सूक्ष्म विद्याविषयक वचन अवश्य पढ़ लिये हैं, किन्तु उनकी करतूत तो यही है कि सदा शरीर को धोते रहना, मैली गुदड़ी और आसनों को सँवारते रहना और बिना कुछ समझे ही विद्या और विद्वानों की निन्दा करना। ये लोग साधन-मार्ग को नष्ट करनेवाले तथा भगवान् और भगवद्भक्तों के विरोधी है, अतः ये तो दण्ड के अधिकारी हैं। भगवान् और संतों ने तो विद्वानों की भी स्तुति ही की है और सभी को विद्या पढ़ने का उपदेश किया है। ये लोग तो बड़े ही पापी और भाग्यहीन हैं जिन्होंने न तो अनुभव की अवस्था ही प्राप्त की है और न विद्या ही पढ़ी है। अतः इनका विद्वानों की निन्दा करना कैसे उचित हो सकता है? इन लोगों की दशा तो ऐसी है जैसे किसी ने सुना हो कि सुवर्ण की अपेक्षा रसायन श्रेष्ठ है, क्योंकि उसके द्वारा अधिक से अधिक सुवर्ण बनाया जा सकता है, और फिर यदि कोई उसे सोना दे और वह यह कहकर अस्वीकार कर दे कि सोना किस

काम का ? हम तो रसायन लेंगे, क्योंकि उसी से तो सोना बनता है। ऐसा पुरुष यदि रसायन प्राप्त न कर सके और सुवर्ण स्वीकार न करे तो भाग्यहीन और दरिद्री ही रहेगा। वह तो मूर्ख ही है, क्योंकि केवल रसायन की विशेषता सुनकर उसी में मस्त है। इसी प्रकार संतों की अवस्था तो रसायन के समान है और विद्वान् की सुवर्ण के समान। संत निःसन्देह विद्वानों से श्रेष्ठ हैं, किन्तु मूर्खों के लिये तो विद्वान् भी परम आदरणीय है, अतः उन्हें विद्वानों की निन्दा नहीं करनी चाहिये।

इसके अतिरिक्त इसमें एक भेद और भी है। मान लो, किसी के पास इतना रसायन है कि वह सौ मुहरों के बराबर सोना बना सकता है और एक दूसरे व्यक्ति के पास एक हजार मुहरें हैं। ऐसी स्थिति में उस मुहरोंवाले से वह रसायनवाला श्रेष्ठ नहीं हो सकता। संसार में रसायन विद्या की खोज करनेवाले तो अनेक व्यक्ति है, उनमें से पूर्णतया वह विद्या तो किसी विरले को ही प्राप्त होती है। इसी प्रकार यद्यपि अन्तर्दृष्टि के उन्मेष का अभ्यास सबसे बढ़कर है, तथापि इसमें पूर्णता प्राप्त करना तो अत्यन्त कठिन है। इसलिये यदि किसी व्यक्ति को सामान्यतया ध्वनि, ध्यान अथवा मन्त्र-यन्त्र इत्यादि का कुछ परिचय हो तो इसी से वह सभी विद्वानों से बढ़कर नहीं हो सकता। बहुत-से लोग तो ऐसे होते है कि उन्हें साधन के आरम्भ में तो कुछ एकाग्रता होती है, किन्तु पीछे वे एकदम ठण्डे पड़ जाते है, अथवा किसी संकल्प को लेकर ही पागल से हो जाते हैं और समझते हैं कि हमें बड़ी ऊँची स्थिति प्राप्त हो गयी है। ऐसा तो कोई विरला ही होता है जो अपने हृदय को शुद्धता-द्वारा पूर्णपद प्राप्त कर सके। अधिकतर तो ऐसे लोग विक्षिप्त ही होते हैं। जैसे हमारे स्वप्नों में भी सच्चा स्वप्न तो कोई ही होता है, अधिकतर तो चित्त के भ्रम ही होते हैं, अतः विद्वानों की अपेक्षा ऊँची स्थिति तो उन्हीं महापुरुषों

की मानी जा सकती है जिनमें ऐसी योग्यता हो कि जिस विद्या को दूसरे लोग पढ़कर प्राप्त करते हैं उसे वे बिना पढ़े ही अनुभव कर ले। किन्तु यह अवस्था अत्यन्त दुर्लभ है। अतः तुम्हें चाहिए कि संतजनों की विशेषता और विलक्षणता में आस्था रखते हुए भी पाखण्डी धूर्तो की बातों में आकर कभी विद्वानों का निरादर न करो। तभी तुम्हारा धर्म अक्षुण्ण रह सकता है।

अब यदि तुम प्रश्न करो कि हम इस रहस्य को कैसे समझ सकते है कि भगवान् की पहचान करना ही मनुष्य की सबसे बड़ी भलाई है, तो इसका उत्तर इस प्रकार है—जिस वस्तु से किसी व्यक्ति को प्रसन्नता और आनन्द प्राप्त होता है वही उसकी भलाई मानी जाती है। तथा प्रसन्नता और आनन्द उसी वस्तु से प्राप्त होते है जो उस व्यक्ति के स्वभाव के अनुसार हो। और जीव का स्वभाव वही माना जा सकता है जिसकी पूर्ति के लिये भगवान् ने उसे उत्पन्न किया है। देखिये, सकाम पुरुष की प्रसन्नता अपनी अभीष्ट वस्तु पाने पर होती है, क्रोधी की प्रसन्नता अपने प्रतिपक्षी का पराभव होने से होती है और श्रवणेन्द्रिय की प्रसन्नता सुन्दर शब्द या राग सुनने से होती है। इसी प्रकार बुद्धि की प्रसन्नता प्रत्येक कार्य का भेद जानने से होती है और यही इसका स्वभाव है। अतः इसी में इसकी भलाई भी है। वास्तव में, भगवान् ने इसी निमित्त से बुद्धि की रचना की है। इसके सिवा काम, क्रोध और पाँचों इन्द्रियों के भोग तो पशुओं में भी पाये जाते है, परन्तु मनुष्य में इतनी विशेषता है कि जिस वस्तु का भेद उसकी समझ में नहीं आता उसके विषय में वह खोज करता रहता है। उसे उसका रहस्य जानने की लालसा लगी रहती है और जब उसे उसका पता लग जाता है तो बड़ा प्रसन्न होता है और उसे अपनी विशेषता भी मानने लगता है। वह पदार्थ चाहे निम्न कोटि का भी हो तो भी उसका ज्ञान होने पर उसे ऐसी

प्रसन्नता होती है कि वह उसे दबा कर नहीं रख सकता । जैसे कोई पुरुष शतरंज खेलने में कुशल है तो उसमें इतना धैर्य नहीं होता कि वह अपने उस कौशल को किसी पर व्यक्त न करे, उसे अपने कौशल का ज्ञान भी होता है और वह उसे दूसरों के आगे प्रकट भी करना चाहता है । इससे यह निश्चय हुआ कि पहचान या ज्ञान ही मनुष्य का स्वभाव है । साथ ही, यह भी स्मरण रखो कि जो पदार्थ जितना ही विलक्षण और श्रेष्ठ होता है उसकी पहचान से उतना ही अधिक आनन्द होता है । जिस प्रकार यदि किसी व्यक्ति का मन्त्री से परिचय है तो उसे भी सुख तो होता है, परन्तु जिसका राजा से परिचय है उसका आनन्द उससे भी बढ़कर है । इसी तरह शतरंज जाननेवाले से ज्योतिष या आयुर्वेद जानने वाला अधिक सुखी होता है । किन्तु भगवान् से बढ़कर तो कोई भी पदार्थ नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण पदार्थों की विशेषता या श्रेष्ठता तो उन्हीं की शक्ति से होती है और वे ही सबके स्वामी हैं तथा संसार में जो कुछ आश्चर्य या विलक्षणता है सब उन्ही की कारीगरी है । अतः उनकी पहचान से बढ़कर और किसी की पहचान नहीं हो सकती और न उनके समान किसी अन्य रूप का सौंदर्य ही है । वास्तव में उनकी पहचान और उनका दर्शन करना ही इस मनुष्य का स्वभाव है और इसी निमित्त से भगवान् ने मानव को उत्पन्न किया है । इसलिये इस मनुष्य की भलाई और पूर्णता भगवान् की पहचान करने में ही है ।

यही नहीं, यदि किसी मनुष्य के हृदय में भगवान् की पहचान करने की रुचि न हो तो जानो कि उसका हृदय रोगी है । यदि किसी को अन्न में तो रुचि न हो और मिट्टी अच्छी जान पड़े तो उसे रोगी ही कहेंगे । ऐसे व्यक्ति की यदि चिकित्सा न की जाय तो एक दिन वह मर ही जायगा, और संसार में भी उसे भाग्य-हीन ही कहा जायगा । इसी प्रकार जिस मनुष्य की विषयों में तो

प्रीति हो, किन्तु भगवान् से प्रेम न हो, उसका हृदय रोगी ही कहा जायगा। वह यदि अपने इस मानस रोग का उपचार न करे तो उसे परलोक में अधोगति ही प्राप्त होगी। उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है और वह अत्यन्त दुःखी होता है, क्योंकि इन्द्रिय-सम्बन्धी भोगों का सम्बन्ध तो इस शरीर के ही साथ है और मृत्यु होने पर इसका वियोग हो जाता है, अतः उसके सारे ही भोग नष्ट हो जाते हैं और उनकी आसक्ति के कारण जीव बड़े कष्ट मे पड़ जाता है। इसी से परलोक में वह बड़ा भाग्यहीन समझा जाता है। इसके विपरीत भगवान् की पहचान का जो सुख है उसका सम्बन्ध है हृदय के साथ, इसलिये मृत्यु के समय वह और भी अधिक बढ़ जाता है, क्योंकि उसमें विक्षेप पैदा करने वाले पदार्थ उस समय दूर हो जाते हैं। इस प्रकार इस ग्रन्थ में यद्यपि जीव के सभी स्वभावों का वर्णन किया है, तथापि मानवहृदय की जो विशेषता है उसके विषय में इतना ही कथन पर्याप्त होगा।

इसके सिवा इस मनुष्य का जो शरीर है उसमें भी भगवान् ने बड़े आश्चर्यमय गुण प्रकट किये है तथा इसके अंग-प्रत्यंगो में भी अनन्त गुण उत्पन्न किये है। इसमें कितनी नाड़ियाँ और अस्थियाँ है! उन सभी के आकार और गुण पृथक्-पृथक् है तथा उनके कर्म भी सर्वथा भिन्न-भिन्न ही है। तुम तो सब अंगों के विषय में जानते भी नहीं केवल इतना ही समझते हो कि हाथ ग्रहण करने के लिये है, चरण चलने के लिये और जिह्वा बोलने के लिये। देखो, ये जो तुम्हारे नेत्र हैं इनमें सात परदे रखे गये हैं, इनमें से यदि एक परदा नष्ट हो जाता है तो दृष्टि मन्द पड़ जाती है, किन्तु तुम तो यह नहीं जानते कि सात परदे किस निमित्त से बनाये गये है और उन सब में देखने की प्रक्रिया किस प्रकार रखी है। इसके अतिरिक्त नेत्रों का आकार यद्यपि स्पष्ट ही अत्यन्त क्षुद्र है, किन्तु इनकी दृष्टि कहाँ तक

फैलती है। इनकी दृष्टि और देखने की प्रक्रिया का वर्णन करने लगें तो कितने ही ग्रन्थ बन सकते है। अतः तुम्हें इतना पहचानना चाहिये कि इस शरीर में मूलचक्र से लेकर जितने भी अंग बनाये गये है उनका प्रयोजन क्या है? पहले पक्वाशय को लीजिये। यह भिन्न-भिन्न आहारों को परिपक्व करके रुधिर बनाता है और उसे सम्पूर्ण नाड़ियों में पहुँचाता है। एक ऐसा भी स्थान है कि जो जब रुधिर परिपक्व होता है तो उसका जो मल शेष रहता है, उसे गिरा देता है। उसी रुधिर में कुछ झाग उत्पन्न होते हैं तो उन्हें पित्त दूर कर देता है। आरम्भ में जो रुधिर हृदय से निकलता है वह पतला और जलयुक्त होता है। उस जल को गुरदा खींच लेता है और वह अन्य नाड़ियों द्वारा मूत्राशय में पहुँच जाता है। इस प्रकार मैल, झाग और जल से रहित होकर शुद्ध हुआ रक्त नाड़ियों में जाता है। इन अंगों में से किसी में भी कोई त्रुटि आ जाने से शरीर रोगी हो जाता है। इससे निश्चय हुआ कि स्थूल और सूक्ष्म शरीरों के जितने भी अंग है उन सभी का अपना-अपना कोई प्रयोजन है और उन सभी से इस शरीर की रक्षा होती है।

यह जो जीव का पिण्ड (शरीर) है, सो देखने में यद्यपि क्षुद्र-सा जान पड़ता है, तथापि यह ब्रह्माण्ड के समान ही है। जितने पदार्थ ब्रह्माण्ड में है अंशतः वे सब पिण्ड में भी हैं; इस शरीर में अस्थियाँ पर्वतो के समान हैं, रोमावली वनस्पतियों के सदृश है, पसीना मेघ की तरह है, शिर आकाश के सदृश है और इन्द्रियाँ तारामण्डल के समान है। इस प्रकार इनका वर्णन बड़े विस्तार से हो सकता है, किन्तु तात्पर्य यही है कि ब्रह्माण्ड में जितने पदार्थ है उनके अंश इस पिण्ड में भी विद्यमान हैं। इसके सिवा संसार में जो शूकर, कूकर, पशु, प्रेत, देवता और अप्सरा आदि विविध प्रकार के जीव हैं उनके स्वभाव भी इस मानवशरीर में

पाये जाते हैं। तथा ब्रह्माण्ड में जितने व्यवहार हैं उनके अंश भी इस शरीर में विद्यमान है, जैसे जठराग्नि आहार को पचाती है सो मानो रसोई करने वाली है, जो शक्ति आहार के रस को लेकर मल को अलग करती है, वह गन्धी के समान है, जिस अवयव के द्वारा रुधिर का दूध और वीर्य बनता है वह मानो धोबी का काम करता है, जो जलीय भाग को मूत्राशय में ले जाता है वह पनिहारे के समान है, जो मल को शरीर से बाहर निकालता है वह झाड़ू देनेवाले भंगी की तरह है और जिसके द्वारा वात, पित्त अथवा कफ का प्रकोप होने से शरीर को कष्ट होता है वह चोर या लुटेरे के समान है तथा जो इनके कोप को निवृत्त करके शरीर को स्वस्थ बनाता है वह धर्मात्मा राजा की तरह है। इस प्रकार इन सबका वर्णन किया जाय तो बहुत विस्तार हो सकता है।

इस सबका तात्पर्य यही है कि तुम्हें ऐसी पहचान होनी चाहिये कि तुम्हारे शरीर में जितने स्वभाव और अंग पैदा किये है वे सभी तुम्हारी सेवा करने में सावधान रहते है और जब तुम अचेत होकर सो जाते हो तब भी वे तुम्हारी सेवा नहीं छोड़ते। किन्तु तुम उन्हें जानते भी नहीं हो? तथा जिन प्रभु ने तुम्हें ऐसे सेवक दिये है उनका भी तुम कोई उपकार नहीं मानते। संसार में तो यदि कोई व्यक्ति तुम्हारी सेवा के लिये अपने किसी टहलुए को भेज देता है तो तुम सारी आयु उसका उपकार मानते रहते हो पर जिन भगवान् ने तुम्हारे शरीर की सेवा में हजारों टहलुए लगा रखे है और वे इतने सावधान है कि एक पल भी तुम्हारी सेवा में ढील नहीं करते उनको तुम कभी स्मरण भी नहीं करते।

इसके अतिरिक्त इस शरीर की जो रचना है और इसके अंगों में जो गुण रखे गये है उनका विज्ञान भी असीम है, किन्तु इस विद्या की ओर से भी सभी लोग अचेत है। यदि कोई इस विद्या का अध्ययन भी करता है तो उसका उद्देश्य भी वैद्यक-द्वारा

अर्थोपार्जन करना ही रहता है। वास्तव में इसका अध्ययन भी तभी सार्थक होता है जब इसके द्वारा भगवान् की कारीगरी को पहचाना जाय। ऐसे पुरुष को निःसन्देह भगवान् का परिचय प्राप्त हो सकता है और जिसे उनका परिचय हो जाता है उसकी दृष्टि में भगवान् की निम्नलिखित विशेषताएँ आ जाती है—

(१) इस जीव और शरीर को उत्पन्न करने वाले भगवान् ऐसे समर्थ है कि उनमें किसी भी प्रकार की दीनता या पराधीनता का अंश नही पाया जाता। वे जो चाहें वही कर सकते है। जिन्होंने वीर्य की एक बूँद से यह शरीर उत्पन्न किया है उनके लिये, नष्ट हो जानेपर, इसे पुनः जीवित कर लेना कौन बड़ी बात है? इसी से परलोक में प्राप्त होने वाले सुख-दुःख की भी पहचान हो सकती है।

(२) वे भगवान् ऐसे ज्ञानस्वरूप है कि उनका ज्ञान सारे संसार में भरपूर है। संसार में जितने भी आश्चर्य और विशेष गुण हैं वे सब उन्हीं की कारीगरी के परिणाम है।

(३) वे परम दयालु है, सभी जीवों पर उनकी असीम करुणा है। जिस-जिस जीव को जो कुछ आवश्यक था वह सभी उन्होने दिया है, कोई भी चीज कृपणता करके छिपाई नही है। शिर, हृदय, हाथ, पाँव, रसना आदि जिन-जिन अङ्गों की अपेक्षा थी और जिनके द्वारा जीव का कार्य निष्पन्न हो सकता था वे सभी अङ्ग उन्होने दिये है। इनके सिवा जिन अङ्गों का कोई विशेष प्रयोजन भी न था, किन्तु उनके द्वारा इस शरीर का शृङ्गार और सौन्दर्य सिद्ध होता था वे भी उन्होंने दिये है, जैसे नेत्रों की समता, ओठो की लालिमा, केशो की कालिमा,

भृकुटि की कुटिलता और पलकों की समानता। इसी प्रकार उन्होने और भी कई अङ्ग केवल सौन्दर्य की दृष्टि से रचे है।

(४) भगवान् ने ऐसी कृपा केवल मनुष्यों पर ही नहीं की, सभी जीवों पर उनकी दया समान है। इसी से उन्होंने मक्खी और मच्छर जैसे जीवों को भी जो कुछ अपेक्षित था वह सभी दिया है। उनके शरीर और आकार भी तरह-तरह के चिह्नों से सुशोभित किये है। अतः इन जीवों के शरीरों की उत्पत्ति का परिचय प्राप्त करना भी भगवान् को पहचानने की कुञ्जी है।

वास्तव में विद्याध्ययन का विशेष फल यही है कि इसके द्वारा भगवान् की महिमा का ज्ञान हो। जिस प्रकार किसी कवि की कविता और शिल्पी की शिल्प–रचना को देखकर निःसन्देह उनकी विशेषता का ही परिचय मिलता है, उसी प्रकार जितनी भी भगवान् की कारीगरी है वह सब उन्हें पहचानने की कुञ्जी ही है। उससे उनके गुणों का ही परिचय प्राप्त होता है। तथापि हृदय की पहचान के आगे शरीर की पहचान तो अत्यन्त नगण्य है, क्योंकि शरीर घोड़े की तरह है और हृदय उसके सवार के समान है। अतः मुख्य पहचान तो हृदयरूप सवार की ही है, क्योंकि घोड़ा तो सवार के लिये ही होता है, किन्तु सवार घोड़े के लिये नहीं होता।

इस प्रकार यहाँ तक जो कुछ वर्णन किया गया है उससे यह निश्चय होता है कि तुम अपने अङ्गों को अच्छी तरह से नहीं जानते हो। और यह बात तो स्पष्ट ही है कि अपने स्वरूप से तुम्हारे अधिक समीपवर्ती और कोई वस्तु नही है। सो जब तुम अपने स्वरूप को ही नही जानते तो अन्य किसी पदार्थ को जानने

का अभिमान कैसे कर सकते हो ? यह तो ऐसी ही बात होगी जैसे किसी के पास अपनी उदरपूर्ति की सामग्री भी हो नहीं और वह सारे नगर को अपने यहाँ भोजन करने के लिये आमन्त्रित करे। ऐसी असम्भव बाते करनेवाला अभिमानी पुरुष तो मूर्ख और मिथ्यावादी ही कहा जायगा।

आठवीं किरण

देहदृष्टि से मानव की हीनता और पराधीनता

अब तुम मनुष्य के हृदयरूपी रत्न की महिमा, शोभा और विशेषता तो अच्छी तरह समझ गये होंगे। किन्तु यह भी याद रखो कि यद्यपि भगवान् ने तुम्हें ऐसा रत्न दिया है, फिर भी इसे रखा तुमसे गुप्त ही है। अतः तुम यदि इस रत्न की खोज न करोगे, इसकी ओर से अचेत रहोगे और अपने जीवन को व्यर्थ गँवाओगे तो इससे तुम्हारी अत्यन्त हानि होगी। इसलिये तुम पुरुषार्थ करके इस रत्न की खोज करो और माया के जालों से विरक्त रहो, तभी तुम्हारा हृदय-रत्न पूर्णपद को प्राप्त कर सकेगा। इसकी पूर्णता और श्रेष्ठता चैतन्यरूपी सूक्ष्म देश में पहुँचने पर ही प्रकट होती है, क्योंकि वहां यह शोकरहित आनन्द का अनुभव करता है और अपने अविनाशी सत्य-स्वरूप का साक्षात्कार करता है। तथा वहीं इसकी अविद्या की निवृत्ति होकर इसे ज्ञान प्राप्त होता है। यह चैतन्य ही श्रीभगवान् का शुद्ध स्वरूप है और जीवात्मा भी सूक्ष्म देश में पहुँचकर इसी में लीन होता है।

तथा स्थूल देश में जो जीव की विशेषता कही गयी है उसका कारण यही है कि यह उस परमपद को प्राप्त करने का अधिकारी है। जब तक इस पद को प्राप्त नहीं करता तब तक यह जीव ऐसा पराधीन और नीच है कि इसकी नीचता का वर्णन नहीं किया जा सकता। यह भूख, प्यास, शीत, उष्ण, रोग, शोक, दुःख, मोह क्रोध और तृष्णा आदि नीच स्वभावों के अधीन रहता है। जो

भोग इसे अत्यन्त प्रिय लगते हैं वे इसके रोग के ही कारण हैं तथा इसके शरीर का सुख रहता है कड़वी औषधियों में। वास्तव में मनुष्य की विशेषता तो विद्या, बल, धैर्य और श्रद्धा आदि दिव्य गुणों के कारण ही है। यदि शरीर की ओर देखे तब तो इसमें कुछ भी विशेषता नहीं है। यदि इसके मस्तक की एक नाड़ी में कोई दोष आ जाय तो यह पागल हो जाता है और इसकी मृत्यु की भी आशंका हो जाती है। उस अवस्था में तो इसे अपने पास पड़ी हुई अपनी औषधि की भी पहचान नही रहती और न यह अपने रोग को ही समझता है। इसके समान बलहीन और पराधीन भी कौन होगा ? एक मक्खी से तो यह अपनी रक्षा कर नहीं सकता। यदि मच्छर भी इसे काटने लगे तो उसी से यह अत्यन्त व्याकुल हो उठता है। यदि इसके पुरुषार्थ और धैर्य की ओर देखा जाय तो उसमें भी यह अत्यन्त पिछड़ा हुआ है। कभी-कभी तो एक पैसा गिरने से ही यह दुःखी और उदास हो जाता है तथा भूख के समय एक ग्रास की कमी रह जाने से ही व्याकुल हो उठता है और मूर्च्छित-सा हो जाता है। अतः शरीरदृष्टि से तो यह मनुष्य बहुत ही गिरा हुआ है।

यदि शरीर की सुन्दरता पर विचार करें तो यह अत्यन्त मलिन जान पड़ता है। इसमें है क्या ? मानो मल-मूत्र के भवन पर त्वचा लपेटी हुई हो। यदि इसे दिन में दो बार न धोया जाय तो ऐसी दुर्गन्ध उठती है कि अपने को भी ग्लानि होने लगती है और दूसरे लोग भी घृणा करते हैं। अजी ! जिस शरीर को तुम अपना सर्वस्व समझते हो और जिसकी सुन्दरता का तुम्हें इतना अभिमान है उसके मल को तो तुम नित्यप्रति स्वयं ही अपने हाथों से साफ करते हो, फिर भी तुम्हें इसकी मलिनता का ज्ञान नहीं होता। इस विषय में एक दृष्टान्त दिया जाता है। एक बार एक महापुरुष मार्ग में चल रहे थे। आगे कुछ चाण्डाल गढ़े में

विष्ठा डाल रहे थे। उसके पास होकर निकलनेवाले दुर्गन्ध के कारण नाक मूँद लेते थे। उनसे महापुरुष ने कहा, 'भाई ! क्या तुम भी सुनते हो, यह विष्ठा कहती है कि कल मैं बाजार में रखी हुई थी और लोग मुझे मूल्य देकर खरीदते थे। अब एक रात तुम्हारी संगति करने से मेरी यह दुर्दशा हो गयी। सो विचार तो करो कि मुझे तुम्हारे पास से भागना चाहिये या तुम्हें मेरे पास से ?'

तात्पर्य यह है कि इस शरीर से सम्बद्ध होने पर तो यह जीव अत्यन्त दीन और पराधीन है तथा इसकी अवस्था भी बहुत गिर जाती है। इसी नाते परलोक में भी इसकी हीनता या विशेषता प्रकट होगी। अर्थात् यदि यह दिव्य-स्वभावरूप पारस के द्वारा अपने को शुद्ध कर लेगा तो पशु और सिंहों के स्वभावों से मुक्त होकर परलोक में देवपद प्राप्त करेगा, क्योंकि फिर इसे पाशवी क्रिया और कर्मों के दोष का कोई संसर्ग नहीं रहेगा। और यदि यह अशुभ कर्मों में लगा रहेगा तो अन्त में नरक भोगेगा। अतः पुरुष को चाहिये कि जिस प्रकार यह अपनी विशेषता को जानता है उसी प्रकार अपनी नीचता और पराधीनता को भी परखता रहे, क्योंकि इस प्रकार की परख भी श्रीभगवान् को पहचानने की कुञ्जी है।

बस, अपने-आपको पहचानने के विषय में इतना ही कथन पर्याप्त होगा।

---

(२)

द्वितीय उल्लास

(भगवान् की पहचान)

पहली किरण

शरीर और संसार की वस्तुओं पर विचार करने से भगवान् की पहचान

सन्तों का यह वचन प्रसिद्ध है और उन्होंने यही उपदेश दिया है कि जब तुम अपने-आपको पहचानोगे तभी निःसन्देह भगवान् को भी पहचान सकोगे। प्रभु भी कहते हैं कि जिसने अपने आत्मा और मन को पहचाना है उसी ने भगवान् को भी पहचाना है। इसका कारण यह है कि मनुष्य का हृदय दर्पण के समान है। अतः जो पुरुष इसमें विवेकदृष्टि से देखता है उसे भगवान् का दर्शन प्रत्यक्ष भासने लगता है। तथा सभी लोग जो अपने को तो देखते है किन्तु भगवान् को नहीं देख पाते, इसका कारण यह है कि जिस प्रकार सन्तों ने अपने आपको देखना कहा है उस प्रकार वे अपने को नहीं देखते। अतः जिस दृष्टि के द्वारा हृदय-दर्पण में भगवान् की झाँकी की जा सकती है उस दृष्टि का खुलना बहुत आवश्यक है। परन्तु बहुत लोगों की बुद्धि तो इस भेद को समझ ही नहीं सकेगी, इसलिये जिस प्रकार सभी इसे हृदयङ्गम कर सके उसी प्रकार इस विषय का वर्णन करता हूँ।

सबसे पहले मनुष्य को अपने स्वरूप की स्थिति से भगवान् की सत्ता का भी निश्चय करना चाहिये तथा अपने गुणों से ही भगवान् के गुणों की भी पहचान कर लेनी चाहिये। उसे देखना चाहिये कि जिस प्रकार इस शरीर और इन्द्रियवर्ग पर जीव की

आज्ञा बर्तती है उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत् श्रीभगवान् के अनुशासन में चल रहा है। मनुष्य यह देखे कि कितने समय से मैं विद्यमान हूँ, उससे पहले तो मेरा नाम या रूप कुछ भी नहीं था। साथ ही इस बात पर भी विचार करे कि मेरी आदि-उत्पत्ति का बीज तो वीर्य ही है, जो जल की एक मलिन बूँद ही है। उसमें बुद्धि, श्रवण, नेत्र, शिर, हाथ, पैर, रसना, अस्थि, नाड़ी या त्वचा कुछ भी न था। बस, केवल सफेद जल ही था। उसी से इस शरीर में अनेकों आश्चर्य उत्पन्न हो गये! सो ये सब क्या शरीर ने स्वयं ही बना लिये है, या इनका बनाने वाला कोई और है। अच्छा, यदि यह स्वयं ही सब कुछ बना लेता है तो अब तो यह मनुष्य बुद्धि और इन्द्रिय आदि सभी अङ्गो से सम्पन्न है, किन्तु एक बाल भी नहीं बना सकता, फिर जिस अवस्था में यह केवल वीर्य की एक गन्दी बूँद के ही आकार में था उस समय कैसे बना सकता था? इस प्रकार अपनी उत्पत्ति पर विचार करने से यह मनुष्य सहज ही में अपने उत्पत्तिकर्त्ता प्रभु को पहचान सकता है।

और जब यह मनुष्य अपने आश्चर्यमय अङ्गों की ओर देखे तो इसे सहज ही में भगवान् की विलक्षण बुद्धि का परिचय मिल सकता है। साथ ही वह देखेगा कि प्रभु ऐसे समर्थ है कि जिस प्रकार जिस वस्तु को उत्पन्न करना चाहें उसी प्रकार कर सकते है। भला इससे बढ़कर उनके बल का और क्या वर्णन किया जा सकता है कि उन्होंने जल की एक मलिन बूँद से ऐसा सुन्दर शरीर रच डाला और उसमें ऐसी आश्चर्यमयी इन्द्रियाँ बना दीं। इस प्रकार यदि यह मनुष्य अपने स्वभावों और इन्द्रियों के कर्मो को परखने लगे, तो वह यह जान सकेगा कि भगवान् ने एक-एक अङ्ग कैसे महत्त्व के बनाये हैं। इस शरीर के हाथ, पाँव जिह्वा, नेत्र और दाँत आदि वाह्य तथा हृदय, मन एवं प्राण आदि

आन्तरिक अङ्गों की उत्पत्ति और विशेषताओं के द्वारा वह इन्हें उत्पन्न करने वाले भगवान् की विद्या को समझे और देखे कि उनकी विद्या कैसी असीम और सम्पूर्ण पदार्थों को विषय करनेवाली है कि उनसे कोई भी वस्तु छिपी नहीं रह सकती। यदि सारे बुद्धिमान् मिलकर विचार करें और किसी अङ्ग को अन्य प्रकार से बनाना चाहें तो अन्त में वे उसे उसी रूप में रखना सबसे अच्छा मानेंगे जिसमें कि उसे भगवान् ने बनाया है, उसका कोई दूसरा रूप उन्हें उचित न जान पड़ेगा।

अब इस बात को स्पष्टतया समझने के लिये कुछ अङ्गों की रचना पर विचार किया जाता है। पहले दाँतों को लीजिये। इनमें अगले दाँतों के सिरे तीखे बनाये गये है, जिससे कि वे आहार को पकड़ कर उसके खण्ड-खण्ड करदें। फिर जो इधर-उधर की दाढ़ें हैं वे अपने चौड़े सिरों से चक्की की तरह आहार को पीसती है। चक्की में बीच की नली द्वारा जैसे अनाज इकट्ठा रहता है उसी प्रकार रसना ग्रास को इकट्ठा करके दाँतों के नीचे दबाती रहती है। जिह्वा के नीचे ही एक सरोवर-सा है, जिससे लार ले कर वह ग्रास को भिगोती रहती है। यह भिगोना भी आवश्यकता के अनुसार होता है, जिससे ग्रास सूखे नहीं और कोमल होकर कण्ठ से नीचे उतर जाय। अब, सारे बुद्धिमान मिलकर भी यदि भगवान् की इस आश्चर्यमयी रचना से किसी अन्य प्रकार की रचना करनी चाहें तो इससे बढ़कर नहीं बना सकते। अतः भगवान् ने जैसा बना दिया है उसी में सबसे बढ़कर भलाई और सुन्दरता है। देखो, हाथ में पाँच अँगुलियाँ है, इसमें चार का स्वभाव तो एक है और पाँचवाँ जो अँगूठा है उसका स्वभाव कुछ दूसरे प्रकार का है। इसकी लम्बाई कम है, यह सब अँगुलियो के ऊपर घूम सकता है और उनके काम में सहयोग दे सकता है। सब अँगुलियों में तीन-तीन जोड़ है, किन्तु अँगुठों में दो है।

अतः यह इतना दृढ़ है कि जब आवश्यकता हो तभी सब अँगुलियों को समेट कर मुट्ठी बाँध लेता है और उसे खोल भी सकता है। यह कभी हाथ को सकोड़लेता है और कभी फैला देता है, यही तरह-तरह के शस्त्रों का प्रयोग करता है और कभी हाथ को पात्र की तरह बना लेता है। तात्पर्य यह है कि हाथों की सारी क्रिया अँगूठे के द्वारा ही सिद्ध होती है। अब यदि सारे बुद्धिमान् मिलकर विचार करे कि पाँचो अँगुलियाँ समान होनी चाहिये, अथवा तीन एक ओर और दो दूसरी ओर होनी चाहिये, अथवा छः या चार होनी चाहिये, अथवा अँगुलियो में तीन-तीन जोड़ न रहकर किसी अन्य प्रकार से रहना चाहिये—तो उनकी ये सारी कल्पनाएँ अनुपयुक्त और असुन्दर रहेगी। अतः भगवान् ने जो अङ्ग जैसा बनाया है वह उसी प्रकार पूर्ण है। इससे सिद्ध हुआ कि जीव को उत्पन्न करने वाले प्रभु की विद्या इसके शरीर एवं सभी पदार्थो में भरपूर है और वे सम्पूर्ण जगत् को जानने-वाले है।

इसी प्रकार इस शरीर के जितने भी अङ्ग है उन सब में ऐसे ही विचित्र गुण और रहस्य भरे हुए है। उन्हें जो पुरुष जितना-जितना समझता है उतना-उतना भगवान् की कारीगरी को देखकर चकित होता है। अतः इस पुरुष को अपने अङ्गों का निरीक्षण करते हुए अपने आहार, वस्त्र और पृथ्वी आदि निवासस्थानोंपर भी विचार करना चाहिये। तथा आहार की उत्पत्ति के साथ जो मेघ, पवन और शीत-उष्ण आदि का जो सम्बन्ध रखा गया है उसे भी परखना चाहिये। देखो, भगवान् ने खानियाँ कैसी आश्चर्यरूप बनायी है, जिनसे लोहा-ताँबा और अनेकों धातुएँ निकलती है और उनके द्वारा अनेको शस्त्र बनाये जाते है। इन शस्त्रों की विद्या और कारीगरी भी अपार है। यदि विचार किया जाय तो संसार में इन सभी पदार्थो की आवश्यकता थी, इसी से श्रीभगवान् ने कृपा

करके पहले से ही इन्हें उत्पन्न कर दिया। अहा! इन्हें उन्होंने कैसी युक्ति से बनाया है और इनमें से एक-एक में कितने-कितने गुण रखे हैं! यदि प्रभु इन्हें पहले ही से न रचते तो मनुष्य तो यह भी नहीं समझ सकते थे कि हमें अमुक पदार्थ चाहिये, उसे हम भगवान् से माँग लें। अतः उन्होंने मनुष्य के आवश्यकता अनुभव करने और माँगने से पहले ही सब वस्तुएँ उत्पन्न कर दी है और जीवों को इनका उपयोग करने की विद्या दे दी है। इससे भगवान् की परम कृपालुता का परिचय मिलता है और इस संसार पर उनकी जो ऐसी अहैतुकी करुणा है उसे देख-देखकर सब संत आश्चर्यचकित होते है। इसी पर महापुरुष ने कहा है कि जैसे बालक पर माता-पिता की दया होती है उससे भी कहीं बढ़ कर प्रभु की सम्पूर्ण जीवों पर कृपा है।

इस प्रकार हमें जीव की उत्पत्ति से भगवान् की सत्ता का, इसके अंगोपांगों की रचना से उनके पूर्ण सामर्थ्य का तथा इन अङ्गों के जो नाना प्रकार के गुण और कार्य है उन्हें देखकर प्रभु की महती कृपा का परिचय प्राप्त होता है। इस मनुष्य को कार्य करने के लिये और इस शरीर के सौन्दर्य की दृष्टि से जितने पदार्थों की आवश्यकता थी वे सभी भगवान् ने दिये है, कोई भी वस्तु उससे छिपा कर नहीं रखी। इस प्रकार विचार करने से प्रभु की परम कृपा पहचानी जाती है। और इसी दृष्टि से अपने-आपकी पहचान को भगवान् की पहचान की कुन्जी कहा गया है।

दूसरी किरण

भगवान् की शुद्धता और निर्लेपता की पहचान

इस प्रकार तुम्हें अपने स्वरूप की सत्ता से भगवान् के स्वरूप का तथा अपने गुणों से भगवान् के गुणों का तो परिचय हो ही गया। अब तुम उनकी शुद्धता और निर्लेपता का तात्पर्य समझने का भी प्रयत्न करो। शुद्धता का तात्पर्य यही है कि हमारे मन में जो कुछ संकल्प होता है उसमें तो कुछ-न-कुछ स्थूलता रहती ही है, किन्तु भगवान् उससे सर्वथा शून्य है। अर्थात् उनका वास्तविक स्वरूप संकल्प का विषय नहीं हो सकता। इसके सिवा वे देश और काल से भी सर्वथा निर्लिप्त है। यद्यपि ऐसा कोई स्थान नहीं है जो उनकी सत्ता से रहित हो, तथापि उनके विषय में यह नही कहा जा सकता कि वे अमुक स्थान में रहते है। इस निर्लेपता की पहचान भी अपने ही स्वरूप में हो सकती है। पहले मैं कह चुका हूँ कि यह जीव चैतन्यस्वरूप है, अतः मन के सङ्कल्प में उस का कोई रङ्ग-रूप नहीं भासता। इसके सिवा वह अमर्यादा, अखण्ड और अरूप भी है और जो वस्तु मर्यादा एवं रूप से रहित होती है उसका स्वरूप सङ्कल्प के अन्तर्गत कभी नहीं आ सकता क्योंकि जिस वस्तु को नेत्रो द्वारा देखा हो अथवा जिसके समान कोई और वस्तु देखी हो उसी का स्वरूप सङ्कल्प के द्वारा जानने की प्रवृत्ति होती है। तात्पर्य यह है कि वस्तु के विषय में जो ऐसी जिज्ञासा हुआ करती है कि वह कैसी है? उसका रूप-रंग कैसा है? उसकी मर्यादा क्या है अर्थात् वह कितनी लम्बी-चौड़ी है?

चैतन्यस्वरूप परमात्मा के विषय में ऐसे किसी भी प्रकार के संकल्प का अवकाश नहीं है।

अब, यदि तुम यह प्रश्न करो कि तो फिर वह कैसा है और जिस पदार्थ का कोई रंग या रूप ही नहीं उसको सत्य भी कैसे कहा जा सकता है?—तो ऐसा कहना ठीक नहीं। तुम अपने विषय में ही विचार करो, तुम्हारा जो अपना चैतन्यस्वरूप है उसकी भी तो कोई मर्यादा या परिमाण नहीं है, उसके स्वरूप का भी तो वर्णन नहीं हो सकता। किन्तु ऐसा होने पर भी यदि तुम अपनी निर्लेपता को समझ सकते हो तो भगवान् के विषय में भी यही समझो कि उनकी निर्लेपता तुम्हारी निर्लेपता से भी बढ़कर है। लोग जो इस बात को सुनकर आश्चर्य मानते हैं और कहते है कि जिसका कोई रूप-रंग न हो उसे सत्यस्वरूप कैसे जाने, सो विचार करके देखें तो वे स्वयं भी तो रूप-रंग से रहित और सत्यस्वरूप ही है। यही नहीं, यदि यह मनुष्य विचार करे तो इसे अपने भीतर ही ऐसे अनेकों गुण मिलेंगे जो रूप-रंग से रहित हैं। क्रोध, प्रेम, पीड़ा और सुख-दुःख ये सभी अरूप है। अतः अरूप पदार्थ कैसे सत्य हो सकता है—यह प्रश्न व्यर्थ ही है। यदि मनुष्य राग, सुगन्ध और स्वाद के आकार देखना चाहे तो उन्हें भी तो नहीं देख सकता। इसका कारण यह है कि रूप-रंग की खोज भी मन के संकल्प द्वारा होती है और संकल्प में उसी की मूर्त्ति स्पष्टतया आ सकती है जिस पदार्थ को नेत्रों द्वारा देखा हो। अतः संकल्प तो नेत्रों द्वारा देखे हुए पदार्थ को ही ढूँढ़ता है। शब्द भी श्रवणेन्द्रिय का ही विषय है, उस तक भी नेत्र की पहुँच नहीं है और न वह उसका कोई रूप-रंग ही देख सकता है। तथा जिस प्रकार शब्द का स्वरूप नेत्रेन्द्रिय की गति से परे है उसी प्रकार रूप-रंग तक श्रवणेन्द्रिय की पहुँच नहीं हो सकती। इस प्रकार अन्य सब

इन्द्रियो के विषय भी भिन्न-भिन्न है। उनसे भी विलक्षण वे पदार्थ है जिनका ज्ञान केवल बुद्धि से ही होता है, वे किसी भी इन्द्रिय के विषय नहीं होते, अतः इन्द्रियागोचर कहे जाते है। परन्तु इस रहस्य को पुरुषार्थ और युक्ति-द्वारा समझा जा सकता है। अन्य ग्रन्थों मे इसका बहुत विस्तार है, इसलिये यहाँ इसका इतना ही वर्णन पर्याप्त है।

यहाँ हमें मुख्यतया तो यही कहना था कि यह मनुष्य अपनी अरूपता और निराकारता के द्वारा भगवान् की अरूपता और निराकारता को पहचाने। साथ ही यह भी निश्चय करे कि जिस प्रकार रूप-रंग से रहित जीव रूप-रंगयुक्त शरीर का राजा है और शरीर उसके द्वारा शासित देश के समान है, उसी प्रकार सम्पूर्ण सृष्टि का स्वामी भगवान् अरूप एवं अनाकार है तथा यह सम्पूर्ण जगत् जो स्थूल और साकार है, उसकी आज्ञा में बर्तता है। इसके सिवा पहले यह कहा जा चुका है कि भगवान् किसी भी स्थानविशेष से बँधे हुए नहीं है। इसी प्रकार यह जीव भी शरीर के हाथ, पाँव या शिर आदि किसी अंगविशेष में नहीं रहता, क्योंकि ये अङ्ग तो सभी खण्डाकार है, और चैतन्यस्वरूप जीव अखण्ड है। अखण्ड वस्तु भला खण्डाकार में कैसे समा सकती है? ऐसा होने पर तो वह भी खण्ड-खण्ड हो जायगी। अतः यह बड़ा आश्चर्य है कि यद्यपि जीव की सत्ता से बाहर कोई भी अंग नहीं है, सब उसकी सत्ता और आज्ञा के अधीन हैं, तथापि उसे किसी एक स्थान में नहीं कह सकते। इसी प्रकार वे प्रभु भी सम्पूर्ण सृष्टि के स्वामी और निर्लेप है, उन्हें पृथ्वी, आकाश या पाताल किसी भी एक स्थान में नही कहा जा सकता, तथापि सारा जगत् उन्हीं की सत्ता से विद्यमान है और उन्हीं के अधीन है। अतः भगवान् की शुद्धता और निर्लेपता का पूरा-पूरा रहस्य तभी जाना जा सकता है जब जीव के यथार्थ स्वरूप का बोध हो।

प्रभु ने भी कहा है कि मैंने मनुष्य को अपने स्वरूप के अनुसार रचा है। किन्तु धर्मशास्त्रों में इस रहस्य को गुप्त ही रखा है।

तीसरी किरण

भगवान् और जीव के साम्राज्यों का वर्णन

इस प्रकार भगवान् के स्वरूप, गुण और अरूपता को तुमने समझा तथा उनकी निर्लेपता का भी तुम्हें परिचय हुआ। इससे अब यह भी आवश्यक हो जाता है कि तुम उनके साम्राज्य का भी ज्ञान प्राप्त करो। अतः अब तुम्हें यह श्रवण करना चाहिये कि वे किस प्रकार अपने साम्राज्य का सञ्चालन करते है, किस प्रकार समस्त देवताओं को अपनी आज्ञा मे चलाते है और देवता लोग किस लिये उनके आदेश का अनुवर्तन करते है? साथ ही यह भी समझना चाहिये कि भगवान् संसार के कार्यो को किस प्रकार पूरा करते है, किस प्रकार भगवद्धाम से उनकी आज्ञा भूर्लोक में आती है, कैसे वे नक्षत्रमण्डल का सञ्चालन करते है, किस प्रकार उन्होने भूर्लोक के जीवों की प्रवृत्तियाँ देवताओं के अधीन रखी है और किस प्रकार द्युलोक के द्वारा सम्पूर्ण जीवों का पालन-पोषण होता है? इस विद्या के द्वारा भगवल्लीला का परिचय प्राप्त होता है। ग्रन्थों में इसका वर्णन बड़े विस्तार से किया जाता है।

किन्तु यह विद्या भी अपने-आपको पहचानने से ही प्राप्त हो सकती है। जब तक तुम्हें इस बात का ज्ञान न हो कि मै इस शरीर का किस प्रकार अनुशासन करता हूँ, तब तक जो सम्पूर्ण संसार के सम्राट है उन प्रभु के शासन का भेद तुम कैसे समझ

सकोगे ? अतः इस बात को समझने के लिये तुम अपने ही एक कर्म पर विचार करो। मानलो, तुम्हारे हृदय में भगवान् का नाम लिखने की इच्छा हुई। यह सङ्कल्प सबसे पहले तुम्हारे हृदय में स्फुरित होगा और फिर मस्तिष्क में जायगा। × जिसको हृदयस्थान कहते है वह प्राण की स्थिति का स्थल है, समस्त इन्द्रियों के व्यापार इसी के द्वारा सिद्ध होते है। शरीर-विज्ञानवाले तो इस प्राणों के स्थान को ही चैतन्य कहते है, परन्तु मेरे मत में यह स्थूल, जड़ एवं नाशवान् है। मैं जिस हृदय को चैतन्यरूप कहता हूँ वह तो ज्ञान का स्थान है, वह इससे भिन्न अविनाशी है। अस्तु जब सङ्कल्प हृदयस्थान से मस्तिष्क में पहुँचता है तो उस नाम की एक सङ्कल्पमयी मूर्त्ति बन जाती है। फिर वह मूर्त्तिमान सङ्कल्प नाड़ियो और माँस-पेशियों को संचालित करता है और उससे प्रेरित होकर अँगुलियाँ लेखनी को चलाती है, जिससे कागज पर अक्षर प्रकट होते हैं और उस नाम की मूर्त्ति प्रकट हो जाती है। इस प्रकार नाम की जैसी मूर्त्ति का सङ्कल्प में स्फुरण हुआ था वैसी ही वह इन्द्रियों के द्वारा कागज पर प्रकट होती है। सो जैसे इसके प्राकट्य में तुम्हारी इच्छा ही मूल कारण है उसी प्रकार इस जगत् की रचना का मूल कारण भी भगवान् की इच्छा ही है। जैसे वह इच्छा तुम्हारे हृदयदेश में स्फुरित हुई थी वैसे ही भगवदिच्छा का स्फुरण ईश्वरसत्ता में होता है। फिर जैसे तुम्हारी इच्छा मस्तिष्क में जाती है वैसे ही भगवदिच्छा ईश्वर से देवताओं को प्राप्त होती है। तुम्हारी इच्छा की जैसे सङ्कल्प में मूर्त्ति बनती है उसी के अनुसार वह कागज पर अक्षरों के रूप में प्रकट होती है। उसी प्रकार भगवदिच्छा सबसे पहले महत्तत्त्वरूप से मूर्त्तिमती होती

× 'हृदय' सङ्कल्प या भाव का स्थान है और 'मस्तिष्क' विचार या निश्चय का।

है और फिर देवताओं की प्रेरणा से पंचभूतों के रूप में स्थूल रूप धारण करती है। बात पित्त,कफ भी भूतों के ही स्वभाव हैं। अतः जैसे कलम के द्वारा अक्षर प्रकट होते है वैसे ही इन तीनों के मेल से नाना प्रकार के शरीर उत्पन्न हो जाते हैं। कलम का काम तो यही था कि उसके द्वारा कागज पर तुम्हारे आदि-सङ्कल्प की मूर्त्ति प्रकट हो गयी, उसी प्रकार यहाँ पंचभूतों का कार्य भी इतना ही है कि उनके द्वारा देवताओं की प्रेरणा से अनेक प्रकार के शरीर और वनस्पति आदि उत्पन्न हो जाते हैं। पहले जैसे मस्तिष्क में ही भगवन्नाम की मूर्त्ति निश्चित हो जाती है और वही नाड़ियों एवं अँगुलियों के द्वारा कागज पर प्रकट होती है, उसी प्रकार यह सारी रचना पहले भगवान् के आदि-संकेत के अनुसार महत्तत्त्व-रूप से हो लेती है और वही क्रमशः जगत्‌रूप में आविर्भूत होती है। जिस प्रकार तुम्हारी चेतना का स्थान हृदय है और उसी से सारी क्रियाएँ सिद्ध होती है, उसी प्रकार भगवदिच्छा का आदि-स्थान ईश्वर है, उसी से सम्पूर्ण देवताओं को भी बल प्राप्त होता है और उसी की सत्ता से संसार का सारा व्यवहार सिद्ध होता है। इस प्रकार जीव और ईश्वर के साम्राज्यों में कोई भी अन्तर नहीं है, किन्तु इस रहस्य को वही समझ सकता है जिसके बुद्धिरूप नेत्र खुले है। भगवान् ने भी कहा है कि मैंने मनुष्य को अपने स्वरूप के अनुसार उत्पन्न किया है। किन्तु यह बात तुम निश्चित जानो कि जिस प्रकार राजाओं के भेद को कोई राजा ही जानता है उसी प्रकार भगवान् की लीला के रहस्य को भी महापुरुष ही समझ सकते है सामान्य पुरुषों की वहाँ तक पहुँच नहीं होती।

इस प्रकार भगवान् ने तुम्हें भी एक साम्राज्य दिया है, जिससे इस शरीररूप देश के राज्य द्वारा तुम उनके साम्राज्य को पहचान सको। अतः तुम उनके इस महान् उपकार पर विचार करो, क्योंकि अपने इस राज्य के द्वारा ही तुम उनके साम्राज्य का भी

परिचय प्राप्त कर सकोगे। तुम्हारे इस राज्य में हृदयस्थान ही वैकुण्ठ है, मस्तिष्क देवलोक है, चित्त महत्तत्त्व है, नेत्रादि इन्द्रियाँ देवता है और सिर आकाश है। तुम्हें तो प्रभु ने रूप-रंग से रहित ही बनाया है और यह जो रूप-रंगवाला शरीर है इसका तुम्हें आधिपत्य दिया है। तुम्हारे लिये उनका आदेश है कि तुम एक पल के लिये भी अपने राज्य से असावधान न रहो, यदि तुम इसकी ओर से अचेत रहोगे तो मुझे भी नहीं पहचान सकोगे। अतः पहले तुम अपने ही को पहचानो।

यहाँ जो कुछ वर्णन किया गया है वह जीव और भगवान् के राज्यों की सूचनामात्र है। यदि इनका साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया जाय तब तो बड़ा विस्तार हो जायगा। इसी प्रकार इस ब्रह्माण्ड और देवताओं के जो पारस्परिक सम्बन्ध एवं देवताओं के जो स्थान और पुरियाँ है उनकी विद्या भी अपार है। इन सबका तात्पर्य यही है कि बुद्धिमान् मनुष्य को इस रहस्य का अनुभव करना चाहिए कि भगवान् इस सम्पूर्ण सृष्टि के स्वामी है। किन्तु जिसका हृदय मलिन होता है वह यह कुछ नही समझ सकता। वह तो ऐसा प्रमादी होता है कि उसे श्री भगवान् के स्वरूप की सुन्दरता और उनकी अतुलित शक्तिमत्ता पर भी विश्वास नही होता। कहाँ तक कहें, जीवों की बुद्धि तो ऐसी मलिन हो रही है कि यहाँ जो कुछ वर्णन किया गया है उसे भी वे नहीं समझ पाते, फिर भगवान् के स्वरूप को वे कैसे पहचान सकेंगे?

चौथी किरण

शरीरविज्ञानियों और ज्यौतिषियों के मतों की समीक्षा तथा भगवान् के राज्य और उनकी व्यवस्था का वर्णन

संसार में जो शरीर-विज्ञान के पण्डित हैं वे तो वात, पित्त, कफ को ही मूलतत्त्व मानते हैं और ज्यौतिषी लोगों के मत में हमारी सारी प्रवृत्ति नक्षत्रों के अधीन है। किन्तु इससे इनकी बुद्धि की मन्दता ही सूचित होती है। यह ऐसी ही बात है जैसे कोई व्यक्ति कागज पर लिख रहा हो और उस पर कलम से अक्षरों की आकृतियाँ बनते देखकर कोई मकोड़ा यह समझने लगे कि इन आकृतियो को तो लेखनी ही बनाती है। इसे भले ही बड़ी भारी खोज समझ कर वह कृतकृत्यता का अनुभव करे, परन्तु है यह उसकी अदूरदर्शिता ही। ऐसी ही स्थिति इन शरीर-विज्ञान-वादियों की है। ये आपातदृष्टि से देखकर जड़ वात, पित्त और कफ को ही शरीर का उपादान और उन्हें सब कुछ करने-धरनेवाला मानने लगे है। ज्यौतिषी इनसे कुछ आगे बढ़े है। वे उस मकोड़े के समान है जो पहले की अपेक्षा कुछ विशेष बुद्धि रखता है और जिसने ऐसा निश्चय किया है कि ये अक्षर लेखनी की नहीं, अपितु इसे चलानेवाली अँगुलियों की कृति है। अतः ये वात-पित्तादि को नहीं, बल्कि उनके प्रेरक नक्षत्रों को ही सब कुछ

करने-धरनेवाला मानते हैं। किन्तु है ये भी मन्दमति ही, क्योंकि इनकी दृष्टि अभी नक्षत्रों से आगे उनके प्रेरक देवताओं और देवताओं के भी शासक ईश्वर या भगवान् तक नहीं गयी है।

इसके सिवा भिन्न-भिन्न मतवादियों में आत्मा और अनात्मा के विषय में भी बड़ा मतभेद है। उनमें कोई तो ऐसे हैं जो शरीर और प्राणों को ही चैतन्य मानते है। उनकी दृष्टि तो बहुत ही स्थूल है, चैतन्यतत्त्व की उपलब्धि का मार्ग उनसे सर्वथा ओझल है। इसी से उनकी बुद्धि शरीर में ही अटकी रह गयी है। कुछ ऐसे लोग है जो जीव को शरीर से भिन्न मानते है, वे अवश्य चैतन्य के प्रकाश की ओर उन्मुख है। किन्तु इस प्रकाश में भी उत्तरोत्तर अनेकों स्थल है। किन्हीं की दृष्टि में वह प्रकाश तारा के समान है, किन्हीं की दृष्टि में चन्द्रमा के समान और किन्हीं की दृष्टि में सूर्य के समान। किन्तु इन प्रकाशमय पदों का अनुभव भी उन्हीं को होता है जिनकी बुद्धि की गति चिदाकाश में है। इस पर खलील नाम के एक संत ने कहा कि जिस प्रभु ने पृथ्वी और आकाश को उत्पन्न किया है अभी तो उसकी ओर मैंने मुख किया है। और महापुरुष भी कहते है कि भगवान् और जीव के बीच में सत्तर हजार पर्दे है, ये निवृत्त हों तो जीव प्रकाशरूप हो जाय। तात्पर्य यह है कि भगवान् के सत्तर हजार पर्दे अर्थात् कलाएँ है और ये सब प्रकाशरूप है। सो यदि वे इन सब पर्दो को हटा दे तो निश्चय ही उनका ऐसा प्रकाश हो कि जीव उनके तेज को सहन न कर सके, निश्चय ही उसका मुख भस्म हो जाय।

इन सब वाक्यों का तात्पर्य यही है कि यद्यपि चरम तत्त्व अत्यन्त दुर्लक्ष्य है तथापि आंशिक सत्य सभी मतों में है। शरीर-विज्ञानियों ने जो कुछ कहा है वह भी ठीक ही है। उनकी बात तो तभी असत्य हो सकती थी जब वात, पित्त, कफ में भी

भगवान् की सत्ता न होती। उनकी भूल तो केवल इतनी ही है कि उनकी इस अत्यन्त निम्नस्तर में ही अलं-बुद्धि हो गयी है और उन्होंने इसीको चरम स्थान मान लिया है। अतः उन्हें मन्दमति ही कहा जा सकता है। उन्होंने मानो एक साधारण सेवक को ही राजा मान लिया है, यह नहीं समझा कि ये तो उस महाराज के अत्यन्त तुच्छ टहलुए है। इसी प्रकार ज्योतिषियों ने जो जगत् को नक्षत्रों के अधीन कहा है वह भी अंशतः ठीक ही है, क्योंकि यदि नक्षत्रों में भगवान् की सत्ता न होती तो संसार में रात-दिन का भी भेद न होने पाता। सूर्य भी तो एक विशाल नक्षत्र ही है, उसी के द्वारा रात-दिन और शीत-उष्ण का भेद होता है। सूर्य जब सामने आता है तो दिन होता है और ओझल हो जाने पर रात होती है। इसी प्रकार जब वह पृथ्वी के निकट रहता है तो ग्रीष्म ऋतु होती है और जब दूर रहता है तो शीत ऋतु। भगवान् ने ही सूर्य को प्रकाश और उष्णता प्रदान किये है। अतः सूर्य उन्हीं की सत्ता से अपना कार्य कर रहा है। इसी प्रकार उन्होने शुक्र को शीतलता दी है और उसे शोषण करने वाला बनाया है तथा एक दूसरे नक्षत्र को उष्ण और सजल रचा है। अतः नक्षत्रों को संसार की प्रवृत्ति का कारण मानना भी धर्म के विरुद्ध नहीं है। ज्योतिषियो को तो इसीलिये भ्रान्त कहा है कि वे नक्षत्रों को ही संसार की प्रवृत्ति का मूल प्रेरक मानते है यह नहीं जानते कि ये भी पराधीन है और श्रीभगवान् की आज्ञा से प्रेरित होकर ही अपने-अपने काम में लगे हुए है। इनमें स्वयं कोई शक्ति नहीं है। जैसे हाथों को भी भुजा और कन्धों की नाड़ियों द्वारा मस्तिष्क ही प्रेरित करता है उसी प्रकार ये तारामण्डल और नक्षत्र भी भगवान् की आज्ञा का अनुवर्तन करनेवाले तुच्छ टहलुओं के समान ही है।

इस प्रकार यद्यपि आंशिक सत्य शरीर-विज्ञानियों और ज्योति-

षियों के मतों में भी है, किन्तु वे वास्तविक रहस्य को नहीं जानते और अपने-अपने मतों का आग्रह करके अपने मत को ही चरम सिद्धान्त समझते है। उनके विषय में यह दृष्टान्त पूर्णतया चरितार्थ होता है—किसी स्थान पर कुछ अन्धे रहते थे। उन्होंने सुना कि यहाँ नगर में एक हाथी आया है। उनको इच्छा यह जानने की हुई कि हाथी कैसा होता है। अतः वे हाथी के पास जा उसे हाथ से टटोलने लगे। उनमें से किसी का हाथ हाथी की टाँग पर, किसी का दाँत पर, किसी का सूँड पर और किसी का कान पर पड़ा। बस, उन्होंने समझ लिया कि हाथी ऐसा ही है और वे लौटकर परस्पर पूछने लगे कि भाई! हाथी कैसा था? उनमें से जिसने हाथी की टाँग पकड़ी थी वह बोला, 'हाथी खम्भे के समान था' जिसने दाँत पकड़ा था वह बोला, 'हाथी मूसल की तरह था' जिसने सूँड छुई थी वह कहने लगा कि हाथी अँगरखे की बाहों की तरह था, और जिसने कान पकड़ा था वह बोला, हाथी पंखे की तरह था।' इस प्रकार मतभेद होने से उनमें खूब वाद-विवाद होने लगा। अब विचार किया जाय तो अंशतः उन सभी का कथन ठीक है, परन्तु वही पूर्ण सत्य नहीं है। इसी प्रकार शरीर विज्ञानियों और ज्योतिषियों ने भी महाराज के तुच्छ टहलुओं को ही उनका अद्भुत सामर्थ्य देखकर महाराज मान लिया है। किन्तु जिन्हें भगवान् ने अपने पास पहुँचने का सीधा मार्ग दिखाया है वे उनकी तुच्छता और पराधीनता को अच्छी तरह समझते है और जानते हैं कि जो पराधीन होता है वह राजा नहीं हो सकता, अतः इन सबके स्वामी तो भगवान् ही हैं।

इसलिये तुम ऐसा समझो कि यह ब्रह्माण्ड एक राजभवन के समान है। उसी का एक कक्ष वैकुण्ठपुरी है जो प्रधान-मन्त्री के रहने का स्थान है। इस राज्य के प्रधान-मन्त्री भगवान् विष्णु है, जो परब्रह्मरूपी महाराज के अत्यन्त समीपवर्ती हैं और

सभी जिनके अधीन हैं। उनके निवासस्थान के चारों ओर एक बारहदरी है; ये ही बारह राशियाँ कही जाती है। इनमें से प्रत्येक द्वार पर उस प्रधानमन्त्री का एक-एक कर्मचारी रहता है। ये ही बारह राशियों के बारह देवता है। इस बारहदरी के बाहर नवग्रह रूप नौ घुड़सवार घूमते रहते है। प्रधान मन्त्री की ओर से कर्मचारियों को जो आज्ञा होती है उसे ये भी सुनते है। इनके नीचे पञ्चतत्त्वरूप पाँच पदाति है। इनकी दृष्टि सर्वदा घुड़सवारों की ओर ही रहती है और ये यही देखते रहते है कि उनके द्वारा हमारे लिये महाराज की क्या आज्ञा होती है। इन पदातियों के हाथ में जो पाँच पाश है वे ही वात-पित्तादि कहे गये है। उनके द्वारा वे भगवान् की आज्ञा से किन्हीं मनुष्यों को तो ऊर्ध्वगति की ओर खींच लेते हैं और किन्हीं को नीचे गिरा देते है—किन्हीं को सुखरूप शिरोपाव देते है और किन्हीं को दुःखरूप दण्ड देते है। इस प्रकार यद्यपि सुख-दुःख भी भगवान् की प्रेरणा से ही प्राप्त होते हैं, किन्तु संसार में जब किसी मनुष्य को भोगों की ओर से विरस और शोकाकुल-सा देखा जाता है तो वैद्य लोग तो कहते है कि इसे वायु रोग है, इसका कारण शीत ऋतु की शुष्कता है, जब तक वसन्त न आवे इसका उपचार नही हो सकता और जब उसी को कोई ज्योतिषी देखता है तो वह कहता है कि इसे यह वायुरोग बृहस्पति के कोप से हुआ है, क्योंकि इस समय बृहस्पति और मंगल का विरोध है, अतः जब तक इनका विरोध दूर न हो इसका रोग दूर नही हो सकता। सो एक दृष्टि से यद्यपि उनका कथन भी ठीक है, किन्तु उसकी जो भोगों से अरुचि हुई है उसका वास्तविक कारण तो और ही है।

बात वास्तव में यह है कि श्रीभगवान् जिस जीव का उद्धार करना चाहते है, उसके पास तुरन्त ही बृहस्पति और मंगल इन दो अश्वारोही दूतों को भेजते हैं। उनकी आज्ञा से वायु-रूप

पदाति उस जीव पर शुष्कतारूप पाश डालता है, जिससे उसका चित्त भोगों को ओर से विरक्त हो जाता है। फिर वह शोक-रूपी चाबुक लगाकर उसकी श्रद्धा-रूपी बागडोर खींचता है, जिससे उसका मुख भगवान् के दरबार की ओर हो जाता है। इस रहस्य को शरीर-शास्त्री और ज्यौतिषी नहीं समझते, यह विद्या तो सन्तों के अनुभव-रूपी समुद्र में ही छिपी हुई है। सन्तों की विद्या सभी दिशा और सभी कार्यों में भरपूर है, अतः वे ग्रह और नक्षत्रों की गति को भी पहचानते हैं और यह भी जानते हैं कि वे भी भगवान् की आज्ञा पाकर ही किसी जीव को उठाते और किसी को गिराते है। तथापि वैद्य और ज्यौतिषियों का कथन भी ठीक है, यद्यपि वे महाराज, प्रधान-मन्त्री और सेनापति को नहीं जानते। वे नहीं समझते कि इस रोग और चिन्ता में भी प्रभु की अपार करुणा ही भरी हुई है, क्योंकि वे दुःख, रोग, आपत्ति और दण्ड देकर भी जीव को अपनी ही ओर खींचते है। प्रभु का कथन है कि जब सात्त्विकी पुरुषों को कोई रोग होता है तो मै उन्हें पीड़ा नहीं देता बल्कि उस दुःख के द्वारा भी मै अपने प्रियजनों को अपनी ही ओर खींचता हूँ। अतः यह दुःख भी जीवों को मेरी ओर खींच ले जानेवाली रस्सी ही है।

इस प्रकार पहले हमने जीव के स्वरूप की पहचान के विषय में वर्णन किया, और फिर भगवान् के स्वरूप का परिचय कराया। अब भगवान् के राज्य और उनकी व्यवस्था की पहचान करायी है। यह पहचान भी जीव को अपने राज्य और अपनी व्यवस्था की पहचान होने पर ही प्राप्त होती है, इसलिये पहले उल्लास में अपने-आपकी पहचान का ही वर्णन किया गया है।

पाँचवीं किरण

भगवत्स्तुतिपरक चार वाक्यों का विवरण

यह बात स्मरण रखनी चाहिए कि भगवान् की स्तुति चार वाक्यों से की गयी है। वे वाक्य हैः—

१. भगवान् निर्लेप और शुद्ध है।

२. वे सम्पूर्ण जगत् के ईश्वर है।

३. भगवान् एक है, उनके समान कोई दूसरा नहीं है।

४. वे सबसे बड़े है, और परे से भी परे है।

ये चार वाक्य यद्यपि बहुत संक्षिप्त है, तथापि भगवान् की पूर्णता को सूचित करनेवाले हैं। तुमने जब अपनी निर्लेपता के द्वारा भगवान् की निर्लेपता को समझा, तब तुम्हें निर्लेपता के अर्थ की पहचान हुई। फिर जब अपने राज्य द्वारा तुम्हें भगवान् के साम्राज्य का परिचय हुआ, और तुमने समझा कि काल, कर्म और स्वभावसहित जितने देवताओं का सम्बन्ध तुम्हारे साथ है, वे सब ईश्वर के ही अधीन है, तो 'धन्यवाद के योग्य कौन है' इस बात का तुम्हें पता लग गया। तुम यह बात जान गये कि ईश्वर के सिवा और कोई सुख देनेवाला नहीं, क्योंकि स्वयं कोई भी समर्थ या स्वाधीन नहीं हैं। अतः जो भी सुख प्राप्त होते है, वे प्रभु का ही उपकार है, और उन्हीं का धन्यवाद करना चाहिये। इस प्रकार जब तुम यह समझ गये कि कोई भी समर्थ नहीं, सब भगवान् के ही अधीन है, तब उपर्युक्त तृतीय वाक्य

का तात्पर्य भी तुम्हारी समझ में आ ही गया। अब रहा चौथा वाक्य, उसका तात्पर्य यह समझना चाहिये कि तुम जो ऐसा मानते हो कि मैंने भगवान् को पहचान लिया, सो वास्तव में तुमने उन्हें कुछ भी नहीं पहचाना है, क्योंकि उनकी महत्ता का अर्थ तो यही है कि सारे अनुमानों के द्वारा भी जीव उन्हें वास्तव में नहीं पहचान सकता। बड़े होने का यह अर्थ नहीं समझना चाहिये कि भगवान् अमुक पदार्थ से बड़ा है। क्योंकि वास्तव में उनके सामने तो कोई पदार्थ है ही नहीं। यह जितनी सृष्टि है, वह सब भगवान् के प्रकाश का ही प्रतिबिम्ब है, और उन्हीं की सत्ता से भास रहा है। ऐसी स्थिति में भला, उन्हें किससे बड़ा कहेंगे ? जिस प्रकार धूप सूर्य से भिन्न है ही नहीं, तो सूर्य को धूप से बड़ा भी कैसे कहा जायगा ?

अतः भगवान की महत्ता या बड़ाई का अर्थ यही है कि मनुष्य अपनी बुद्धि या अनुमान के द्वारा उन्हें किसी प्रकार नहीं जान सकता। तथा उनकी जो निर्लेपता और शुद्धता है, उसे भी मनुष्य की निर्लेपता के समान समझना अत्यन्त अनुचित है। क्योंकि भगवान् का स्वरूप तो इस सम्पूर्ण भासमान प्रपञ्च से विलक्षण है, उसे किसी के भी समान नहीं कह सकते। फिर भला यह मनुष्य उसकी क्या समता कर सकता है ? भगवान् ऐसी बुद्धि से रक्षा करे, जिसके द्वारा जीव उनके महान् ऐश्वर्य और साम्राज्य को मनुष्य के ऐश्वर्य और राज्य के समान ही जाने, अथवा उनकी विद्या और शक्ति को मनुष्य की विद्या और शक्ति से तुलना करे। यद्यपि पहले हमने भी इसी प्रकार वर्णन किया है, किन्तु वह तो प्रभु के स्वरूप को लक्षित कराने के लिये एक दृष्टान्तमात्र कहा है। उसका उद्देश्य केवल इतना ही है कि इस प्रकार मनुष्य को भगवान् के विषय में कुछ समझ हो जाय। जैसे कोई बालक किसी बुद्धिमान् पुरुष से पूछे कि राज्य करने में कैसा

सुख मिलता है ? और वह कह दे कि जैसा तुझे गेंद-बल्ला खेलने में। बालक इस खेल के सुख से अधिक सुख जानता ही नहीं, इसलिये उसे राज्यसुख को उसके द्वारा लक्षित कराया जाता है। इस दृष्टान्त के सिवा और किसी प्रकार वह उसे समझ भी तो नही सकता। किन्तु वास्तव में यह बात सब जानते ही हैं कि इन दोनो सुखों को परस्पर कोई तुलना नही हो सकती। हाँ, 'सुख' शब्द से दोनों ही का परिचय दिया जाता है, अतः संज्ञा की एकता होने के कारण बालक को उसका कुछ बोध कराया जा सकता है। इसी प्रकार भगवान् की शुद्धता और निर्लेपता का परिचय देने के लिये जो मनुष्य की शुद्धता और निर्लेपता का वर्णन किया है, वह भी मन्दबुद्धि पुरुषों को समझाने के निमित्त से ही है। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं है कि भगवान् को पूर्णता को भगवान् के सिवा और कोई नही जान सकता।

वास्तव में भगवान् की पहचान का विषय इतना विस्तृत है कि उसका कोई अन्त नहीं है। यहाँ तो भगवान् के प्रति जीव की प्रीति और श्रद्धा बढ़े, इस निमित्त से थोड़ा-सा वर्णन कर दिया है। और इतना ही समझने का मनुष्य अधिकारी भी है। जीव की भलाई तो भगवान् को पहचान और उनकी सेवा-भजन आदि मे ही है, जिससे कि मृत्यु के समय उसका ध्यान भगवान् की ओर लगा रहे, क्योंकि वे ही जीव की स्थिति के स्थान है, और अन्त में निःसन्देह वहीं इसे पहुँचना है। अतः इसकी भलाई इसी में है कि पहले ही प्रभु में इसका प्रेम हो जाय। प्रभु में जिसकी जितनी अधिक प्रीति होती है, उतना ही उसे उनके दर्शनों में विशेष आनन्द आता है। और जब तक जीव को उनकी पहचान न हो, अथवा भजन की अधिकता न हो, तब तक उसके हृदय में भगवत्प्रेम की प्रगाढ़ता नहीं होती। यह बात तो प्रसिद्ध ही है कि जिस पुरुष के साथ किसी की विशेष प्रीति होती है, उसी

का वह अधिक स्मरण करता है, और जिसका अधिक स्मरण किया जाता है, उसी के साथ प्रीति भी दृढ़ होती जाती है। कहते हैं, एक बार संत दाऊद को आकाशवाणी हुई थी कि 'हे दाऊद! तेरे सब कामों को सिद्ध करनेवाला मैं ही हूँ और तेरा प्रयोजन भी मेरे ही साथ है, अतः तू एक क्षण भी मेरे भजन से अचेत मत हो।'

परन्तु इस मनुष्य के हृदय में भजन तभी होता है, जब पहले यह सत्कर्मों में बर्ते और इसे सत्कर्मों का अवकाश तब मिलता है जब यह सम्पूर्ण भोग-वासनाओं को त्यागे। अतः पाप-कर्मों को त्यागना ही हृदय की मुक्ति का कारण है, और सत्कर्मों को ग्रहण करने से ही भजन में दृढ़ता होती है। ये दोनों साधन भगवान् के प्रति प्रेम उत्पन्न करनेवाले हैं, और उत्तम भोगों का बीज भी भगवान् के प्रेम में ही है। यह जीव शरीरधारी है, अतः यह सभी प्रकार के भोगों से शून्य तो रह नहीं सकता, इसे शरीर-निर्वाह के लिये भोजन और वस्त्रों की अपेक्षा तो रहेगी ही। इसलिये इसे विचार में स्थित होकर कर्त्तव्य कर्म और भोगवासना का विवेक करना चाहिये। विचार की मर्यादा भी दो प्रकार की होती है—एक तो यह कि मनुष्य अपनी बुद्धि और अनुभव के आधार पर ही अपनी मर्यादा का निश्चय करे, और दूसरी यह कि किन्हीं महापुरुष के आश्रित रहकर उनकी आज्ञानुसार आचरण करे। किन्तु अपनी बुद्धि और पुरुषार्थ के आश्रित रहकर मर्यादा में रहना बहुत कठिन है, क्योंकि जीव के हृदय में भोग-वासना की इतनी प्रबलता है कि वह इसकी बुद्धि को अन्धा करके यथार्थ मार्ग को इसकी दृष्टि से ओझल कर देती है, और अपने अभीष्ट भोगों को ही पुण्य का रूप देकर सामने ले आती है। अतः इस मनुष्य को अपना आचरण स्वाधीन नहीं रखना चाहिये। किन्हीं महापुरुष को अपना शरीर समर्पित कर देना चाहिये। हाँ,

सभी मनुष्य ऐसे नहीं होते, जिन्हें आत्म-समर्पण किया जाय। जो ज्ञान-विज्ञानसम्पन्न सन्त हों, उन्हीं की आज्ञा के अनुसार आचरण करे, कभी उनकी आज्ञा का उल्लंघन न करे। ऐसा होने पर सहज ही में कल्याण हो सकता है, और यही वास्तव में संतों का सच्चा सेवक होना भी है। इसके विपरीत जो पुरुष अपनी वासनाओं के कारण सन्त की मर्यादा का उल्लंघन करता है, उसकी बुद्धि तत्काल नष्ट हो जाती है। इसी पर प्रभु कहते है कि जिस मनुष्य ने मर्यादा का त्याग किया है उसने अपने पर ही अन्याय कर डाला है।

छठी किरण

संतमार्ग से विपरीत चलनेवाले सात प्रकार के मूर्खों का वर्णन

जिन लोगों ने अपनी वासनाओं के कारण सन्तों की आज्ञा और मर्यादा को त्यागा है, उनकी स्थितियाँ सात प्रकार की होती हैं। उनका हम क्रमशः वर्णन करते हैं—

पहले—ये ऐसे मूर्ख होते है कि इनका भगवान् पर भी विश्वास नही होता। ये कहते है—"भगवान् कल्पनामात्र है। यदि वास्तव में कोई इस जगत् का ईश्वर होता तो उसका भी कुछ रूप-रंग होना चाहिये था। किन्तु ईश्वर का तो कोई रूप-रंग या स्थान-दिशा आदि पाया नहीं जाता, इसलिये वह केवल कल्पना ही है। इस जगत् के कार्य तो तत्त्वों के स्वभाव और नक्षत्रों की प्रेरणा से ही होते है।" इन मूर्खों का मत है कि मनुष्य एव अन्य जीव तथा नाना प्रकार की रचना जो दिखायी देती है वह ईश्वर के बिना स्वयं ही उत्पन्न हुई है और इसी प्रकार स्थित रहेगी। अथवा इसे तत्त्वों का स्वभाव ही समझना चाहिये। सो, उनका यह कथन व्यर्थ ही है। वे मूर्ख तो अपने विषय में ही कुछ नहीं जानते, तब और किसी पदार्थ को क्या जानेगे? उनका कथन ऐसा ही है, जैसे कोई पुरुष लिखे हुए अक्षरों को देखकर कहे कि ये अक्षर तो किसी विद्वान् और समर्थ लेखक के बिना स्वय ही लिख गये है, अथवा अनादिकाल से इनकी मूर्त्ति इसी प्रकार चली

आयी है। सो जिनके बुद्धिरूप नेत्र मूँदे हुए है, उन भाग्यहीनों की ही ऐसी दृष्टि हो सकती है। इस विषय में शरीरविज्ञानियों और ज्यौतिषियों की भूल का वर्णन तो पहले कर ही चुके है।

दूसरे—ये लोग ऐसे मूर्ख है कि परलोक को ही नही मानते, और कहते है कि मनुष्य भी घास और खेती की तरह ही है। जब यह जीव मरता है तो मूल ही से नष्ट हो जाता है, इसलिये पाप, पुण्य, सुख, दुःख और ताड़ना आदि सब व्यर्थ ही है। इनकी मूर्खता तो देखो कि अपने को भी घास अथवा गधे और बैलों की तरह समझते है तथा आत्मा जो चैतन्य और अविनाशी है, उसे नहीं पहचानते। मृत्यु तो केवल शरीर के नाश का ही नाम है, किन्तु ये इस बात को नहीं समझते।

तीसरे—ये लोग भगवान् और परलोक को मानते है, परन्तु इनका विश्वास ऐसा शिथिल होता है कि इन्हे सन्तजनों के वाक्यो में विश्वास नही होता। ये कहते है—"भला भगवान को हमारे भजन की क्या आवश्यकता है और हमारे पापाचरण से भी उन्हें क्यों दुःख होता है, क्योंकि भगवान् तो ऐसे समदर्शी है कि उनके लिये तो भजन और पाप में कोई अन्तर है नही। फिर भला, वे हमारे भजन की भी क्या अपेक्षा रखते है?" ये मूर्ख भगवान् के इस कथन पर कोई ध्यान नहीं देते कि जिज्ञासुजन जो पुरुषार्थ और शुभकर्म करते है, वह उनके मन की पवित्रता के लिये ही होता है। ये भाग्यहीन पुरुष तो यही समझते है कि भजन और शुभकर्म भगवान् के लिये किये जाते है, अपने कल्याण के लिये नहीं। इनकी यह समझ ऐसी ही है जैसे कोई रोगी कुपथ्य का त्याग न करे और कहे कि इससे वैद्य की क्या हानि है? ठीक है, इससे वैद्य की तो कोई हानि नहीं है, किन्तु रोगी का तो नाश हो ही जाता है। रोगी का नाश वैद्य की अप्रसन्नता से नहीं, अपितु कुपथ्य ही से होता है। वैद्य तो उसे आरोग्यलाभ का

मार्ग दिखानेवाला ही है। इसी प्रकार मलिन स्वभाव बुद्धि के नाश का कारण है और भगवान् के भजन तथा उनकी पहचान से बुद्धि नीरोग होती है।

चौथे—इन मूर्खों का कहना है कि सन्तो ने जो हृदय को भोग और क्रोधादि से शुद्ध करने को कहा है, यह असम्भव है, क्योंकि ये स्वभाव तो मनुष्य को सृष्टि के आरम्भ से ही मिले हुए है। उनकी निवृत्ति के लिये प्रयत्न करना तो ऐसा ही है जैसे कोई काले कम्बल को सफेद करना चाहे। ये लोग नही जानते कि सन्तों ने तो क्रोध और भोग को अपने अधीन करने को ही कहा है जिससे कि मनुष्य सन्तों की आज्ञा और मर्यादा का उल्लघन न करे। इसके सिवा उन्होंने जो राजसी-तामसी कर्मो का त्याग करने को कहा है, यह बात तो हो ही सकती है। ऐसी स्थिति तो अनेकों पुरुषों ने प्राप्त की है। महापुरुष ने कहा है कि अन्य पुरुषों की तरह मैं भी क्रोध करता हूँ, परन्तु मेरा हृदय सन्तप्त नहीं होता। प्रभु ने भी ऐसे लोगो की प्रशंसा की है, जिन्होंने क्रोध पर विजय प्राप्त की हो और विजय प्राप्त करने का अर्थ तो यही है कि क्रोध तो हो, किन्तु वह हृदय को सन्तप्त न करे। यदि सर्वथा क्रोध न हो तो उसे क्रोध पर विजय प्राप्त करना भी कैसे कहेगे?

पाँचवे—ये लोग कहते है कि भगवान् तो परम कृपालु और दयालु है। वे हमारे अवगुणों की ओर नहीं देखेगे। पर यह नही जानते कि यद्यपि वे परम दयालु है, तथापि पापियों को दण्ड देने वाले भी है। इस ससार में जो नाना प्रकार के रोग, कष्ट और निर्धनता आदि दुःख है, उन पर इनकी दृष्टि ही नहीं जाती। भगवान् तो निश्चय ही अत्यन्त कृपालु और दयालु हैं। किन्तु जब तुम अपनी आजीविका के लिये प्रयत्न करते हो तब तुम्हारी यह दृष्टि कहाँ रहती है? यदि उनकी दयालुता में विश्वास हो तो

व्यवहार और आजीविका के लिये उद्योग करने की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि प्रभु तो विश्वम्भर हैं। वह तो उद्योग किये बिना ही सबका पालन करने वाले है। उन्होने स्पष्ट कहा है कि पृथ्वी और आकाश के भीतर रहनेवाले सम्पूर्ण जीवों का पालन करनेवाला एकमात्र मै ही हूँ। ऐसा कहकर मानो प्रभु ने स्पष्ट ही जीव को व्यावहारिक प्रवृत्ति में पड़ने से रोका है। किन्तु उन्होंने कहीं भी भजन या पुरुषार्थ करने के लिये मना करके उसे परलोक सुधारने का प्रयत्न करने से नहीं रोका ये लोग भगवान् को परम कृपालु समझकर भी यदि माया की तृष्णा नहीं त्याग सकते, तो व्यर्थ ही अपने मुख से परलोक की बाते बनाते है, और कहते है कि भगवान् हमें क्षमा कर देंगे। वास्तव में ये अपने मन के सिखाये हुए है और वासनाओं के दास है। भगवान् की कृपा पर इन्हें कुछ भी विश्वास नहीं है।

छठे—ये लोग व्यर्थ अभिमानी होते है। ये कहते हैं कि हमें वह अवस्था प्राप्त हुई है कि पाप हमें स्पर्श ही नहीं कर सकते। हमारा धर्म तो ऐसा पक्का है कि उसे किसी प्रकार का मल कभी स्पर्श ही नहीं कर सकता।

अधिकतर तो इन लोगों की ऐसी स्थिति होती है कि यदि इनके एक वचन का भी खण्डन कर दिया जाय तो जन्मभर के लिये विरोधी बन जाते है, अथवा भोजन के लिये एक ग्रास माँगे, और वह न मिले तो इनका हृदय क्रोधान्धकार से भर जाता है। वस्तुतः तो परमपुरुषार्थ में इनकी ऐसी दृढ़ता होती नहीं कि पाप इन के पास न फटक सके, फिर इनका इस प्रकार अभिमान करना कैसे संगत हो सकता है ? यदि किसी ने दम्भ और क्रोध के द्वारा ऊपर से वैर-भाव और भोगविलास को दबा भी दिया, और इतने में ही समझने लगा कि मैने परमपद प्राप्त कर लिया है, तो वह अभिमानी ही कहा जायगा, क्योंकि सन्तों की अवस्था तो ऐसी

हुई है कि जब कभी उनसे कोई त्रुटि हो गयी है, तो वे भगवान् के भय से रोने लगे है और प्रभु से प्रार्थना करके उसके लिये क्षमा माँगते हैं। जो सच्चे सत्पुरुष हुए है, वे तो थोड़े से पाप से भी डरते थे, और मलिनता का सन्देह होने पर शुद्ध अन्न भी त्याग देते थे। फिर इन मूर्खों ने कैसे समझ लिया कि हम मान और भोगों के बन्धन से मुक्त हो गये है। इन बुद्धिहीनों की अवस्था उन सन्तों से तो बढ़कर हुई नहीं है। यदि कहो कि सन्त-जन भी कर्मो से निर्लिप्त ही थे, उन्होंने जीवों के कल्याण के लिये ही अशुभ कर्म त्यागे थे, तो भी उनकी ही तरह ये लोग लोक-कल्याण के लिये अशुभ कर्मो का त्याग क्यों नहीं करते? इन्हें भी तो यह समझना चाहिये कि यदि कोई हमारे अशुभ कर्मो को देखेगा तो वह भी धर्म-मार्ग से भ्रष्ट हो जायगा और उसकी बुद्धि नष्ट हो जायगी। यदि कहो उनकी बुद्धि नष्ट होने से हमारी क्या हानि है, तो इस प्रकार तो लोगों का अहित होने से उन महापुरुषों को भी कोई हानि नहीं होती थी। महापुरुषो के लिये भी व्यवहार की शुद्धि परम आवश्यक है। कहते है, महापुरुष के पास सकाम भाव से एक छुहारा आया। उन्होंने उसे मुँह में डाल लिया, किन्तु जब मालूम हुआ तो उसे तुरन्त थूक दिया। भला, वे उसे खा ही लेते तो भी उन्हें क्या पाप लग सकता था, और क्या उससे दूसरे लोगों की हानि होती? किन्तु जब उन्होंने उस छुहारे को खाने में भी हानि देखी तो इन मूर्खों को क्या मॉस-मदिरा के सेवन से भी हानि नहीं होगी। विचार करे तो उनकी अपेक्षा इन मूर्खों की स्थिति बढ़ी-चढ़ी तो नहीं है, और न छुहारा खाने के पाप से मांस-मदिरा सेवन का पाप ही कम है। यह कैसे जाना जाय कि उन्हें तो छुहारा खाने से भी पाप लगता था, और इन्हें मांस-मदिरा से भी कोई दोष नहीं होता। इससे निश्चय होता है कि इनकी ऐसी करतूते देखकर माया हँसती है। इन मूर्खों को उसने अपना

हास्यास्पद और खिलौना ही बना रक्खा है। बुद्धिमान् लोग जब इनके दम्भों को देखते है तो चकित रह जाते है। धर्मात्मा पुरुष तो वे ही हैं, जो इस मन को छलरूप जानते है। जिस पुरुष ने मन और वासनाओं को अपने अधीन नही किया, वह तो महा नोच है, कोरा पशु ही है। जिसे अपने मन की चालों का पता ही नहीं लगता, उसका अभिमान करना तो व्यर्थ ही है। उसका यह कहना कि मैंने मन को अपने अधीन कर लिया है, कोरी मूर्खता ही है। उसमें मन को जीतने का कोई लक्षण ही नहीं पाया जाता। मन को जीतने का लक्षण तो यह है कि जीव का कर्म उसकी वासनाओं के द्वारा प्रेरित न हो, अपितु वह सन्तों की आज्ञाओं का अनुसरण करे और सर्वदा अपने को उन्हीं की आज्ञा के अधीन रखे, तभी वह सच्चा कहा जा सकता है। जो पुरुष अपने सयानपन और चतुराई से निर्दोष बनना चाहता है वह तो मन का दास और झूठा अभिमान करने वाला है, अपने मन का निरीक्षण कभी नहीं छोड़ना चाहिये। जब मनुष्य मन की ओर से निःशङ्क हो जाता है तो अवश्य छला जाता है, और फिर इसे अपने सर्वनाश का भी पता नहीं चलता। इसके सिवा सन्तों के आदेशानुसार आचरण करना तो जिज्ञासुओं का प्रथम कर्त्तव्य है। इसके बिना तो धर्म की ही दृढ़ता नहीं होती, फिर परमपद पाने की तो सम्भावना ही कहाँ है? वह तो परे से परे है, अतः उसका अभिमान करना ही व्यर्थ है।

सातवे—ये लोग अपनी वासनाओं की प्रबलता से ऊँचे हो जाते है। इन्हें अनजान नहीं कह सकते, क्योंकि ये अपने को निर्लेप नही समझते। जब मनमाना आचरण करने वाले लोगों को कुमार्ग में चलते और तरह-तरह के भोग भोगते देखते हैं, तथा साथ ही यह भी देखते है कि वे बड़ी गम्भीर और सूक्ष्म बातें कह कर अपने को संतरूप से प्रकट करते है और वेश-भूषा भी

संतों का सा ही रखते हैं, तो इनमें भी वैसे ही भोगलम्पटता आ जाती है। ये भोगों की दुःखरूपता को न जानकर कहते है, "भोग निन्दनीय नहीं है, और न इनमें दुःख ही है।" इनकी दुःखरूपता तो केवल कथनमात्र ही है। ये लोग पाखण्डियों के संग और मन की वासनाओं के कारण अत्यन्त अचेत और अन्धे से हो जाते है, तथा माया का इन पर पूरा अधिकार रहता है। ये केवल बातों से या कहने-सुनने से सीधे नही होते, क्योंकि इनकी यह भूल अज्ञानवश नही है, ये तो जान-बूझकर बावले हुए हैं, अतः इन के सुधार का उपाय तो केवल राजदण्ड ही है।

इस प्रकार जो सात प्रकार के मूर्ख है, उनकी अवस्थाओं का इतना ही वर्णन पर्याप्त है। यहाँ इनका वर्णन इस उद्देश्य से किया है कि ऐसी अवस्थाएँ या तो अपने मन के कारण होती हैं या सन्तों ने जो भगवत्प्राप्ति का मार्ग बताया है, उससे अचेत रहने से। किन्तु किसी भी प्रकार हो, जब हृदय में मूर्खता का स्वभाव दृढ़ हो जाता है तो उसे दूर करना बहुत कठिन होता है। कोई ऐसे मूर्ख भी होते है कि अज्ञान और संशय में पड़ कर मन-माने मार्ग से चलते रहते है और उसी में अपना गौरव भी समझते हैं, किन्तु जब उनसे कोई प्रश्न किया जाता है तो हक्के-बक्के से रह जाते है और कोई उत्तर नहीं दे सकते। साथ ही स्वयं किसी से कुछ पूछते भी नहीं, क्योंकि उनके हृदय में भगवन्मार्ग के प्रति न तो प्रीति ही होती है, और न किसी वचन में शङ्का ही। वास्तव में शङ्का भी उसी को होती है, जिसके हृदय में किसी प्रकार की खोज होती है। ऐसे मनुष्यों का उपचार करना बहुत कठिन होता है। ये तो ऐसे रोगी के समान है, जो वैद्य के पास जाकर बेधड़क अपनी कुटेवों का वर्णन करता है। ऐसे रोगी की चिकित्सा होनी कठिन ही है। ऐसे मूर्खो को यही उपदेश करना चाहिये कि जिस विषय को तुम नहीं समझते उसकी ओर

से अपने को अनजान ही प्रकट करो। बस, इतना विश्वास रक्खो कि तुम भी भगवान् के ही उत्पन्न किये हुए हो और वे सर्वसमर्थ है, जो चाहें वही कर सकते हैं—इस बात में भी कभी सन्देह नहीं करना चाहिये। इस प्रकार जब उनमें कुछ श्रद्धा दिखायी दे तब सन्तों के वचन और युक्तियों द्वारा समझाओ जैसा कि मैंने इस ग्रन्थ में किया है।

---

(३)

तृतीय उल्लास

(माया की पहचान)

पहली किरण

संसार का स्वरूप, जीव के कार्य और उसका मुख्य प्रयोजन

याद रखो, यह संसार भी धर्ममार्ग का एक पड़ाव ही है। जो जिज्ञासु भगवान् की ओर चलते है, उनके लिये यह मार्ग में आया हुआ ऐसा स्थान है, जैसे किसी विशाल वन के किनारे कोई नगर या बाजार हो। जिस प्रकार मार्ग में चलने वाले परदेशी बाजार से तोशा एकत्रित कर लेते हैं, उसी प्रकार संसार भी परलोक के लिये तोशा इकट्ठा करने की जगह है। यहाँ शरीर का नाश होने से पहले जो ससार दीखता है, उसका नाम लोक है, और शरीर की मृत्यु हो जाने पर जीव की जो स्थिति होती है, उसे परलोक कहते हैं। इस लोक में जीव का सबसे प्रधान प्रयोजन यही है कि वह परलोक के लिये तोशा तैयार करे। यद्यपि आरम्भ में इस मनुष्य की अवस्था बहुत सामान्य और निम्नकोटि की होती है, पर तो भी इसे भगवान् ने पूर्णपद का अधिकारी बनाया है। यदि यह देवताओं के निर्मल स्वभाव को हृदयस्थ करे तो भगवान् के दरबार का अधिकारी हो सकता है। इसी प्रकार जब इसे प्रभु के मार्ग की समझ प्राप्त हो, तो यह निःसन्देह उनके दर्शन कर सकेगा। यही जीव की सबसे बड़ी भलाई है, यही इसका वैकुण्ठ है, और भगवान् ने भी इसी कार्य के लिये जीव को उत्पन्न किया है।

परन्तु जब तक इसके हृदय की आँख न खुले, और यह उनके सूक्ष्म स्वरूप की ठीक-ठीक समझ एवं पहचान प्राप्त न करे, तब तक इसे प्रभु का दर्शन नहीं हो सकता। प्रभु को पहचानने की कुञ्जी यही है कि उनकी आश्चर्यमयी कारीगरी को पहचाने। इस कारीगरी को पहचानने की कुञ्जी इन्द्रियाँ हैं, और इन्द्रियाँ रहती है शरीर मे, तथा यह शरीर चार तत्त्वों के सम्बन्ध से बना हुआ है। इस स्थूल तत्त्वों के जगत् में जीव का आगमन इसी उद्देश्य से हुआ है कि यहाँ यह परलोक का तोशा संग्रह करे। यहाँ पहले मन की पहचान करे और उसी से फिर भगवान् को भी पहचाने। संसार के जितने पदार्थ हैं, उनकी पहचान होती है इन्द्रियों से। जब तक इन्द्रियाँ इसे सांसारिक पदार्थों की सूचना देती रहती हैं, तब तक यह पुरुष जीवित कहा जाता है, और जब इन्द्रियाँ इसका साथ छोड़ देती है, तो यह अपने स्वभाव में स्थित हो जाता है। इसी को परलोक कहते हैं। सो इस जगत् में तो इस जीव का आगमन इसी निमित्त से हुआ है कि यह अपना कार्य सिद्ध कर ले।

इस संसार मे जीव को दो कार्य अवश्य करने हैं। पहला तो यह कि अपने हृदय को अशुभ स्वभावो से बचावे, क्योंकि उनसे बुद्धि नष्ट हो जाती है, और हृदय का आहार प्राप्त करे। तथा दूसरा यह कि शरीर को नष्ट होने से बचावे और इसे भी इसका आहार दे। इनमें हृदय का आहार है भगवान् की पहचान और प्रीति, क्योंकि सबका आहार अपने स्वभाव के अनुसार होता है, और वही उसे अत्यन्त प्रिय भी होता है। इस विषय में पहले भी कुछ वर्णन किया जा चुका है कि जीव का स्वभाव भगवान् की पहचान ही है, किन्तु जब यह जीव भगवान् से भिन्न किसी अन्य वस्तु के साथ प्रीति करता है, तब उसी से इसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है, तथा हृदय की रक्षा के लिये शारीरिक रक्षा और

सुविधा भी अपेक्षित है ही। इनमें चैतन्यस्वरूप हृदय अविनाशी है और शरीर नाशवान् है। इन दोनों का सम्बन्ध ऐसा है, जैसे तीर्थयात्रा में यात्री और ऊँट का सम्बन्ध होता है। वहाँ ऊँट ही यात्री के लिये होता है, ऊँट के लिये यात्री नहीं होता। यद्यपि यात्री घास-पानी देकर ऊँट की रक्षा अवश्य करता है, तथापि उसका प्रयोजन तीर्थयात्रा ही है, ऊँट नहीं। इसी से तीर्थयात्रा समाप्त हो जाने पर फिर उसे ऊँट की अपेक्षा नहीं रहती। उसे उचित है कि मार्ग में भी आवश्यकतानुसार ही ऊँट की खबर ले। यदि सारा दिन उसी की टहल और सम्भाल में लगा देगा, तो अपने साथी यात्रियों से दूर पड़ जायगा, और अपने लक्ष्य तीर्थ-स्थान पर नहीं पहुँच सकेगा। इसी प्रकार यदि मनुष्य सारी आयु आहार के ही उपार्जन में लगा दे और निरन्तर शरीर की रक्षा में ही लगा रहे, तो कभी अपना कल्याण नहीं कर सकेगा, और अपने वास्तविक लक्ष्य श्रीभगवान् को भी प्राप्त नहीं कर सकेगा।

इस संसार में शरीर की रक्षा के लिए तीन पदार्थों की आवश्यकता होती है—आहार, वस्त्र और निवासस्थान। प्राणों की रक्षा के लिये जीव को इन तीन पदार्थों के सिवा और किसी भी वस्तु की अपेक्षा नहीं है। और ये ही तीनों सम्पूर्ण मायिक पदार्थों के भी मूल है। हृदय के आहार में इनसे एक प्रधान विलक्षणता है। वह यह कि हृदय का आहार है भगवान् की पहचान, और वह जितनी अधिक हो, उतना ही आनन्द भी अधिक होता है। जब कि शरीर का आहार जो अन्न है, उसे आवश्यकता से अधिक खा लिया जाय तो शरीर के नाश का ही कारण होता है। भगवान् ने तो जीव में भोगों की अभिलाषा केवल इसी उद्देश्य से रची है कि वह आहार, वस्त्र और स्थान के यथोचित उपयोग द्वारा शरीररूप घोड़े की रक्षा करे। किन्तु यह

अभिलाषा इतनी प्रबल हो जाती है कि मर्यादा में नहीं ठहरती, सर्वदा अधिकाधिक ही चाहती रहती है। इसी से उसे मर्यादा में रखने के लिये भगवान् ने बुद्धि की रचना की है और इसी निमित्त से धर्मशास्त्रों में सन्तों के मुखारविन्द से निकले हुए वचन संगृहीत किये गये है, जिससे लोगों को विचार की मर्यादा का परिज्ञान हो जाय।

जीव में भोगो की अभिलाषा बाल्यकाल से ही प्रबल रहती है, क्योंकि शरीर का पालन तो खान-पान आदि भोगो के ही द्वारा होता है। बुद्धि का प्रवेश पीछे होता है। अतः भोगो ने पहले ही से हृदय-स्थान को घेर लिया है, और इसी से जीव बुद्धि की आज्ञा पर ध्यान नहीं देते। शास्त्रों में जो विचार की मर्यादा है, वह तो और भी पीछे प्रकट हुई है, इसलिये उसका भी उल्लघन कर देते है। इस प्रकार मनुष्य का हृदय प्रधानतया आहार, वस्त्र और स्थान में ही आसक्त रहता है, और इस भोगाभिलाषा के जाल में फँस कर वह अपने आपको भूला रहता है। यहाँ तक कि उसे इस बात का भी ज्ञान नहीं रहता कि वास्तव में इन आहारादि का प्रयोजन क्या है और इस जगत् मे मैं किस निमित्त से आया हूँ? इस अज्ञान के कारण ही वह हृदय के आहार की ओर से अचेत रहता है और परलोक के लिये तोशा बनाने की बात भी भूल जाता है। किन्तु जब इस कथन से तुम्हारी समझ मे माया का स्वरूप, उसके विघ्न और उसका वास्तविक प्रयोजन अच्छी तरह आ गये, तो इससे आगे जो माया का विस्तार और उसकी शाखाएँ बतायी जायँगी, उन्हें भी तुम्हें पहचानना चाहिये।

दूसरी किरण

माया का विस्तार

यदि विचार करके देखे तो तीन ही पदार्थों का नाम संसार है—१. वनस्पति, २. खनिज पदार्थ और ३. जीव। इनके अतिरिक्त जो भूमि है, वह सम्पूर्ण पदार्थों की स्थिति और खनिज-पदार्थों की उत्पत्ति के लिये बनायी गयी है। ताँबा, लोहा आदि खनिज पदार्थ पात्रादि बनाने के लिये है और जीवों की उत्पत्ति अपने-अपने भोगादि के निमित्त से हुई है, परन्तु मनुष्य ने अपने हृदय और शरीर को इन बाह्य पदार्थों में ही बाँध दिया है। हृदय का बन्धन स्थूल पदार्थों की प्रीति है और शरीर का बन्धन सांसारिक कार्य है। परन्तु मायिक पदार्थों की प्रीति से हृदय में ऐसे बुरे भाव पैदा हो जाते हैं, जो बुद्धि के नाश के ही कारण होते है; जैसे—तृष्णा, कृपणता, ईर्ष्या और वैर आदि। ये सभी बहुत बुरे स्वभाव है और निःसन्देह बुद्धि को नष्ट करनेवाले है। इसी प्रकार शरीर के बन्धनरूप जो माया के कार्य है, उनमें भी हृदय की ऐसी आसक्ति हो जाती है कि जीव अपने आपको और परलोक को भी भूल जाता है। अन्न, वस्त्र और स्थान की आवश्यकता तो प्रत्येक जीव को होती है, और ये ही तीन मायिक पदार्थों के मूल हैं। खेती करना, वस्त्र बनाना और गृह-निर्माण करना आदि जितने कार्य है, वे सब इन्हीं की शाखायें हैं। फिर इनकी भी अनेकों उपशाखाएँ है; जैसे—धुनियाँ, सूत कातनेवाला, कोरी,

धोबी और दर्जी ये सभी मिलकर वस्त्र बनाने का काम सिद्ध करते है, तथा इन सब को भी अपने-अपने उपकरणों के लिये लोहार और बढ़ई की अपेक्षा होती है। इस प्रकार सब व्यवसायियों को आपस में एक-दूसरे की सहायता की अपेक्षा होती है। अपना सारा काम स्वयं ही कोई नहीं कर सकता। उसी से सबका पारस्परिक व्यवहार चलता है।

किन्तु इस लेन-देन में ही कभी परस्पर विरोध हो जाता है, क्योंकि सभी लोग नीति में नहीं बर्तते, बल्कि तृष्णा के कारण एक दूसरे को हानि पहुँचाना चाहते हैं, इसलिये तीन व्यक्तियों की आवश्यकता और हो जाती है-(१) धर्मशास्त्र को जाननेवाला, जो धर्म की मर्यादा प्रकट करे, (२) विचारवान् व्यक्ति, जो झगड़ा करनेवालों को समझा सके, और (३) राजा, जो अनाचारी को दण्ड दे सके। इस प्रकार इन सभी व्यवहारों का परस्पर सम्बन्ध है और एक दूसरे की अपेक्षा से हो इनका विस्तार हुआ है। वास्तव में संसरण अर्थात् फैलने का नाम ही संसार है, किन्तु लोगो ने तो इन्हीं कार्यो में अपने को भुला दिया है। इस बात पर ध्यान नहीं दिया कि आहार, वस्त्र और स्थान, इनका प्रयोजन केवल प्राणों की रक्षा के लिये ही है और ये ही सम्पूर्ण मायिक पदार्थों के मूल हैं। इनके द्वारा शरीररक्षा अवश्य होती है, किन्तु उसकी आवश्यकता जीव के लिये है, क्योंकि यह शरीर जीव के घोड़े के समान है और जीव की उत्पत्ति हुई है भगवान् की पहचान के लिये।

परन्तु इन जीवों ने माया के कार्यो में फँसकर अपने आपको और भगवान् को भुला दिया है; जैसे कोई यात्री तीर्थ के मार्ग और अपने साथियों को तो भुला दे और अपने समय को घोड़े की सँभाल और सेवा में ही नष्ट करता रहे। ऐसा यात्री कभी अपने लक्ष्य पर नहीं पहुँच सकता। इसी प्रकार जो यात्री

परलोक पर अपनी दृष्टि नहीं रखता, और अपने को परदेशी नहीं समझता तथा माया के जञ्जालों में आवश्यकता से अधिक फँसा रहता है, वह निश्चय ही माया के भेदों से अनभिज्ञ है और न उसे कभी माया की पहचान ही हो सकती है। यह माया तो अत्यन्त छलरूपा है। एक महापुरुष ने कहा है कि यह माया जीवों को मन्त्र-यन्त्र की तरह मोहनेवाली है। अतः इसके छलों से डरते रहना चाहिये। क्योंकि इसके छलों को पहचानाना अत्यन्त आवश्यक है, इसलिये अब मैं उन्हीं का वर्णन करता हूँ।

माया के छल

माया के छलों में सबसे पहली बात यह है कि यद्यपि तुम्हें यह स्थिर जान पड़ती है, तुम समझते हो कि यह सर्वदा मेरे पास रहेगी, परन्तु यह अत्यन्त चञ्चला है और निरन्तर तुमसे दूर होती रहती है। यह क्षण-क्षण में परिणत होती रहती है, किन्तु इसका परिणाम इतना सूक्ष्म है कि उसका पता नहीं लगता, जैसे वृक्ष की छाया यद्यपि स्थिर जान पड़ती है, किन्तु ध्यान देकर देखा जाय तो सूर्य की गति के साथ वह भी निरन्तर बदलती रहती है, एक क्षण भी स्थिर नहीं रहती। इसी प्रकार तुम्हारी आयु भी प्रत्येक पल में घट रही है, यद्यपि तुम्हें वह स्थिर जान पड़ती है। अतः तुम्हारी देह और आयु दोनों ही मायारूप है, ये तुम्हें निरन्तर छल रही है। इनका बराबर वियोग हो रहा है, किन्तु तुम उस वियोग से अचेत हो।

इसका दूसरा छल यह हैं कि यह तुम्हारे साथ अपनी अत्यन्त प्रीति दिखलाती है और इस प्रकार तुम्हें अपने में उलझा लेती है। तुम्हारे हृदय में माया के प्रति ऐसी प्रीति और प्रतीति हो जाती है कि यह हमारी अत्यन्त प्रीतिपात्री है और यह अब हमें छोड़कर और कहीं नहीं जायगी। किन्तु यह अचानक ही तुम्हें छोड़कर तुम्हारे शत्रु के पास चली जाती है। यह एक व्यभिचारिणी स्त्री के समान है जो अनेकों युक्तियों से पर-पुरुषों को

अपने में फँसा लेती है। उन्हें अधिक प्रीति दिखाकर अपने घर ले आती है और फिर निष्ठुरतापूर्वक उन्हें धोखा दे जाती है। कहते है, एक बार महात्मा ईसा ने स्वप्न में माया को एक स्त्री के रूप में देखा था। तब उससे पूछा कि तूने कितने पति बनाये है? वह बोली, "मेरे अगणित पति है।" उन्होने पूछा, "तो क्या वे मर गये अथवा उन्होंने तुझे त्याग दिया?" माया बोली, "मैंने ही उन सब को मारा है।" ईसा ने कहा, "मुझे लोगों की मूर्खता पर बड़ा आश्चर्य होता है। वे तेरे साथ प्रेम करने वालों का नाश और दुःखी होना भी देखते हैं और फिर भी तुझ ही मे आसक्त हो जाते हैं, तुझसे डरते नही।"

माया का तीसरा छल यह है कि यह अपने को बाहर से अत्यन्त सुन्दर बनाकर दिखाती है और इसके भीतर जो दुःख और विघ्न हैं उन्हें छिपा लेती है। इसी से मूर्खलोग देखते ही इसमें आसक्त हो जाते है और जब उनके आगे इसका भेद खुलता है, तो वे अत्यन्त दुःखी होते है। जैसे कोई अत्यन्त कुरूपा स्त्री हो वह अपने को नाना प्रकार के सुन्दर वस्त्राभूषणो से सजा ले और मुख को घूँघट से ढ़क ले तो जो कोई उसे देखेगा वही मोहित हो जायगा, किन्तु जब उसका घूँघट उघाड़ेगा तो उसकी कुरूपता देखकर महान् पश्चात्ताप करेगा। इसी पर महापुरुष ने कहा है कि परलोक में भगवान् माया की सूरत एक अत्यन्त कुरूपा स्त्री के समान दिखायेंगे, जिसके नेत्र भयानक और दाँत मुख से बाहर निकले हुए होंगे। तब ये लोग प्रभु से प्रार्थना करेंगे कि प्रभो! यह विकट राक्षसी कौन है, इससे हमारी रक्षा करो। फिर आकाशवाणी होगी कि यह वही माया है जिसके लिए तुम परस्पर ईर्ष्या और विरोध करते थे, जीवों को कष्ट पहुँचाते थे, भाव और दया को तिलाञ्जलि दे बैठे थे, और जिसके कारण तुम्हें बड़ा अभिमान था। इसके पश्चात् जब भगवान् आज्ञा करेंगे कि इस माया को

नरक में डालो तो वह कहेगी कि मुझसे प्रेम करनेवाले कहाँ रहेंगे? इस पर पुनः आज्ञा होगी कि उन्हें भी नरक में डाल दो। इस प्रकार अन्त में वह माया अपने प्रेमियों के साथ नरक की ज्वाला में ही जलती रहेगी।

चौथी बात यह है कि यदि कोई माया के आदि और अन्त का विचार करे तो उसे निःसन्देह मालूम होगा कि यह माया न तो आदि में थी और न अन्त में ही रहेगी, केवल मध्य में ही इसकी कुछ स्थिति जान पड़ती है। जैसे कोई परदेशी पुरुष होता है तो वह मार्ग में थोड़ी देर के लिये ही कहीं विश्राम करता है, वैसे ही इस ससार का आरम्भ पालने में होता है और अन्त श्मशान में, बीच में कई मंजिलें है। सो, वर्ष तो मंजिलों के समान हैं, महीने योजन हैं, दिन कोस है और श्वास एक-एक पग की भाँति है। बस, इसी रास्ते से सब जीव मृत्यु के रास्ते में चले जाते है। इस यात्रा में अब किसी के कुछ कोस बाकी है और किसी के लिये इससे कम या अधिक। पर यह यात्री अपने को स्थिर ही समझता है! और ऐसा अनुभव करता है कि मानो मैं सर्वदा इस संसार में ही रहूँगा। अनेकों वर्षों की आशा रखकर लम्बे-चौड़े कार्यों को सोचता है, यह नहीं जानता कि मेरी आयु दो-चार दिन ही शेष है, अथवा अब समाप्त हो चुकी है।

पाँचवी बात यह है कि विषयी लोग मायिक विषयों को भोगते हुए तो बहुत प्रसन्न होते हैं किन्तु यह नहीं जानते कि इसके बदले परलोक में उन्हें ऐसे दुःख और निर्लज्जता का सामना करना पड़ेगा कि जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। यह ऐसी ही बात है, जैसे कोई पुरुष मीठे और चिकने पदार्थ को पहले तो जिह्वा की लोलुपतावश डटकर खा जाय और फिर उसके पेट में पीड़ा हो तथा उसे विशूचिका और अतिसार का दुःख भोगना पड़े। उस समय पश्चात्ताप और लज्जा के सिवा और क्या हाथ लगेगा?

पहले सुख का समय तो थोड़ा ही था, वह तो बीत चुका अब तो केवल कष्ट ही शेष रह गया है, वह यत्न करने से भी दूर नहीं होता। भोजन तो जितना अधिक स्वादिष्ट होगा, परिणाम में उस में उतनी ही अधिक दुर्गन्ध होगी। इसी प्रकार इस संसार में जीव जितना ही मायिक भोगों को अधिक भोगता है उतना ही उसे परलोक में अधिक दुःखी और लज्जित होना पड़ता है। यह दुःख शरीर का नाश होने के समय प्रत्यक्ष उसके सामने आ जाता है; क्योंकि जिस पुरुष के पास भोगसामग्री, बगीचे, सोना, चाँदी और दास-दासियों की जितनी ही अधिकता होगी उतना ही उसे मरने के समय उनके वियोग का अधिक दुःख होगा। और जिसके पास ये मायिक सामग्री थोड़ी होती है उसे दुःख भी कम होता है। अतः भोगों के विषय का दुःख मरने पर भी नहीं छूटता, बल्कि और भी अधिक बढ़ जाता है, क्योंकि मायिक पदार्थों के प्रति जो राग है वह मनुष्य के हृदय में रहता है और शरीर छूटने पर मनुष्य का हृदय अपने आप में स्थित हो जाता है, अतः उन मायिक विषयों के आकर्षण के कारण उस समय उसे बहुत अधिक दुःख होता है।

माया का छठा छल यह है कि जब यह मनुष्य माया का कोई काम आरम्भ करता है तो इसे वह सामान्य-सा दिखायी देता है और यह सोचता है कि मैं इसमें अनासक्त रह कर ही इसे बहुत शीघ्र समाप्त कर लूँगा। किन्तु पीछे उसकी आशा और तृष्णा बढ जाती है तथा उसी कार्य से और भी हजारों मनोरथ उत्पन्न हो जाते हैं, जो कभी पूरे नही होते। इसी से महात्मा ईसा ने कहा है कि माया की तृष्णा के कारण मनुष्य अत्यन्त अतृप्त रहता है, जैसे कोई प्यासा पुरुष मृगतृष्णा के जल से अपनी प्यास बुझाना चाहे तो उत्तरोत्तर उसकी तृष्णा बढ़ेगी ही और वह उस जल के पीछे भटकते-भटकते नष्ट ही होगा। इसी प्रकार महापुरुष

ने भी कहा है कि जैसे जल में प्रवेश करने पर कोई पुरुष सूखा नहीं रह सकता उसी प्रकार माया के व्यवहारों में फँसकर निर्लिप्त रहना अत्यन्त कठिन है। ऐसा तो कोई विरला ही महापुरुष होता है जो माया के व्यवहार में पड़ कर उससे अनासक्त रहे।

माया का सातवाँ छल इस दृष्टान्त से प्रकट होता है, जैसे कोई सद्गृहस्थ किसी अतिथि-अभ्यागत के आने पर उसकी बड़ी सेवा-शुश्रूषा करता हो तथा उसे चाँदी के पात्रों में भोजन कराता हो, तो जो बुद्धिमान् अतिथि होगा वह तो उसका आशय समझकर उसकी सेवा को स्वीकार कर उसके पात्र उसे प्रसन्नतापूर्वक लौटा देगा और हृदय में उसका उपकार भी मानेगा; किन्तु जो मूर्ख होगा वह तो समझेगा कि भोजन के साथ वे पात्र भी उसने मुझे ही दिये है, अतः जब चलते समय उससे वे लौटाये जायँगे तो वह चित्त में अत्यन्त दुःखी और शोकाकुल होगा। इसी प्रकार संसार भी एक प्रकार की अतिथिशाला ही है। इसे भगवान् ने इसीलिये बनाया है कि परदेशी जीव यहाँ आकर अपना पाथेय सग्रह कर ले और यहाँ की किसी भी वस्तु में आसक्त न हो। सो बुद्धिमान् लोग तो यहाँ की वस्तुओं से अपना कार्यमात्र निर्वाह करके परलोक की तैयारी कर लेते है और किसी विषय में फँसते भी नहीं है, किन्तु जो मूर्ख होते है वे तो पदार्थो के लोभ और भोगों में ही फँसे रहते है और जब इन्हें छोड़कर चलना होता है तो अत्यन्त दुःखी होते है।

माया का आठवाँ छल यह है कि संसारी जीव इन मायिक व्यवहारों में ऐसे आसक्त हो जाते हैं कि उन्हें परलोक की बात बिलकुल भूल ही जाती है। इस विषय में एक दृष्टान्त दिया जाता है। एक बार कुछ लोग जहाज से यात्रा कर रहे थे। वह जहाज एक टापू पर पहुँचा, तब सभी लोग नित्य कर्म से निवृत्त होने के लिये उतर गये। उतरते समय जहाज के कप्तान ने सभी को पुकार कर

कहा कि सब लोग शीघ्र ही अपनी क्रिया से निवृत्त होकर आ जाना, क्योंकि हमें जल्दी ही आगे चलना है। अब, उन लोगों में जो बुद्धिमान् थे वे तो झट-पट अपने नित्यकर्म से निवृत्त होकर जहाज पर आ गये और अपनी रुचि के अनुसार अच्छे-अच्छे स्थानों पर बैठ गये। कुछ लोग उस टापू के फल और पक्षियों की शोभा देखने में लगे रहे और कुछ देरी से पहुँचे। उन्हें उपयुक्त स्थान न मिला और वे संकोच के साथ बैठ सके। कुछ केवल देखकर ही तृप्त न हुए, वहाँ से रंग-बिरंगे पत्थरों की पोटे भी बाँध लाये। जहाज में उस बोझे को रखने का स्थान नहीं था, इसलिये उन्हें उसे सिर पर रखे हुए ही बैठना पड़ा। किन्तु कुछ लोग उस टापू की शोभा देखने में ऐसे तन्मय हुए कि उन्होंने कप्तान की पुकार भी नहीं सुनी और बहुत दूर निकल जाने के कारण वे जहाज छूटने के समय तक पहुँच ही न सके। उस टापू में ही भूखे-प्यासे भटकते रहे और वहीं नष्ट हो गये। इनमें जो लोग आरम्भ में ही जहाज पर पहुँच गये थे वे विरक्त पुरुषों के समान है। जो टापू में ही रह गये, वे तामसी पुरुष थे, जिन्होंने परलोक और भगवान् दोनों ही को भुला दिया है और स्वयं इस संसार के भोगों में ही फँसे हुए है। जो लोग जहाज पर देरी से पहुँचे थे और जो पत्थर की पोटे बाँध कर लाये थे वे रजोगुणी पुरुष है। वे यद्यपि भगवान् और परलोक को मानते है, तथापि आसक्तिवश माया को त्याग नहीं सकते और अन्त मे सांसारिक वासनाओं का बोझा लिये हुए परलोक जाते है।

इस प्रकार माया के आठ प्रकार के छलों का वर्णन किया गया। बुद्धिमान् पुरुषों को सर्वदा इनसे बचते रहना चाहिये।

—❀—

चौथी किरण

संसार के अमायिक पदार्थों का वर्णन

यहाँ तक जो सांसारिक पदार्थों को माया के समान त्याज्यरूप से वर्णन किया गया है उससे यह नहीं समझना चाहिये कि ससार में सभी पदार्थ निन्दनीय है। यहाँ ऐसे भी कई पदार्थ हैं जो माया से रहित है, जैसे विद्या और शुभ कर्म। ये भी यद्यपि ससार में ही हैं, किन्तु इन्हें माया नहीं कह सकते, क्योंकि ये परलोक में जीव की सहायता करते है। परलोक में इस विद्या के अक्षर और वाक्य तो नहीं पहुँचते, किन्तु इसमें जो गुण है वे तो जीव के साथ रहते ही है। विद्या में दो प्रकार के गुण है–एक तो हृदयरूपी रत्न की पवित्रता एवं शुद्धता, जो पापों के त्याग से प्राप्त होती है और दूसरा रहस्य एवं आनन्द, जो भगवान् के भजन-द्वारा एकाग्रता होने से प्राप्त होता है। शुभ गुण तो सत्य-स्वरूप ही है तथा भगवान् की प्रार्थना और भजन का जो रहस्य है वह तो सभी से बढ़ कर है। यह रहस्य भी इस जगत् में ही है, किन्तु यह माया से रहित है।

इससे यह भी निश्चित हुआ कि सब रस भी निन्दनीय नहीं है। यद्यपि वे सभी परिणाम को प्राप्त होते है, तथापि इसीसे उन सब को निन्दनीय नहीं कह सकते। ऐसे रस दो प्रकार के है— एक तो वे जिनसे केवल शरीर का ही पोषण होता है; वे निन्द्य है, क्योंकि उन रसों से असावधानी, प्रमाद और जगत् के सत्यत्व

की ही पुष्टि होती है। दूसरा रस वह है जो आहार, वस्त्र और निवासस्थान के सदुपयोग से प्राप्त होता है। वह भी यद्यपि नाशवान् है, तथापि निन्द्य नहीं, क्योंकि ऐसा होने पर ही विद्योपार्जन और शुभकर्मों का अनुष्ठान हो सकता है। अतः यह भी परलोक का सहायक ही है।

अतः जो पुरुष संतोषपूर्वक शारीरिक सुविधाओं को स्वीकार करता है और उसका सङ्कल्प यही रहता है कि मैं निश्चिन्त होकर भगवान् का भजन करूँ, उसे माया से रहित ही समझना चाहिये। इसी पर महापुरुष ने कहा है कि जिन पदार्थों के द्वारा भगवान् की प्राप्ति हो वे निन्द्य नहीं है, अपितु ग्रहण करने योग्य है।

इस प्रकार यहाँ तक माया का जो कुछ वर्णन किया गया है इस ग्रन्थ में वही पर्याप्त है।

---

(४)

चतुर्थ उल्लास

(परलोक की पहचान)

पहली किरण

परलोक का सामान्य परिचय

मनुष्य जब तक मृत्यु को नहीं पहचानेगा, तब तक परलोक को नहीं पहचान सकता, और जब तक जीवन को न जानेगा, तब तक मृत्यु को नहीं जान सकता। जीवन की पहचान तो जीव के यथार्थ स्वरूप को जानना ही है, और यह जानकारी अपने आपको पहचानने से हो सकती है। इस विषय का पहले (प्रथम उल्लास में) भी वर्णन हो चुका है और संतों ने भी कहा है कि यह मनुष्य दो पदार्थों के सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ है (१) जीव और (२) शरीर। इनमें शरीर घोड़े के समान है, और जीव उसके सवार की तरह है। परलोक में इस जीव को जो सुख-दुःख भोगने पड़ते है, वे शरीर का सम्बन्ध रखते हुए भी होते हैं, और बिना शरीर के भी। इससे निश्चय होता है कि परलोक में जीव बिना शरीर भी रहता है। शरीर के साथ उसकी जो स्थिति होती है, उसे तो स्थूल स्वर्ग या स्थूल नरक कहते हैं, और ये ही सुगति या दुर्गति भी कही जाती हैं। तथा शरीर के बिना ही सुख या आनन्द भोगने की अवस्था को आत्मस्वर्ग और दुःख या कष्ट भोगने की अवस्था को मानसी नरक कहते है। इनमें स्थूल स्वर्ग और स्थूल नरक की बात तो सब लोग अच्छी तरह जानते है। उन्होंने सुना ही है कि स्वर्ग में कल्पवृक्ष, उत्तम भोग और अप्सरा आदि है, तथा नरक में सर्प, बिच्छू और अग्निकुण्ड आदि दुःखभोग की सामग्री है। इस प्रसग का तो इतना ही वर्णन पर्याप्त है। धर्मशास्त्रों में इसकी विस्तृत

विवेचना है ही। अब आगे मैं मृत्यु का तात्पर्य और सूक्ष्म स्वर्ग-नरक का वर्णन करूँगा, क्योंकि इस विषय को सब लोग नहीं जानते।

इस विषय को जानने का उत्तम मार्ग यह है कि मनुष्य के चित्त में एक खिड़की है, जो देव-लोक की ओर खुली हुई है। जो पुरुष इस अनुभवरूपी सूक्ष्म खिड़की के द्वारा देखता है, उसे पर-लोक की सुगति-दुर्गति का स्पष्ट भान हो जाता है। उसे इस विषय में फिर किसी प्रकार का सदेह नहीं रहता, क्योंकि संदेह तो केवल युक्तिवाद या वाक्यश्रवण करने पर ही रहता है, प्रत्यक्ष देख लेने पर सशय के लिये कोई स्थान नहीं रहता। जिस प्रकार वैद्य को शरीर के रोग और नीरोगता का स्पष्ट भान हो जाता है, और साथ ही वह यह भी जान लेता है कि यदि यह रोगी कुपथ्य करेगा तो नष्ट हो जायगा, तथा पथ्य-सेवनपूर्वक चिकित्सा करेगा तो रोग-मुक्त हो जायगा। इसी प्रकार संतजनों को जीवों की सुगति-दुर्गति स्पष्ट मालूम हो जाती है, और वे प्रत्यक्ष देखते है कि भगवद्भजन और भगवान् की पहचान ही जीव की उत्तम गति के कारण है, तथा मूर्खता और पापों के कारण यह जीव अधोगति प्राप्त करता है। यह विद्या ऐसी दुर्लभ है कि अनेकों विद्वान् भी इस भेद को नहीं समझते, और न वे इस पर आस्था ही रखते है। वे स्थूल नरक और स्वर्ग के सिवा और कुछ नहीं जानते, तथा परलोक को भी केवल श्रवणमात्र ही मानते है। मै शास्त्रों की युक्तियों और वचनों के द्वारा परलोक के विषय में कुछ वर्णन करूँगा। बहुत लोगों की तो परलोकविषयिनी जिज्ञासा अत्यन्त निर्बल एवं संशयापन्न होती है। इस विषय का ठीक-ठीक बोध तो उन्हीं को हो सकता है, जिनकी बुद्धि शुद्ध हो तथा हृदय मत-मतान्तर के वाद-विवाद से शून्य, देखा-देखी के विरुद्ध और सब प्रकार की कामनाओ से रहित हो।

दूसरी किरण

मृत्यु का रहस्य

अब तुम मृत्यु का रहस्य जानना चाहते हो तो सावधान होकर सुनो। इस मनुष्य में दो प्रकार की चेतनाएँ हैं—पहली प्राण-चेतना, जिसके द्वारा हृदयस्थान और प्राण-वायु से सम्बन्ध रहने के कारण शरीर और इन्द्रियाँ चेतन रहती है। यह प्राणचेतना पशुओं और मनुष्यों में समान है। दूसरी है बुद्धिजनित चेतना, जिस पर केवल मनुष्यों का ही अधिकार है। प्राणचेतना शरीर को सचेत रखती है, और प्राणों का स्फुरण हृदयस्थान से होता है। हृदयस्थान तत्त्वों के सूक्ष्म अंशों से बना हुआ है, और वे तत्त्वों के अंश हैं–वात, पित्त, कफ आदि। जब तक इन तत्त्वों की वृत्ति समान रहती है, तब सक हृदयस्थान सुख से रहता है, और हृदयस्थान से ही सिर से पैरों तक सारे शरीर में नाड़ी-जाल फैला हुआ है। उस नाड़ी-जाल के द्वारा ही प्राणवायु के सम्बन्ध से सम्पूर्ण इन्द्रियाँ चैतन्य रहती है। और शरीर भी सचेष्ट रहता है। प्राणवायु के द्वारा ही वह तत्त्वों की समान वृत्ति सिर में भी पहुँचती है और उसी से नेत्र एवं श्रवण आदि इन्द्रियों को अपने-अपने विषय ग्रहण करने की योग्यता प्राप्त होती हैं। जिस प्रकार दीपक के प्रकाश से सारा घर आलोकित हो जाता है, और उसमें रखे हुए सब पदार्थ दीखने लगते है, उसी प्रकार जब भगवान् की सत्ता पाकर प्राणवायु के द्वारा तत्त्वों का समान अश सब इन्द्रियों में पहुँच कर उन्हें शक्तिसम्पन्न करता है, तो वे अपने-अपने

कार्य में सचेष्ट हो जाती है। जब नाड़ी मार्ग में किसी प्रकार का व्यवधान आ जाने से प्राणवायु द्वारा वह तत्वों का समान अंश किसी अङ्ग में नहीं पहुँच पाता तो वह अङ्ग निश्चेष्ट या शून्य हो जाता है। आयुर्वेद का प्रयोजन उपचार द्वारा उस व्यवधान या ग्रन्थि को दूर करना ही है। ऐसा होने पर उस अङ्ग में फिर चैतन्य की स्फूर्ति हो जाती है, और वह अपनी क्रिया करने लगता है।

अतः यह हृदयस्थान शरीर में दीपक की तरह है। इसमें प्राणवायु बत्ती है और आहार तेल है। यह बात सब जानते ही हैं कि तेल न रहने पर बत्ती बुझ जाती है। इसी प्रकार आहार न मिलने पर प्राणवायु भी नहीं रहता। इसके सिवा बहुत पुरानी होने पर मैल भर जाने के कारण भी जब बत्ती तेल नहीं खीच सकती तो दीपक बुझ जाता है। इसी तरह वृद्धावस्था में नाड़ी-संस्थान कफादि से रुद्ध हो जाने के कारण जब आहार लेना कम हो जाता है तो हृदयस्थान-रूपी दीपक भी निवृत्त हो जाता है। ऐसे ही शस्त्रादि कोई विशेष विघ्न उपस्थित होने पर भी शरीर का नाश हो जाता है। शरीर और इन्द्रियों की क्रियाएँ प्राणवायु की समता होने पर ही सिद्ध होती है। जब वात, पित्त या कफ का कोप होने पर उस समता में त्रुटि आती है तो इन्द्रियों की क्रिया भी शून्य हो जाती है। जैसे दर्पण स्वच्छ रहता है तो उसमें प्रत्येक पदार्थ का प्रतिबिम्ब पड़ जाता है, किन्तु यदि वह मलिन हो जाय तो उसमें कुछ नहीं भासता। इसी प्रकार प्राणों की जो समान वृत्ति है उसका भी यही स्वभाव है कि उसमें कोई उलट-फेर होता है तो हृदयस्थान शून्य हो जाता है। फिर इन्द्रियों का व्यवहार भी नहीं हो पाता तथा शरीर प्राणवायु के प्रकाश से शून्य हो जाता है। ऐसे प्राण-प्रकाशशून्य शरीर को ही मृतक कहते है।

अतः मरने का अर्थ है प्राणवायु की समान वृत्ति का नाश

होना। इस समानता का नाश करनेवाला यम है। यह यमराज भी भगवान् का ही उत्पन्न किया हुआ है। पर लोग इसे केवल नाममात्र से ही जानते हैं, इसके स्वरूप का उन्हें कुछ पता नहीं है। इस विषय का विवेचन करने पर बहुत विस्तार हो जायगा। अतः तात्पर्य यह है कि प्राणवायु का शून्य होना ही मृत्यु है। यह प्राणवायु ही सूक्ष्म शरीर है, अर्थात् तत्त्वों के सूक्ष्म अंशों से बना हुआ है। चैतन्यस्वरूप जीव इस प्राणचेतना से पृथक् है। यह शरीर की तरह नहीं, अपितु अखण्ड है और भगवान् के परिचय का स्थान है। जैसे भगवान् अखण्डस्वरूप और एक हैं वैसे ही उनका पहचानना भी अखण्ड है और उन्हें पहचाननेवाला जीव भी अखण्ड है। ज्ञानस्वरूप भगवान् की पहचान इस खण्डाकार शरीर में नहीं हो सकती, उनका परिचय तो अखण्डाकार जीव में ही होता है।

अब इस रहस्य को तुम दीपक के दृष्टान्त से समझने का प्रयत्न करो। यह स्थूल शरीर एक दीपक के समान है, हृदयस्थान इसकी बत्ती है, प्राण दीपशिखा है और चैतन्य उसका प्रकाश है। तात्पर्य यह है कि जैसे दीपक की अपेक्षा प्रकाश सूक्ष्म होता है, ऐसे ही प्राणशक्ति की अपेक्षा चैतन्य सूक्ष्म है। इसका स्वरूप ऐसा है कि किसी भी वाक्यद्वारा उसका उल्लेख नहीं किया जा सकता। किन्तु यह दृष्टान्त चैतन्य की सूक्ष्मता को लक्ष्य में रखने पर ही चरितार्थ होता है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि जैसे प्रकाश दीपक के आश्रित है उसी प्रकार चैतन्य भी प्राण के आश्रित होगा। दीपक का नाश होने पर तो उसके प्रकाश का भी नाश हो जाता है, किन्तु प्राणवायु के शून्य होने पर चैतन्य का नाश नहीं होता। साथ ही यह भी समझना चाहिये कि जैसे दीपक की विशेषता प्रकाश के ही कारण है वैसे ही शरीर की विशेषता भी चैतन्य के ही कारण है। अतःदीपक के दृष्टान्त का भी यही प्रयोजन समझना

चाहिये कि दीपक की स्थिति प्रकाश के ही लिये है, इसलिये दीपक प्रकाश के आश्रित है। इसी प्रकार चैतन्य के निमित्त ही होने के कारण चैतन्य ही प्राणों का आश्रय है, और प्रकाश की ही तरह वह है भी अत्यन्त सूक्ष्म। ऐसा आश्रय लेने पर ही दीपक का दृष्टान्त चरितार्थ होगा।

इससे निश्चय हुआ कि प्राण घोड़े के समान है और चैतन्य उसका सवार है। अथवा यों समझो कि चैतन्यस्वरूप जीव के हाथ में प्राण एक शस्त्र के समान है। प्राण की जब समानवृत्ति नष्ट हो जाती है, तो स्थूल शरीर मृतक हो जाता है, और चैतन्य जीव अपने स्वरूप में स्थित रहता है जिस प्रकार घोड़ा नष्ट हो जाने पर सवार पैदल कहा जाता है उसी प्रकार शरीर नष्ट होने पर जीव भी पैदल रह जाता है। किन्तु जैसे घोड़े का नाश होने से सवार का नाश नही होता उसी प्रकार शरीर का नाश होने से जीव नष्ट नही होता। यह शरीररूपी घोड़ा और प्राणरूपी शस्त्र भगवान् ने इस जीव को इसीलिये दिये है कि इनके द्वारा यह भगवान् की पहचानरूप शिकार करे। जिस मनुष्य ने यह भगवत्परिचयरूप शिकार कर लिया है, उसे तो इस शरीररूप बन्धन से छूटना सुखदायक होता है, क्योंकि फिर वह इस भार को ढोने से छूट जाता है और उसे निरतिशय सुख का स्थान प्राप्त हो जाता है। इसी पर महापुरुष ने कहा है कि जब सत लोगों का शरीर छूटता है तो वे सर्वोत्तम सुख का स्थान प्राप्त करते है और इसे परम लाभ मानते है। किन्तु जिन्हें श्रीभगवान् की पहचान नहीं हुई, उनका शरीर छूटता है तो वे अत्यन्त दुःखी होते है, जैसे शिकार के आये बिना ही किसी का जाल खुल जाय तो फिर कार्यसिद्धि की कोई सम्भावना न रहने के कारण उसे बहुत अधिक पश्चात्ताप होता है। इसी प्रकार इस जीव को शरीर छूटने से बहुत दुःख होता है, यमपुरी के मार्ग में ही वह पश्चात्ताप करने लगता है।

तीसरी किरण

शरीर की मर्त्यता और चैतन्य की अखण्डता

देखो, जब किसी के हाथ, पाँव और भुजा सूख जाते हैं, अथवा अर्द्धाङ्ग पक्षाघात होने के कारण उनसे कोई क्रिया नहीं होती, तब भी उस पुरुष की चेतनता नष्ट नहीं होती, क्योंकि चेतनस्वरूप जीव देह से पृथक् है। हाथ-पाँव तो उसके शस्त्र हैं और वह इनका सचालक है। किन्तु जिस प्रकार हाथ-पाँव तुम्हारा स्वरूप नहीं है उसी प्रकार पेट, पीठ, सिर आदि अन्य अंग भी तुम्हारे स्वरूप नहीं हैं। तुम इन सबसे और इनके संघातभूत सम्पूर्ण शरीर से भी पृथक् हो। इससे निश्चय हुआ कि जब यह सारा शरीर शून्य हो जाता है तब भी तुम्हारी चेतना अपने स्वरूप में स्थित रहती है। जैसे यह हाथ क्रियाशून्य होनेपर मृतक कहा जाता है उसी प्रकार यह शरीर भी निष्क्रिय और संज्ञाशून्य होनें पर मृतक कहलाता है।

हाथ की क्रिया बल से होती है और बल प्राणचेतना के प्रकाश से नाड़ियों द्वारा सब अंगों में पहुँचता है। जब किसी नाड़ी का मार्ग रुक जाता है तो उसके द्वारा प्राणचेतना का प्रकाश नहीं पहुँचता, अतः बलहीन हो जाने के कारण वह अङ्ग क्रियाशून्य हो जाता है। इसी प्रकार यह शरीर भी प्राणों के सम्बन्ध से तुम्हारी आज्ञा में बर्तता है। परन्तु जब प्राणों की समानवृत्ति निवृत्त हो जाती है तो शरीर के सब अङ्ग शून्य हो जाते है और तुम्हारी आज्ञा का अनुसरण नहीं करते। इसी को मृत्यु कहते है। किन्तु

इस स्थिति में भी जीव अपने चैतन्यस्वरूप में ही स्थित रहता है, क्योंकि यदि तुम्हारा कोई सेवक तुम्हारी सेवा न कर सके तो इससे तुम्हारा नाश तो नहीं हो जाता। यह शरीर तो तुम्हारा सेवक या टहलुआ है, तुम तो इससे सर्वथा पृथक् हो। यदि तुम विचार करोगे तो मालूम होगा कि तुम्हारे जो अंग बाल्यावस्था में थे वे ही आज नहीं हैं, अब तो तुम्हारे सभी अंग आहारादि से बढ़कर कुछ के कुछ हो गये है। इस प्रकार यद्यपि तुम्हारा शरीर वह नहीं है, किन्तु तुम तो वही हो, क्योंकि वास्तव में शरीर तुम्हारा स्वरूप नहीं है। इसलिये शरीर के नष्ट होने की तुम चिन्ता मत करो, इसके नष्ट हो जाने पर भी तुम अपने स्वरूप से अविनाशी ही रहोगे।

तुम्हारे स्वभाव दो प्रकार के है। एक तो शरीर के सम्बन्ध को लेकर है, जैसे भूख, प्यास एवं निद्रा आदि। शरीर का सम्बन्ध न रहने पर इनकी भी स्फूर्ति नहीं होती अतः मत्यु हो जाने पर इनकी भी निवृत्ति हो जाती है। तथा दूसरे स्वभाव ऐसे हैं जिनमें शरीर के सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं है, जैसे भगवान् को जानना और उनके ऐश्वर्य को देखना। उस भगवत्साक्षात्कार से जो अलौकिक आनन्द होता है वह तुम्हारा अपना ही स्वभाव हे। यह अनुभव और इसका आनन्द तुम्हारे साथ सर्वदा रहनेवाले है, इनका तुमसे कभी वियोग नहीं होगा। इसी प्रकार सद्गुणों को जो अविनाशी कहा है इसका कारण भी यही है कि वे सर्वदा जोव के साथ रहते हैं। इन्ही की तरह अविद्या और मूर्खता भी जीव के अपने ही स्वभाव हैं, इसी से ये भी परलोक में उसका साथ नहीं छोड़तीं। वस्तुतः ये जीव के बुद्धिरूप नेत्रों का अभाव ही हैं और ये ही उसके मन्दभाग्य का मूल कारण है। इसी पर प्रभु ने कहा है जो मनुष्य संसार में अज्ञान के कारण अन्धा है वह परलोक में भी अत्यन्त दुःखी और अन्धा रहेगा।

जब तक तुम इस प्रकार के चैतन्य को नहीं पहचानोगे तब तक किसी प्रकार मृत्यु का रहस्य भी नहीं समझ सकोगे, क्योंकि मृत्यु का अर्थ तो परिणामित्व और चैतन्य का भेद जानने से ही जाना जा सकता है। अतः अब मैं प्राणचेतना और चैतन्यकला का भेद वर्णन करता हूँ।

चौथी किरण

प्राणचेतना और चैतन्यकला का भेद

याद रखो, प्राणचेतना तत्त्वों का विकार है और वायु-पित्त आदि जो तत्त्वों के सूक्ष्म अंश है उन्हीं से बनी है, अतः जब वायु-पित्तादि में भी किसी तत्त्व का कोप होता है तो यह भी विकृत हो जाती है और जब ये समान स्थिति में रहते है तो प्राणचेतना भी समान और शान्त रहती है। इसी से वैद्यलोग औषधोपचार के द्वारा वायु, पित्त, कफ एव रुधिर के कोप को शान्त करके इनकी समान वृत्ति रखते हैं। ऐसा होने पर प्राणचेतना भी साम्य स्थिति में रहती है और चैतन्यकला की आज्ञा का पालन करती रहती है।

किन्तु चैतन्यकला का आविर्भाव इन तत्त्वों से नहीं हुआ। वह सूक्ष्म लोक से आयी है और देवताओं के समान निर्मलस्वरूप है। तत्त्वों के देश में तो वह एक परदेशी की तरह है तथा उसका स्वरूप भी आधिभौतिक नहीं है। उसके इस शरीर मे आने का प्रयोजन तो यही है कि परलोक के लिये तोशा तैयार कर ले। इसी पर साईं ने कहा है कि मैंने कृपा करके सभी जीवों को मार्ग दिखाया है, परन्तु जो शुभ मार्ग का परिचय पाकर उसमें चलते है वे ही भय और शोक से मुक्त होते है। मैंने पृथ्वी आदि तत्त्वों के अश से मनुष्य का शरीर रचा है और फिर उसमें अपनी अंश-भूत चैतन्यकला का प्रवेश कराया है। तात्पर्य यह है कि पहले भगवान् ने प्राणचेतना की रचाना की है और उसे चैतन्यकला

की स्थिति का अधिकारी बनाया है। उसके पश्चात् उसमें चैतन्य-कला का प्रवेश कराया है। जैसे पहले रुई या कपड़े की मसाल, जिसमें कि अग्नि को आकर्षित करने की योग्यता हो, बनायी जाती है और फिर उसमें अग्नि प्रविष्ट की जाती है, तब वह प्रकाशित होती है। इसी प्रकार इस देह में प्राणों की समानवृत्ति मसाल के समान है और चैतन्यकला अग्नि की तरह है। जैसे वैद्यलोग प्राणों की समानवृत्ति को जानते है और उसके द्वारा शरीर की रोग एवं कष्ट से रक्षा करते हैं, उसी प्रकार चैतन्यस्वरूप जीव के स्वभाव की भी एक समानता है, पर उसे संतजन ही पहचानते हैं। जब वैराग्य और पुरुषार्थ के द्वारा इस जीव के स्वभाव संतजनों की मर्यादा में समत्व लाभ करते है तभी मनुष्य का चित्त नीरोग होता है। अतः निश्चय हुआ कि जीव जैसे अपने आपको पहचाने बिना भगवान् को नहीं पहचान सकता वैसे ही वास्तविक चैतन्य को पहचाने बिना परलोक को भी ठीक-ठीक नहीं पहचान सकता। इसलिये अपने मन को पहचानना ही भगवान् को पहचानने की कुञ्जी है। और यही परलोक को पहचानने का भी प्रधान साधन है। इसके सिवा धर्म की प्रतीति का मूल भी अपने आपकी पहचान ही है। इसी से मैंने अपने-आपकी पहचान का सबसे पहले वर्णन किया है।

तथापि अभी तक मैंने जीव के वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट नही किया है। सन्तों ने भी उस स्वरूप का वर्णन करने के लिये निषेध किया है, क्योंकि जीव की सामान्य बुद्धि उस गुह्य रहस्य को ग्रहण नहीं कर सकती। किन्तु भगवान् की वास्तविक पहचान और परलोक का सम्यक् साक्षात्कार उस यथार्थ स्वरूप का ज्ञान होने पर ही हो सकते हैं। अतः तुम ऐसा पुरुषार्थ करो जिससे अभ्यास और प्रयत्न के द्वारा अपने भीतर उस यथार्थ स्वरूप की झाँकी कर सको। यदि उस स्वरूप की बात सुनकर तुम्हारा हृदय

उसके दर्शनों के लिये उत्सुक न हो तो जान लो कि तुम्हारा विश्वास ठहरनेवाला नहीं है, क्योंकि ऐसे बहुत से लोग देखे गये हैं कि भगवान् के वास्तविक स्वरूप की चर्चा सुनकर जिनका विश्वास जाता रहा है। बुद्धि की हीनता के कारण उनमे सन्देह उत्पन्न हो गया है और वे ईश्वर को अस्वीकार करके अत्यन्त ढीठ हो गये है। तात्पर्य यह है कि जब तक तुम्हें भगवान् के यथार्थ स्वरूप को अनुभव करने को योग्यता न हो तब तक उसकी बाते सुनकर भी तुम कैसे विश्वास कर सकते हो ? इसी से धर्म-ग्रन्थों में भी परमात्मा के वास्तविक स्वरूप का वर्णन नहीं किया गया है, क्योंकि ससारी पुरुष उस स्वरूप के विषय में सुनेगे तो उनका विश्वास ही जाता रहेगा। अतः भगवान् ने सन्तो को यही आदेश दिया है कि जीवों की बुद्धि के अनुसार उन्हे उपदेश करो। इन्हें मेरे गुह्य रहस्य और स्वरूप की बात स्पष्ट करके मत बताओ, क्योंकि ऐसे गूढ़ वचन सुनकर मेरे प्रति इनका विश्वास नष्ट हो जायगा और ये धर्महीन हो जायँगे। अतः जीवों को बुद्धि के अनुसार बात कहना ही विशेष उपयोगी होता है।

जब तुम भली भाँति समझ गये कि मनुष्य का चैतन्य-स्वरूप स्वतःसिद्ध है, उसकी सत्ता शरीर के अधीन है, तो तुम जान ही गये होगे कि मृत्यु का अर्थ चैतन्य का नाश नहीं, अपितु इस शरीर में चैतन्यस्वरूप जीव की आज्ञा का अनुवर्तन न रहना ही है। तथा जीव के परलोकगमन का भी यह तात्पर्य नहीं है कि यहाँ जीव नष्ट हो जाता है और परलोक में उसकी पुनः उत्पत्ति हो जाती है। परलोक में उत्पत्ति होने का भी यही आशय है कि वहाँ यह जीव दूसरा शरीर स्वीकार कर लेता है। यह बात मनुष्य की बुद्धि से बाहर है कि वहाँ इसे भगवान् किस प्रकार दूसरा शरीर प्रदान करते है, क्योंकि भगवान् के कर्म में किसी प्रकार की कठिनता या सुगमता की कल्पना नहीं की जा सकती। बहुत

मनुष्यों का ऐसा भी कथन है कि वहाँ जीव को यह शरीर मिल जाता है। किन्तु यह बात ठीक नहीं जान पड़ती, क्योंकि यह शरीर तो घोड़े की तरह है, यदि घोड़ा बदल भी जाता है तो भी सवार नहीं बदलता। शरीर तो बाल्यावस्था से वृद्धावस्था तक परिणाम को प्राप्त होता रहता है तथा आहार के कारण इसके सब अंगों का स्वरूप कुछ-का-कुछ हो जाता है पर जीव में कोई अन्तर नहीं आता।

जिन लोगों का ऐसा विचार है कि परलोक में फिर यही शरीर सचेत हो जाता है, उनके कथन में और भी कई प्रश्न और सन्देह उत्पन्न होते है। उनका वे लोग जो उत्तर देते हैं वह बहुत दुर्बल रहता है, उससे सन्देह दूर नहीं होते। मान लो, कोई प्रश्न करे कि यदि एक शरीर को दूसरा व्यक्ति खा जाय तब तो वे दोनों शरीर मिलकर एक हो जायेंगे, फिर परलोक में दो जीवों को एक ही शरीर कैसे मिलेगा? अथवा यदि यहाँ कोई व्यक्ति अंगहीन हो और खूब भजन भी करता हो, तो क्या परलोक में भजन का फल भोगने के लिये भी उसे अङ्गहीन ही शरीर मिलेगा? यदि कहो कि अङ्गहीन शरीर मिलेगा तो स्वर्गलोक में तो कोई अङ्गहीन होता ही नहीं। और यदि कहो कि वहाँ उसे पूर्णाङ्ग देह मिलेगा तो भजन के समय जो अङ्ग नहीं था वह वहाँ कहाँ से आ जायेगा? ऐसे प्रश्नों के उनके पास कोई समाधानकारक उत्तर नहीं हैं। अतः निश्चय हुआ कि परलोक में इस पूर्व शरीर की अपेक्षा नहीं रहती। जो लोग ऐसा मानते है कि वहाँ भी इसे यही शरीर मिलता है वे अपने को शरीर ही समझते है। इसी से उनका ऐसा विचार है कि दूसरा शरीर मिलने पर तो जीव भी अन्य हो जायगा। सो उनका यह कथन मिथ्या है, क्योंकि जीव भिन्न है और शरीर भिन्न।

पाँचवीं किरण

जीव की अविनश्वरता और परलोक-दर्शन के उपाय

प्रश्न—किन्तु कई शास्त्रों का तो ऐसा मत है कि जब शरीर छूटता है, तो जीव का भी नाश हो जाता है। फिर परलोक में जीव को उत्पन्न करके नया शरीर धारण कराया जाता है। और आप जो बात कह रहे है वह इससे सर्वथा विपरीत है। ऐसी अवस्था में हम किस कथन को प्रामाणिक माने?

उत्तर—जो पुरुष दूसरों की बात सुनकर भटकता रहता है, वह तो अन्धा है। जो लोग ऐसा समझते है कि शरीर छूटने पर जीव नष्ट हो जाता है, उनका यह विश्वास न तो अपनी बुद्धि के अनुरूप है, और न किसी शास्त्र के ही आधार पर है। यदि उन्हें कुछ भी समझ होती, तो वे स्पष्ट जान सकते थे कि शरीर छूटने पर जीव का नाश नही होता। और यदि उन्हें शास्त्र पर विश्वास होता, तो वे भगवान् और सन्तों के वचनो द्वारा ही जान सकते थे कि जीव अविनाशी है, शरीर का नाश होने पर वह अपने स्वरूप से स्थित रहता है। इसी से सन्तों के वचनों में यह बात भी स्पष्ट आयी है कि परलोक में भाग्यवान् और भाग्यहीन दो प्रकार के जीव है। जो भाग्यवान् है उनका कल्याण होता है, और कभी नाश भी नही होता। प्रभु ने भी कहा है, "जो जीव मेरे मार्ग पर चलते हुए शरीर त्यागते है, उनको मृत्यु हुई मत समझो। वे उत्तम पुरुष तो मेरा कृपाप्रसाद पाकर सर्वदा आनन्द

में रहते है। और जो भाग्यहीन हैं, नाश उनका भी नहीं होता।" इसी आशय का एक प्रसङ्ग प्रसिद्ध है—एक बार जब लड़ाई में वहुत लोग मारे गये और महापुरुष की जीत हुई, तब महापुरुष ने उन मरे हुए लोगों से पूछा, "भाइयो! मुझे भगवान् का आदेश था कि जीत तेरी ही होगी, सो यह बात तो मैंने प्रत्यक्ष देख ली। किन्तु उन्होने यह भी कहा था कि तमोगुणी पुरुषो को मै परलोक में दण्ड और कष्ट दूँगा, सो तुम्हें वह दुःख मिला है या नहीं ?" इस पर महापुरुष के साथियो ने पूछा कि ये लोग तो अब मिट्टी की तरह है, आप इनसे बात क्यो कर रहे है ? तब महापुरुष ने कहा, "मैं जिस प्रभु की सामर्थ्य के आगे सार्वथा पराधीन हूँ, उन्हीं को शपथ करके कहता हूँ कि ये मरे हुए लोग मेरी बात तुम्हारी अपेक्षा भी अधिक सुनते है; किन्तु इन्हें उत्तर देने की आज्ञा नहीं है।" इससे निश्चय होता है कि धर्म-शास्त्र में भी जीव के मरने की बात नही कही। इसी से पितृपूजा के लिये श्राद्ध और दानादि करने की विधि भी है। अतः सिद्ध हुआ कि जीव का नाश नहीं होता।

किन्तु यह बात धर्मशास्त्र में भी कही है कि मृत्यु होने पर जीव का शरीर और स्थान परिर्वातत हो जाता है, अर्थात् उसे शरीर भी दूसरा मिलता है और उसकी स्थिति भी दूसरे लोक में हो जाती है। जो पुण्यवान् जीव होते है, उन्हें स्वर्ग का सुख मिलता है, और जो पापी होते है वे नरक का दुःख भोगते है। अतः तुम निस्चय जानो कि शरीर का नाश होने से तुम्हारे स्वरूप और स्वभावों का नाश नहीं होता। हां, शरीर और इन्द्रियों का सारा व्यापार निवृत्त हो जाता है, जैसे घोड़ा नष्ट हो जाने पर सवार पियादा रह जाता है, तथा उसके जो कर्म और स्वभाव होते है, ज्यों के त्यों बने रहते है, क्योंकि तुम्हारा स्वरूप सवार की तरह शरीररूप घोड़े से सर्वथा भिन्न है।

इसी से जो लोग शरीर और इन्द्रियों को भुलाकर अपने स्वरूप में स्थित हुए हैं, और भजन की एकाग्रता के द्वारा जिन्होंने चित्त को लीन कर दिया है, उन्हें परलोक की अवस्था स्पष्ट प्रतीत हुई है। इसका कारण यह है कि यद्यपि उनके प्राणों की समान-वृत्ति में कोई विपर्यय नहीं हुआ, तथापि चित्त स्थिर होने से उनकी प्राण-चेतना भी ठहर जाती है। इससे वे भगवान् के भी प्रत्यक्ष दर्शन कर सकते है, और उनकी चित्तवृत्ति किसी भी पदार्थ में आसक्त नहीं होती। इसी से उन्हें जीवन्मुक्त कहते है, अर्थात् जो भेद लोगों के मरने के बाद खुलता है, वह चित्त की एकाग्रता के कारण उन्हें जीवित रहते हुए ही मालूम हो जाता है। वे उसे प्रत्यक्षवत् देखते है, और जब उस अवस्था से उत्थित होकर इन्द्रियों के देश में आते है, तो जाग्रत् अवस्था में भी उन्हें उसका स्मरण बना रहता है। यदि एकाग्रता में चित्त की वृत्ति सूक्ष्म होने पर उन्हें स्वर्ग का अनुभव होता है, तो व्युत्थित होने पर उनके हृदय में प्रसन्नता और आनन्द की वृत्ति बनी रहती है, और यदि उस समय अकस्मात् नरक दिखायी दे जाता है, तो जाग्रत् में भय और संकोच का भाव प्रकट होता है। इस प्रकार परलोक की जो बात उन्हें जाग्रत् में स्मरण रहती है, उसी का वे संसार में वर्णन करते है। उस अवस्था में उनके अन्तःकरण में जैसा संकल्प स्फुरित होता है वह सत्य ही होता है। कहते है, एक समय महा-पुरुष समाधि में बैठे थे। उसी स्थिति में उन्होंने अपना हाथ ऊपर को उठाया, और फिर खींच लिया। लोगों ने इसका कारण पूछा तो वे बोले, "मैंने स्वर्ग के अमृत-फल को देखा था। उसे संसार में लाने की इच्छा से मैंने पहले हाथ उठाया था, किन्तु वह छिप गया, इसलिये हाथ खींच लिया।" इससे तुम ऐसा अनुमान मत करना कि अमृत-फल संसार में आने योग्य तो था, किन्तु महापुरुष उसे लाने मे समर्थ नही हुए, क्योंकि सूक्ष्म देश का फल इस लोक में

आ ही नहीं सकता। यह आधिभौतिक जगत् तो अत्यन्त स्थूल और जड़रूप है, इसमें दिव्य लोक की वस्तु कैसे आ सकती है? इस बात को स्पष्ट करने से भी बहुत विस्तार हो जायगा, और यहाँ उसका विशेष प्रयोजन भी नहीं है। किन्तु बहुत-से विद्वानों को तो यह संशय बना हुआ है कि वह अमृत-फल कैसा था और महापुरुष ने उसे कैसे देखा? इस प्रकार वे व्यर्थ वाद-विवाद करते है और अपने कल्याण की बात पर ध्यान नही देते। फिर भी उन्हें अपनी विद्या का बड़ा अभिमान है। सो वास्तव में तो वे महामूढ़ है।

तात्पर्य यह है कि सन्तलोग परलोक को अपने हृदय की दृष्टि से ही देखते है, उनका यह दर्शन किसी कथन या युक्ति के आधार पर नहीं होता। वे इस जगत् की वृत्ति को त्यागकर चैतन्य देश में जाते है और परलोक को प्रत्यक्ष देखते है। यह परलोक-दर्शन भी सन्तों की शक्ति का एक अङ्ग है। इस प्रकार निश्चय हुआ कि परलोक का दर्शन दो प्रकार से हो सकता है—एक तो प्राणचेतना का नाश होने पर जब शरीर की मृत्यु होती है तब जीव परलोक के प्रत्यक्ष दर्शन करता है। और दूसरे जब भजन की एकाग्रता के द्वारा प्राणवृत्ति स्थिर हो जाती है तब हृदय की शक्ति से परलोक का प्रत्यक्ष दर्शन होता है। इन्द्रियादि के देश में रहते हुए तो परलोक का दर्शन होना असम्भव ही है। जैसे एक राई के दाने में चौदहों लोक नहीं समा सकते उसी प्रकार आत्मसुख का एक कण भी सारे ब्रह्माण्ड में नहीं समा सकता। जिस प्रकार श्रवणेन्द्रिय किसी भी पदार्थ का रूप नहीं देख सकती। उसी प्रकार सारी इन्द्रियाँ चैतन्यदेश की किसी वस्तु को ग्रहण नहीं कर सकतीं। अतः यह निश्चय हुआ कि स्थूल देश को देखनेवाली इन्द्रियाँ चैतन्यदेश तक नहीं पहुँच सकतीं, उस देश को देखनेवाली इन्द्रियाँ भी सूक्ष्म ही है।

छठी किरण

यममार्ग के कष्टों का वर्णन

अब तुम्हें यममार्ग के कष्टों को भी जानना चाहिये। वे कष्ट दो प्रकार के है—१. शरीर के सम्बन्ध से जीव को होनेवाले और २. शरीर को होनेवाले। इनमें शरीर को होने वाले कष्टों को तो सब जानते हैं, किन्तु उसके कारण जो जीव को कष्ट होते है, उन्हें कोई नहीं पहचानता। उन्हें तो वही जान सकता है, जिसने अपने-आपको पहचाना है, और जिसे हृदय का रूप भी प्रत्यक्ष हुआ है, क्योंकि उसे पता है कि मेरी स्थिति शरीर के आश्रित नहीं है, तथा शरीर का नाश होने से मेरा नाश भी नहीं होता। मृत्यु होने से शरीर और इन्द्रियों का वियोग त होगा ही, इनके साथ धन, पुत्र, स्त्री, सेवक, सुहृद्, पशु और पृथ्वी आदि जितने पदार्थ इन्द्रियों से जाने जाते है, वे सब भी अपने से दूर हो जायँगे। जिस पुरुष ने अपने को स्थूल पदार्थों के साथ बाँध रखा है, वह इनका वियोग होने से अवश्य दुःखी होगा। किन्तु जिसका हृदय सब ओर से विरक्त है और भगवान् के सिवा जिसकी किसी भी पदार्थ में प्रीति नहीं है, उसे मृत्यु के समय कोई दुःख नहीं होता; प्रत्युत और भी अधिक आनन्द होता है, क्योंकि जिसके हृदय में भगवान् का दृढ़ अनुराग है, जिसे भजन का रहस्य प्रकट हुआ है, जिसने सर्वदा अपने आपको भगवान् की ओर ही लगाया है और जो माया के सम्पूर्ण पदार्थों को नीरस समझ कर उनमें आसक्त नहीं हुआ, वह पुरुष मृत्यु होने पर निःसन्देह अपने प्रियतम को

ही प्राप्त करता है, तथा जिन पदार्थों से उसे विक्षेप होता था, वे सब उससे दूर हो जाते हैं। इसलिये उसे परम शान्ति प्राप्त होती है।

अब तुम इस बात पर विचार करो कि जो मनुष्य शरीर का नाश होने पर भी अपने को अविनाशी ही जानता है, और जिसे पता है कि सारे मायिक पदार्थ इस संसार में ही रह जायँगे, उसे यह भी निश्चय हो ही जायगा कि यदि इन पदार्थों में मेरी आसक्ति होगी तो अन्त समय इनका वियोग होने पर मुझे अवश्य दुःख होगा। इसी पर महापुरुष ने भी कहा है कि जिस पदार्थ के साथ किसी को प्रीति होती है उसका वियोग होने पर वह अवश्य दुःखी होता है, और जब वह देखेगा कि मेरी प्रीति तो केवल श्रीभगवान् के साथ है, मायिक पदार्थों से तो मेरा प्राणरक्षा के लिये केवल खान-पानमात्र का सम्बन्ध है, वास्तव में तो ये मुझे फँसाकर अधःपतन की ओर ही ले जानेवाले हैं, तो वह निःसन्देह जान जायगा कि शरीर का नाश होने पर जब ये पदार्थ मुझसे दूर हो जायँगे तो मै अपने प्रियतम प्रभु को पाकर आनन्दमग्न हो जाऊँगा। अतः जो पुरुष इस रहस्य को समझता है, उसे निःसन्देह पता है कि मृत्यु के समय विषयों का वियोग होने से विरक्त पुरुषों को तो सुख होता है और विषयी जीव अत्यन्त दुःखी होते हैं। इस कथन का तात्पर्य यह हुआ कि माया मनमुखी पुरुषों को ही स्वर्गरूप जान पड़ती है, जिज्ञासुओं के लिए तो वह नरक ही है। माया का वियोग मनमुखी पुरुषों को नरकरूप जान पड़ता है, और विरक्तों को उससे आनन्द होता है।

इस प्रकार यममार्ग के कष्टों के विषय में तुम यह तो समझ गये कि इस दुःख का कारण मायिक पदार्थों की प्रीति ही है। साथ ही यह भी याद रखो कि ये दुःख सब जीवों को एक समान नहीं होते। किसी को कम होते है और किसी को अधिक। जिस मनुष्य

की मायिक पदार्थों में जितनी अधिक प्रीति होगी, उसे उतना ही अधिक दुःख होगा। यदि किसी के पास केवल एक भोग्य पदार्थ हो और दूसरे के पास पशु-सेवक आदि अनेक प्रकार की भोग्य-सामग्री हो, तो केवल एक ही भोग्य पदार्थवाले को कम दुःख होगा। जैसे किसी व्यक्ति का एक घोड़ा चोरी जाय और दूसरे के दस घोड़े चुरा लिये जायँ तो इनमें दूसरे की अपेक्षा पहले को कम दुःख होगा। यदि किसी मनुष्य का आधा धन राजा हर ले और किसी का सारा ही धन हर लिया जाय तो इसमें पहले की अपेक्षा पिछले को अधिक दुःख होगा और जिसका धन ही नही, उसके साथ स्त्री-पुत्रादि भी नष्ट कर दिये जायँ तथा जिसे देश से भी निकाल दिया जाय, उसे तो और भी अधिक कष्ट होगा। यही मृत्यु का भी अर्थ है, उस समय भी तो शरीर छूटने के साथ ही स्त्री-पुत्रादि सम्पूर्ण मायिक पदार्थ यहीं छूट जाते है और यह जीव अकेला रह जाता है। जो पुरुष उन पदार्थों में अधिक आसक्त होता है उसे दुःखी भी अधिक होना पड़ता है और जिसकी उनमें कम प्रीति होती है वह उनके वियोग से दुःखी भी कम होता है। इस पर प्रभु ने भी कहा है कि जिस पुरुष को सब प्रकार के सुख और सम्पत्ति की प्राप्ति हुई है वह इन सभी पदार्थों में आसक्त भी रहता है और अत मे दुखी भी अधिक होता है। तथा जिसकी इन पदार्थों मे अल्प प्रीति है वह इसका वियोग होने पर उतना दुःखी भी नहीं होता। इसी प्रकार महापुरुष भी कहते है कि यमराज के मार्ग में मनमुखी पुरुष को ऐसा कष्ट होता है कि उसे बड़े-बड़े अजगर काटते है और उन अजगरों के हजार-हजार फन होते है। विषयी पुरुषों को ऐसे विशालकाय अजगर सर्वदा डसते रहते है।

किन्तु इन अजगरों को देखते वे ही है जिनके बुद्धिरूपी नेत्र खुले हुए है। बुद्धिहीन पुरुष तो कहते है कि हमने बहुत से मृतक पुरुष देखे है, हमें तो उन्हे डसता हुआ एक भी सर्प दिखायी नहीं

दिया। ऐसे पुरुषों को ध्यान रखना चाहिये कि ये अजगर जीव के हृदय में रहते हैं और उस जीव को ही डसते हैं। यदि ये शरीर को डसते तब तो और लोग भी उन्हे देख सकते थे और वास्तव में तो वे उसे इस संसार में ही डस रहे थे, पर अचेत होने के कारण उस मूर्ख को इसका पता नहीं था। इस कथन का तात्पर्य यह है कि ये सर्प मन के मलिन स्वभाव ही हैं तथा उनमें से एक-एक स्वभाव से जो अवगुणों की शाखाएँ उपजती है वे ही उन सर्पों के हजारो सिर हैं। इनकी उत्पत्ति का मूल कारण माया की प्रीति है। जैसे इस हृदय में जो ईर्ष्या, कटुता, कुटिलता, कपट, मान चंचलता, वर और मानप्रियता आदि बुरे स्वभाव है ये ही सर्प है। इन सर्पों के वास्तविक स्वरूप, इनकी सख्या और इनके सिरों का विस्तार ये सब बाते केवल भगवत्कृपा से अनुभवद्वारा ही देखी जा सकती है। ये मलिन स्वभाव मनमुखी पुरुष के हृदय में पहले से ही थे, इसीसे वह भगवान् और सन्तो की प्रीति से शून्य था तथा सब प्रकार के मायिक पदार्थों में आसक्त था। ये मलिन स्वभावरूपी सर्प ही उसे यममार्ग में डसते है।

इन सर्पों का दर्शन अत्यन्त दुःखरूप है, क्योंकि यदि स्थूल सर्प डसे तब तो कभी क्षणमात्र को विश्राम भी दे सकते थे, किन्तु इनसे तो एक क्षण को भी छुटकारा नही मिलता। जैसे किसी पुरुष का अपनी दासी में राग हो, किन्तु उसे इसका पता हो नहीं, फिर यदि किसी कारणवश उस दासी का वियोग हो जाय तो वह रागरूप सर्प उसे डसता ही रहेगा। यद्यपि यह रागरूप सर्प पहले से ही उसके हृदय में विद्यमान था और उसे डस भी रहा था, पर मूर्खतावश वह इसे पहचानता नही था, अब वियोग होने पर उसे प्रत्यक्ष उसके दर्शन का दुःख दिखायी देता है। तात्पर्य यह है कि पहले तो वह उसके राग में रस का अनुभव करता था, किन्तु वियोग होने पर वही राग विष बन कर उसे दुःख देता है। यदि

पहले ही दासी में उसका राग न होता तो उसका वियोग होने पर यह दुःख क्यों देखना पड़ता ? इसी प्रकार मनमुखी पुरुष की जो माया में प्रीति होती है उसीके कारण उसे मायिक भोगों में सुख जान पड़ता है और माया का वियोग होने पर वह प्रीति ही उसके दुःख का कारण बन जाती है।

इसी तरह मान और ऐश्वर्य की प्रीति अजगर की भाँति है, धन की प्रीति सर्प की तरह है और सौन्दर्यप्रेम बिच्छू के समान है। ऐसे ही जिस-जिस विषय की प्रीति मनुष्य के हृदय में जम जाता है उसके कारण उसे दुःख ही भोगना पड़ता है। जिस प्रकार दासी के वियोगानल से संतप्त पुरुष अपने को अग्नि या जल में डाल कर उस व्यथा से मुक्त होना चाहता है, उसी प्रकार जीव को जब यममार्ग मे भोगो के वियोग से उत्पन्न हुआ दुःख दग्ध करने लगता है तब उसे इन स्थूल सर्प और बिच्छुओं का दंशन भी उस के सामने कुछ नही जान पड़ता, क्योंकि उनके डसने से तो केवल शरीर को ही कष्ट होता है और यह आग निरन्तर उसके हृदय को जलाती रहती है। ऐसा भी कोई नहीं, जो उस दुःख को देखता हो और उससे उसकी रक्षा कर सकता हो। अतः निश्चय हुआ कि यह जीव अपने दुःख का बीज इस ससार से ही अपने साथ ले जाता है। इस पर महापुरुष ने भी कहा है कि तुम्हारे अशुभ कर्म ही तुम्हे दुःख देते है और कोई दुःख देनेवाला नहीं है। प्रभु भी कहते है कि यदि तुम्हारी प्रीति और निश्चय दृढ़ हों तो तुम नरकों को इस संसार में ही देख लोगे, क्योंकि मनमुखों का हृदय यहाँ भी नरक के दुःखों से पूर्ण है। इस प्रकार प्रभु ने भी केवल यही तो नही कहा कि मनमुखी लोग परलोक में ही नरक पायँगे, यह भी तो कहा है कि नरक उनके साथ ही है और वे उससे पूर्ण हैं। अर्थात् उनका हृदय यहीं नरकरूप बना हुआ है।

सातवीं किरण

यममार्ग के दुःखों के विषय में विशेष मीमांसा

तुम यह शंका कर सकते हो कि धर्मशास्त्र में तो लिखा है कि वे सर्प मरने वाले व्यक्ति को आँखो से दिखायी देते है और तुम उन्हें उसके हृदय में बताते हो, अतः वे आँखों से दिखायी देने-वाले सर्प नही हो सकते। ऐसी स्थिति में किस कथन को प्रामाणिक माने ?

इसका उत्तर यह है कि वे सर्प दिखायी तो देते हैं; किन्तु उन्हें वह मरनेवाला पुरुष ही देख सकता है, जिसे वे डसते है, ससार के दूसरे लोग उन्हें नहीं देख सकते। जो सूक्ष्म देश की वस्तु होती है वह स्थूल नेत्रों से नही देखी जा सकती। अतः वे सर्प स्थूल सर्पों की तरह उसे नहीं डसते, जिससे दूसरे लोग भी उन्हे देख सके। हाँ, मरने वाले व्यक्ति को तो वे प्रत्यक्ष ही डसते दिखायी देते है। जैसे स्वप्न में कोई पुरुष देखे कि मुझे सर्प काट रहा है तो उसके समीप बैठा हुआ दूसरा व्यक्ति ऐसा नही देख सकता। स्वप्न देखने वाले को तो वह सर्प और उसके काटने से होने वाला दुःख प्रत्यक्ष ही जान पड़ते है और उसके समीप बैठे हुए जाग्रत् पुरुष को यह सब दिखायी न देने से उसके कष्ट में कोई कमी भी नहीं आती। उसके लिये तो वह जाग्रत् की तरह ही प्रत्यक्ष है।

स्वप्नविचार के अनुसार ऐसे स्वप्न का परिणाम यह माना गया है कि जाग्रत् में वह पुरुष अपने शत्रु से परास्त होगा। अतः इस प्रकार का स्वप्न देखने पर उसे यह मानसिक चिन्ता और

घेर लेती है। इससे वह इतना संतप्त होता है कि इसकी अपेक्षा उसे जाग्रत् अवस्था में सर्प से प्रत्यक्ष काटा जाना अच्छा जान पड़ता है, क्योंकि शत्रु से नीचा देखने की अपेक्षा तो सर्पदंश से मृत्यु का आलिंगन करना ही अच्छा है। सर्प तो केवल शरीर को ही कष्ट पहुँचाता है, शत्रु से पराभूत होने का दुःख तो निरन्तर हृदय को सतप्त करता रहता है।

अब तुम्हे यह शंका हो सकती है कि यदि प्राणप्रयाण के समय डसनेवाले सर्प स्वप्न के साँपों के समान ही होते है तब तो वे केवल संकल्पमात्र हुए, वास्तव मे उसे कोई सर्प नही डसते वह व्यर्थ अपने सकल्प से ही दुःख की सृष्टि कर लेता है। इस पर हमारा कथन यह है कि ऐसा सोचना तो बड़ी मूर्खता की बात है। विचारदृष्टि से देखो तो वे सर्प निःसन्देह सत्य है। सत्य या प्रत्यक्ष उसी पदार्थ को तो कहते है जिससे सुख या दुःख प्राप्त हो। सकल्पमात्र वस्तु तो वह होती है जिसका सुख-दुःख प्रत्यक्ष नहीं भासता। स्वप्न में भी जब तुम कोई पदार्थ देखते हो तो तुम्हे उस का सुख-दुःख प्रत्यक्ष प्रतीत होता है, अतः दूसरे लोग भले ही उस पदार्थ को न देखे, तुम्हारे लिये तो वह प्रत्यक्ष ही है। इसके विपरीत किसी पदार्थ को भले ही सब लोग देखते हो, किन्तु,तुम्हें उसका भान न हो तो तुम्हारे लिये वह मिथ्या ही होगा। इसी प्रकार स्वप्नद्रष्टा और मुमूर्षु पुरुष को जो दुःख प्राप्त होता है वह भले ही दूसरों को न दिखे, उनके लिये तो प्रत्यक्ष ही है और न दूसरों को दिखायी न देने से उसमें कोई कमी ही आती है। इन दोनों अवस्थाओ के दुःखों में भी एक अन्तर अवश्य है कि स्वप्न देखनेवाला पुरुष शीघ्र ही जग जाता है और जाग्रत् के समय उस दुःख का बाध हो जाता है, इसलिये उसे संकल्पमात्र मानने लगता है। किन्तु मृतक पुरुष को परलोक में जो कष्ट प्राप्त होता है, उसकी तो कोई सीमा ही नहीं कही जा सकती और न किसी प्रकार उससे

छुटकारा ही हो सकता है। उस कष्ट से तो जब भगवान् की विशेष कृपा हो तभी मुक्ति मिल सकती है।

इसके सिवा धर्मशास्त्र में भी ऐसा कहीं नहीं कहा कि मरने-वाले व्यक्ति को स्थूल सर्प डसते है। यदि वे सर्प भी आँखो से दिखायी देनेवाले होते तब तो परलोक भी इस लोक की तरह भौतिक ही सिद्ध होता। सो ऐसी बात है नही, क्योंकि परलोक का प्रत्यक्ष भान तो उसी को होता है जो इस लोक को सर्वथा विस्मृत कर देता है। ऐसा व्यक्ति, तामसी पुरुषो को सर्प और बिच्छू डसते है—इस बात को भी प्रत्यक्ष देखता है। इसी से कहा है कि दूसरे लोगों को जो बाते आश्चर्यरूप जान पड़ती है वे सन्तजनों को जाग्रत् मे ही प्रत्यक्ष भास जाती है, क्योंकि इन्द्रिय-ग्राह्य विषय सन्तों की परलोकविषयिनी दृष्टि में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं कर सकते। अतः जो लोग केवल बाह्य दृष्टि से कहते है कि मरने के पश्चात् जीव को कोई दुःख नहीं होता वे तो केवल स्थूल शरीर के दुःख को ही दुःख समझते हैं, उन्हें सूक्ष्म-शरीर के सुख-दुःखों का कुछ भी पता नही है।

अब तुम शङ्का कर सकते हो कि तुम जो यममार्ग के दुःखों का कारण मायिक भोग्य पदार्थों को बताते हो उससे तो निश्चय होता है कि कोई भी व्यक्ति उन दु खों से नही बचेगा, क्योंकि स्त्री, पुत्र, धन, मान ये तो सभी लोग रखते है, न्यूनाधिक रूप में ये मायिक पदार्थ सभी के पास रहते है। अतः सिद्ध हुआ कि ये दुःख सभी को भोगने पड़ेगे।

इसका उत्तर यह कि सभी लोग मायिक सामग्री रखते हों—ऐसा कोई नियम नही। ऐसे भी बहुत से विरक्त और जिज्ञासु पुरुष होते हैं जिनका मन मायिक भोगों से दूर रहता है और जिनकी किसी भी पदार्थ में प्रीति नही होती। इसके सिवा जो लोग ये धन-सम्पत्ति आदि रखते है वे भी तीन प्रकार के होते है। उनका विवरण इस प्रकार है—

१—जिनकी मायिक पदार्थों में भी प्रीति है और भगवान् में भी, किन्तु पदार्थों की अपेक्षा भगवान् में अधिक प्रेम है। ऐसे लोगों को यममार्ग में कष्ट नहीं होता। जैसे कोई पुरुष अपने घर के पदार्थों से प्रेम रखता हो, किन्तु यदि कोई महाराजा उसे किसी देश का राज्य देने लगे तो वह बड़ी सुगमता से घर के सब पदार्थों को त्याग देगा, क्योंकि एक देश के राज्य की प्राप्ति का जो सुख है उसके आगे गृह-सामग्री का सुख तुच्छ हो जाता है। अतः इन पुरुषों की प्रीति माया के भोग और सम्बन्धियों में होने पर भी वह भगवत्प्राप्ति के रस और आनन्द के आगे तुच्छ हो जाती है और जब मरने के समय इन पदार्थों का वियोग होता है तो आनन्दस्वरूप श्रीभगवान् के मिलन के सुख में इनका कोई स्मरण नहीं होता। उस सुख में ही वे विलीन हो जाते है।

२—जिनकी मायिक पदार्थों में अधिक प्रीति होती है, और भगवान् में कम। ऐसे लोग यममार्ग के कष्ट से छूट तो नहीं सकते. किन्तु अधिक समय तक दुःख भोग चुकने पर फिर धीरे-धीरे उन्हें वे पदार्थ विस्मृत हो जाते है और उनके हृदय मे जो भगवत्प्रेम का बीज रहता है वह अंकुरित होने लगता है। वही जब धीरे-धीरे बढ़ कर पुष्ट हो जाता है तो वे भी भगवदीय अक्षय सुख प्राप्त करते है। इनकी स्थिति ऐसी होती है जैसे किसी पुरुष के दो घर हों, पर उनमें से एक में अधिक प्रीति हो, और दूसरे में कम। किन्तु उसे पहला घर तो छोड़ना पड़े, और दूसरे में जाकर रहे, तब आरम्भ में कुछ समय तक तो उसे पहले घर का

वियोग दुःखी रखेगा, किन्तु पीछे दूसरे घर में ही उसका प्रेम बढ़ जायगा और पहले घर को वह बिलकुल भूल जायगा।

३—जिनकी भगवान् के साथ कुछ भी प्रीति नहीं है और जो सर्वदा मायिक पदार्थों में ही आसक्त रहते है, ऐसे लोग सर्वदा परलोक मे महान् दुःख भोगेगे, और उससे कभी उनका छुटकारा नहीं होगा। उनका तो केवल माया से ही प्रेम था, और उसका अब वियोग हो गया। अतः उस वियोगजनित दुःख से उनका छुटकारा कैसे हो सकता है? भगवद्विमुख लोग जो सर्वदा दुःख-मग्न रहते है उसका कारण माया की प्रीति ही है।

अधिकांश लोग कहते तो यही है कि हमें भगवान् ही सबसे अधिक प्रिय है, माया के पदार्थों से हमारा उतना प्रेम नहीं, परन्तु यह उनकी मुँह से कहने की ही बात है। इसकी परीक्षा के लिये एक कसौटी की आवश्यकता है, और वह कसौटी यह है कि जिन भोगों मे हमारी विशेष रुचि है वे यदि शास्त्र और सन्तो के मत से निन्द्य हो तो तत्काल उनसे चित्त हट जाय और मन की उनमें कुछ भी वासना न रहे, तब तो समझा जा सकता है कि भगवान् के प्रति उस पुरुष का विशेष प्रेम है। इसे एक दृष्टान्त से भी समझ सकते है। मान लो, एक व्यक्ति का दो मनुष्यों के साथ प्रेम है, और दोनो मे परस्पर विरोध हो गया अब जिसकी ओर उस का चित्त आकर्षित हो, उसी के साथ उसका विशेष प्रेम माना जायगा। इसी प्रकार जब तक जीव की रुचि भोगों की अपेक्षा सन्तजनों की आज्ञा का पालन करने में अधिक न हो, तब तक केवल मुँह से कहने से कोई लाभ नहीं हो सकता। उसका वह कथन व्यर्थ ही समझना चाहिये। इसी पर महापुरुष ने भी कहा है—"जो जोग मुख से सर्वदा ऐसा ही कहते है कि एकमात्र भग-

वान् ही सत्य है और तो सभी नाशवान् है पर उनका मन माया के पदार्थों में ही अटका हुआ है, वे केवल ऐसा कह कर ही अपने को मुक्त करना चाहते है। उनसे भगवान् यही कहते है कि तुम झूठे हो, तुम्हारी प्रीति तो माया के साथ है, और तुम मुख से भगवान् को सत्य कहते रहते हो, इसलिये तुम्हारा कथन केवल विडम्बनामात्र है।"

इससे निश्चय हुआ कि जिनके बुद्धिरूप नेत्र खुले हुए हैं व प्रत्यक्ष देखते है कि यममार्ग के कष्टों से कोई विरला ही मुक्त होगा, अधिकांश मनुष्यों को तो वे भोगने ही पड़ेंगे। हाँ, उनके भोग की न्यूनाधिकता अवश्य रहेगी। जिस प्रकार माया के पदार्थों के प्रति जीवो की आसक्ति में अन्तर है, उसी प्रकार उनके दुःख-भोग मे भी अन्तर रहेगा, अतः जिनको आसक्ति अधिक है, वे अधिक काल तक उन दु.खों को भोगेगे, और जिनकी आसक्ति न्यून है, वे अल्प काल तक उन्हे भोग कर फिर मुक्त हो जायेंगे।

बहुत लोग कहा करते है कि यदि यममार्ग के दुखों का कारण मायिक पदार्थों की प्रीति ही है, तो फिर हमें इन दुःखों की कोई आशका नही है, क्योंकि हमारा चित्त किसी पदार्थ में आसक्त नहीं है। हमारे लिये तो सब एक समान है। किन्तु उन्हें याद रखना चाहिये, ऐसी स्थिति दुर्लभ है। उनका ऐसा अभिमान करना बड़ी भारी भूल है। यदि वे अपने मन की परीक्षा करेंगे तो उन्हे मालूम होगा कि वे व्यर्थ ही अभिमान करते है। इसकी परीक्षा तब हो सकती है, जब उनका धन चोर चुरा ले, उनका ऐश्वर्य नष्ट हो जाय, तथा उनके सुहृद् विरोधी होकर उनकी निन्दा करने लगे और फिर भी उनकी स्थिति में कोई अन्तर न आवे, उनकी चित्तवृत्ति में किसी प्रकार का खेद न हो, और उन्हें ऐसा मालूम हो मानो किसी दूसरे हो का धन हरा गया है तथा किसी दूसरे ही का मान भंग हुआ है, मेरी तो कुछ भी हानि नही हुई तब

समझा जा सकता है कि उनका कथन ठीक है और उन्हें वास्तव में बड़ी उत्तम स्थिति प्राप्त है। किन्तु यदि धन और मान के नष्ट होने का अवसर नहीं आया, तो अपनी परीक्षा के लिये स्वय ही धन का त्याग करे और जिस स्थान पर अपना मान हो उसे छोड़ कर चला जाय, फिर भी अपने को निर्मल और निर्लेप देखे तो समझे कि मेरी स्थिति ठीक है। जब तक अपने को इस प्रकार की परीक्षा में सफल न देखे तब तक उत्तम स्थिति का अभिमान करना व्यर्थ ही है। बहुत लोग तो जब तक अपने सगे-सम्बन्धियों मे रहते है, तभी तक समझते है कि उनमे हमारा कोई राग नहीं है, किन्तु जब उनमें से किसी का वियोग हो जाता है, तो उनके हृदय में छिपी हुई राग की आग प्रकट हो जाती है और वे उसके ताप से पागल-से हो जाते है।

अतः जो पुरुष यममार्ग के कष्टों से मुक्त होना चाहे उसे किसी भी स्थूल पदार्थ में आसक्त नहीं होना चाहिये। हाँ, कार्य-निर्वाह के लिये तो मायिक पदार्थों का उपयोग करना भी उचित ही है। जैसे इस मनुष्य को जब मल-मूत्र त्यागने की अपेक्षा होती है तो यह उसके अनुरूप स्थानो में जा बैठता है, उसी प्रकार भूख-प्यास लगने पर अन्न-जल ग्रहण करना भी आवश्यक है ही, किन्तु यह आहारग्रहण केवल शरीरयात्रा का निर्वाह करने के लिये ही होना चाहिये। हृदय मे ऐसा समझे कि जैसे मल-त्याग किये बिना शरीर को कष्ट होता है, वैसे ही आहार के बिना भी इसका काम नही चल सकता। इसी प्रकार और सब व्यवहारो में भी सयम और संकोचपूर्वक ही बरते। फिर जब इसका चित्त भोगो से विरक्त हो जाय, तो पुरुषार्थ और प्रेम-पूर्वक भगवद्भजन मे लग जाय। माया की लगन छोड़ कर भजन की लगन बढ़ावे और चित्त की परीक्षा करता रहे कि यह मायिक पदार्थों की ओर अधिक खिचता है या भगवान् और सन्तो की आज्ञा पालन करने मे अधिक प्रेम रखता है। जब देखे

कि मेरा चित्त सुगमता से ही सब प्रकार की वासनाओं को त्याग कर सन्तों की आज्ञाओं का अनुसरण कर सकता है, तब समझे कि मै यममार्ग के कष्टो से मुक्त रहूँगा। और यदि, चित्त की ऐसी स्थिति न जान पड़े तब तो इस महा दुःख से छुटकारा पाना कठिन ही है। भगवान् की विशेष दया हो तब भले ही इनसे बच सके। भगवत्कृपा तो इन सभी साधनों से विलक्षण है। जब वे स्वय ही कृपा करने लगे तब भला इन दुःखो से छूटना कौन बड़ी बात है ?

आठवीं किरण

मानसी नरक की तीन प्रकार की अग्नियों का विवेचन

मानसी नरक उन दुःखों को कहते हैं जो केवल जीव को होते हैं शरीर का उनसे कोई सम्वन्ध नहीं होता। जिस अग्नि से शरीर में जलन होती है वह स्थूल नरक है और जो केवल मन को जलाती है उसे मानसी नरक कहा जाता है। यह मानसी नरक की अग्नि तीन प्रकार की है।

१. स्थूल भोगों के वियोग की अग्नि।

२. अपमान, निरादर और संकोच में डालनेवाली अग्नि।

३. भगवद्दर्शन से वञ्चित रहने के पश्चात्ताप की अग्नि।

यह तीन प्रकार की अग्नि केवल हृदय को ही सन्तप्त करती है, शरीर पर इस दुःख का कोई प्रभाव नहीं होता। इसीसे इसका पृथक् निरूपण करने की आवश्यकता हुई। किन्तु इन तीनों अग्नियों का बीज यह जीव ससार से ही साथ ले जाता है। इनका स्थूल दृष्टान्तों द्वारा आगे विवेचन करूँगा।

पहली जो भोगों के वियोग की अग्नि है इसका वर्णन पहले भी कुछ हो चुका है। इस दुःख का कारण मायिक पदार्थों की प्रीति है। उस प्रीति के कारण ही उन पदार्थों का सयोग होने पर यह सुखी होता है और जब वे छूट जाते है तो दुःखी होता है। माया के साथ प्रीति होने के कारण ही यह पुरुष इस ससार में

स्वर्ग की तरह भोगों को भोगता रहता है, किन्तु फिर उसे मानसी नरक का दुःख भोगना पड़ता है, क्योंकि जिस माया से इसका प्रेम था उससे अब वियोग हो गया। इससे निश्चय हुआ कि एक ही पदार्थ सयोग और वियोग होने पर इसके सुख और दुःख के कारण बन जाते है। इस अग्नि का स्वरूप स्पष्ट करने के लिये एक दृष्टान्त दिया जाता है—मान लो, एक बहुत बड़ा राजा है। सारी पृथ्वी पर उसका शासन है, उसे सर्वदा सुन्दर-सुन्दर दृश्य देखने को मिलते है, अनेकों दास, दासियाँ, मनमोहिनी सुन्दरियाँ, बाग-बगीचे और सभी प्रकार के भोग उसे प्राप्त है। अकस्मात् उसका कोई विरोधी उस पर चढ़ाई कर दे और उसे परास्त कर उस के सेवकों के सामने ही उसे कुत्तों की टहल में लगा दे, उसकी जो स्त्रियाँ और दास-दासियाँ थीं उन्हे अपनी सेवा में नियुक्त कर दे तथा उसका जो कोष और भण्डार था उसे उसके शत्रुओं को दे डाले, तो सोचिये उसे कितना कष्ट होगा! ऐसा होने पर यद्यपि उसके शरीर को कोई दुःख नही दिया गया, किन्तु अपने भोग और ऐश्वर्य का वियोग होने की आग ही उसके हृदय को कितना सन्तप्त करेगी! इस स्थिति में तो उसका चित्त बार-बार यही चाहेगा कि इस मानसिक ताप की अपेक्षा तो मर जाना कहीं अच्छा है। इससे निश्चय हुआ कि मायिक सुख जितने अधिक होगे और उन्हे जितना ही खुल कर भोगा जायगा उतना ही अधिक उनकी वियोगाग्नि हृदय को जलायेगी। इस मानस ताप के आगे भौतिक अग्नि का ताप भी मन्द पड़ जाता है। भौतिक अग्नि से शरीर को अवश्य पीड़ा पहुँचती है, परन्तु हृदय पर उसका पूरा प्रभाव नही पड़ता, क्योकि बेचारी इन्द्रियो के द्वारा हृदय को जो अन्यान्य भोग प्राप्त होते रहते है उनके कारण उस पीड़ा का कष्ट बहुत कुछ बँट जाता है तथा नेत्रादि के द्वारा चित्त की वृत्ति विभिन्न विषयो मे बिखरी रहने से भी वह दुःख निर्बल

पड़ जाता है। वास्तव में यह इन्द्रियो का व्यवहार भी हृदय के आगे एक प्रकार का पर्दा है। इसके कारण हृदय में सुख-दुःख का पूरा प्रवेश नहीं हो पाता। जैसे कोई दुःखी पुरुष जब अकस्मात् निद्रा से जागता है तो उसे दुःख की पीड़ा अधिक जान पड़ती है, क्योकि उस समय उसका चित्त एकाग्र होता है और इन्द्रियों के द्वारा वह अन्य विषयों में बिखरा हुआ भी नहीं होता। इसी प्रकार एक स्वस्थ पुरुष निद्रा से जगे और उसे आरम्भ में ही सुन्दर-सुन्दर शब्द सुनायी दे तो उसे उनमे विशेष आनन्द आयेगा और उसकी चित्तवृत्ति एकाग्र हो जायगी। किन्तु यह जीव जब तक संसार मे रहता है तब तक इन्द्रियो का व्यापार इसके साथ लगा ही रहता है और शरीर छूट जाने पर यह अकेला रह जाता है, वहाँ इन्द्रियों का विक्षेप सर्वथा निवृत्त हो जाता है। इसी से इसे परलोक में सुख-दुःख दोनो ही अधिक जान पड़ते है। अतः तुम ऐसा अनुमान न करो कि परलोक की सूक्ष्म अग्नि ससार की स्थूल अग्नि की तरह ही होगी, उसकी अपेक्षा तो यह सत्तरवाँ अश शीतल है।

दूसरी अपमान की अग्नि बतलायी थी। उसके लिये यह दृष्टान्त दिया जाता है—जैसे कोई महाराज किसी नीच मनुष्य को अपने पास रख ले और उस पर विश्वास करके महल का सारा काम उसी को सौप दे। उसी के अधीन भण्डार रहे और अन्तःपुर में जाने की भी उसे पूरी छूट हो। इस प्रकार सारी सुविधाएँ पाकर उसका चित्त दूषित हो जाय और वह विपरीत आचरण करने लगे। भण्डार से धन चुरा ले और रानियों के साथ व्यभिचार करे, किन्तु ऊपर से अपने को बड़ा साधुस्वभाव और सदाचारी प्रकट करे। ऐसी स्थिति में यदि किसी दिन अकस्मात् राजा उसे कोई अपकर्म करता देख ले और उसे भी मालूम हो जाय कि आज महाराज ने मुझे महलों में कुकर्म करते देख लिया है तथा वे नित्य ही झरोखे से मेरी सारी करतूते देखते रहते है,

किन्तु दण्ड इसलिये नहीं देते कि जब इसके पापों का घड़ा पूरा भर जायगा तब एक साथ ही इसे कठोर दण्ड और ताड़ना दूँगा, तो उस समय उस नीच पुरुष को लज्जा की आग किस प्रकार जलायेगी ! उस समय भले ही उसके शरीर को कोई कष्ट न हो, तथापि इस लज्जा के कारण ही वह अपने को धरती में लीन करना चाहेगा और सोचेगा कि किसी प्रकार यह शरीर छूट जाय तो मै लाज की आग से बच जाऊँ। इसी प्रकार तुम जो अपने मलिन स्वभावो के अनुसार अनेकों कुचेष्टाएँ करते हो वे ऊपर से देखने में भले ही अच्छी जान पड़े किन्तु उसका उद्देश्य दूषित होता है। यहाँ भले हो तुम उनके दुष्परिणाम को न देख सको, किन्तु जब परलोक में जाओगे और उनका मलिन तात्पर्य तुम्हारे सामने आयेगा तो लज्जा से तुम्हारा सिर नीचा हो जायगा और तुम लज्जा की आग में जलने लगोगे।

यदि कोई पुरुष संसार में किसी की निन्दा करे तो परलोक में उसे इस प्रकार लज्जित होना पड़ेगा जैसे कोई पक्षी का माँस समझ कर अपने भाई का ही माँस खा ले और पीछे उसे उसको वास्तविकता का पता लगे। उस व्यक्ति का हृदय जिस प्रकार लज्जा और परिताप की अग्नि से जलने लगता है वैसी ही गति निन्दा करनेवाले की परलोक में होगी। इस समय तो तुम्हें निन्दा करने का दुष्परिणाम नहीं जान पड़ता, किन्तु परलोक में वह प्रत्यक्ष तुम्हारे सामने आ जायगा। इसी से कहा है कि यदि किसी पुरुष को स्वप्न में दिखायी दे कि वह मुर्दे को खा रहा है तो समझना चाहिये कि वह निन्दा करनेवाला है। इसके लिये यह दृष्टान्त भी दिया जाता है कि जैसे कोई स्वभाव से ही भीत के पीछे पत्थर फेकता हो और उससे कोई पुरुष कहे भी कि भाई, ये पत्थर तेरे ही घर में गिर रहे है और इसके कारण तेरे ही बच्चों की आँखे फटती है, तू इन्हे फेकना बन्द कर दे। और फिर वह

घर में जाकर भी यही बात देखे तो उसे कैसी लज्जा आयगी उसके चित्त में कैसी आग लगेगी ?

इसी प्रकार जो व्यक्ति किसी से ईर्ष्या करता है वह भी परलोक में अपने को लज्जा की आग से जलता देखेगा। ईर्ष्या करनेवाला तो अपने शत्रु का अहित चाहता है, पर वास्तव में हानि उसी की होती है। वह अपने ही धर्म को नष्ट करता है और इससे उसी के शुभ कर्मों का क्षय होता है। तात्पर्य यह है कि परलोक में सब कर्मों का स्वरूप उनके उद्देश्य या तात्पर्य के अनुसार सामने आता है। वहाँ यह पदार्थों के बीज अर्थात् मूल कारण को देखता है, इसलिये अपमान और लज्जा को प्राप्त होता है। यहाँ स्वप्नावस्था भी परलोक की तरह ही होती है, इसी से जैसा जिस व्यक्ति का हृदय होता है। वैसा ही स्वप्न में उसे मूर्तिमान देखता है। कहते हैं, एक बार एक प्रवृत्तिमार्गीय विद्वान् किसी सन्त के पास गया और बोला कि मैं स्वप्न में अपने को लोगों के मुँह पर मोहर लगाते देखता हूँ, इसका क्या तात्पर्य है। सन्त ने कहा, "तुम जाग्रत् अवस्था में लोगों से बलात्कार से व्रत रखाते होगे।" इस पर पण्डित ने स्वीकार करते हुए कहा कि निःसन्देह मेरा ऐसा ही स्वभाव है। अब तुम विचार करके देखो कि इस क्रिया का स्वरूप कैसा है और इसका तात्पर्य क्या है ? यद्यपि स्थूल दृष्टि से व्रत रखना अच्छा ही काम है, किन्तु उसका उद्देश्य या तात्पर्य अशुभ ही प्रकट हुआ। वह मानो लोगो के मुँह पर मुहर लगाना अर्थात् उनका आहार रोकना हुआ। सो यह प्रभु की बड़ी कृपा है कि परलोक की अवस्था सूचित करने के लिये उन्होंने स्वप्नावस्था बना दी है, किन्तु तुम इससे भी अचेत रहते हो।

सन्तों ने कहा कि परलोक में माया का आकार कुरूपा वृद्धा स्त्री के समान होगा। उस समय सभी जीव उसे देखकर भयभीत होगे और प्रभु से प्रार्थना करेगे कि भगवन् ! इस महाराक्षसी से

हमारी रक्षा करो। तब प्रभु 'कहेंगे जिसकी प्राप्ति के लिये तुम अपना धर्म नष्ट करते थे यह वह माया ही है।' यह सुन कर जीवों को ऐसी लज्जा और अपमान का बोध होगा कि वे अपने को अग्नि में जलाना चाहेंगे, जिससे किसी प्रकार उस लज्जा से छुटकारा मिल जाय। इस लज्जा के विषय में एक दृष्टान्त और भी है—एक बार किसी राजपुत्र का विवाह हुआ। वह मदिरापान से उन्मत्त होकर महलों की ओर चला, किन्तु मद्य के उन्माद में दूसरी ही ओर निकल गया। वहाँ एक घर में दीपक जल रहा था। उसने सोचा मै अपने महल मे पहुँच गया हूँ। घर के भीतर देखा कि बहुत लोग सोये हुए है। पुकारने पर उनमे से कोई उठा भी नही। उन्हे सोये हुए समझ कर वह चुप हो गया और एक स्त्री को उज्ज्वल वस्त्र पहने सोयी देखकर उसे ही अपनी नववधू समझ कर उसके समीप लेट गया। उस स्त्री के शरीर से उसे सुगन्ध आने लगी, अतः उसी के साथ रति-क्रीड़ा करता रहा। प्रातःकाल सूर्योदय होने पर जब नशा उतरा तो देखा कि जिन्हें मै सोये हुए समझता था वे सब तो मुर्दे है और वह स्त्री भी एक अत्यन्त कुरूपा वृद्धा का शव है। उसमे से जो सुगन्ध आ रही थी वह तो उसी को दुर्गन्ध है तथा मेरे अङ्ग भी विष्ठा तथा धूलि से मलिन हो गये है। यह सब देखकर उसे बड़ी ग्लानि हुई और वह अत्यन्त दुःखी होकर चाहने लगा कि मेरी मृत्यु आ जाय तो अच्छा है। साथ ही, इस बात का भी भय हुआ कि कहीं मेरे पिता या कोई राजकर्मचारी मुझ इस स्थिति मे न देख ले। इतने ही में राजा अपने मन्त्रियो के सहित उसे ढूढ़ता वहाँ आ गया। अब तो राजपुत्र बड़ा ही लज्जित हुआ और सोचने लगा कि किसी प्रकार धरती फट जाय तो इसी में समा जाऊँ। विषयी जीव भी जब परलोक मे जायगा तो उसे माया के भोग ऐसे ही मलिन दिखायी देगे और जब परमपिता परमात्मा के सामने अपने को ऐसी मलिन परिस्थिति

में देखेगा तो लज्जा से डूब-मरने की इच्छा करने लगेगा। यदि विचार कर देखे तो भोगी पुरुष इस ससार में ही अत्यन्त निर्लज्जता और दुःख की परिस्थिति प्राप्त करते है। तथापि परलोक में जीव को जैसी दुःख और लज्जा की स्थिति प्राप्त होती है उसके सामने लौकिक दुःख और लज्जा तो कुछ भी नहीं है। यहाँ जिज्ञासुओं को लक्ष्य कराने के लिये सक्षेप में इस दूसरी अग्नि का दिग्दर्शन कराया है। इसका तात्पर्य यही है कि लज्जारूप अग्नि भी ऐसी तीक्ष्ण है कि इसके सामने स्थूल अग्नि अत्यन्त नगण्य है तथा वह केवल हृदय को जलाती है, शरीर से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

तीसरी अग्नि है भगवद्दर्शन से वञ्चित रहने की। यह मूर्खता भी जीव के साथ इस संसार से ही जाती है। इस लोक में जिन लोगों ने सन्तजनो के उपदेश और पुरुषार्थ के द्वारा ज्ञान प्राप्त नहीं किया तथा अपने हृदय को शुद्ध करके भगवद्दर्शन के लिये दर्पणवत् नही बनाया उन्हें परलोक मे इस परिताप की आग में जलना पड़ेगा। पापरूपी जगार के कारण परलोक में भी उनका हृदय-दर्पण अन्धा ही रहेगा और वहाँ भी वे प्रभु के दर्शनो से वञ्चित ही रहेगे। और उनका चित्त इस पश्चात्ताप की आग में जलता रहेगा। इस विषय में एक दृष्टान्त दिया जाता है—मान लो, अपने कुछ हितैषी मित्रो के साथ अँधेरी रात में किसी वन में जाओ और वहाँ तुम्हे कुछ कंकर-पत्थर-से पड़े जान पड़े, किन्तु अँधेरे में उनका कोई रूप-रग दिखाई न दे। उस समय तुम्हारे साथी यथाशक्ति उन कंकरो को बटोर ले और तुमसे भी कहे कि इन पत्थरो की हमने बड़ी विशेषता सुनी है, तुम भी जितने उठा सको उठा लो। किन्तु तुम उन्हें मूर्ख समझ कर उनकी बात पर कोई ध्यान न दो और खाली हाथ ही वहाँ से चले आओ। परन्तु जब सूर्योदय हो तो वे सब कंकर बहुमूल्य रत्न दिखायी दे—ऐसे

मूल्यवान् कि जिसका कोई अनुमान ही न हो सके, तब तुम्हारे साथियों को तो अत्यन्त हर्ष होगा और तुम ? तुम तो बस, पश्चात्ताप की अग्नि में ही जलते रहोगे। तुम्हारे साथी तो उन रत्नों को पाकर अत्यन्त सम्पन्न हो जायँगे और हाथी, घोड़े आदि तरह-तरह की भोगसामग्री सग्रह करके सुख भोगेगे और तुम अत्यन्त दीन और निर्धन रहकर भूख-प्यास का भी कष्ट सहोगे। तुम अपने साथियों से धन माँगोगे तो भी वे मना कर देंगे और कहेंगे कि तुम तो हमे मूर्ख समझ कर हँसते थे और तुमने हमारी बात पर कोई ध्यान ही नहीं दिया अब तुम उसका फल भोगो। ऐसी स्थिति मे तुम्हे कैसा पश्चात्ताप होगा और तुम किस प्रकार उस आग से सन्तप्त होगे ! इसी प्रकार जो लोग भगवद्दर्शन से वञ्चित है उन्हें परलोक में ऐसी ही अवस्था प्राप्त होगी।

यह ससार अँधेरे वन के समान है। यहाँ जप, तप, भजन रूप जो साधन है वे ही रत्नों के समान है। इस संसार में इन रत्नों का स्वरूप और मूल्य प्रतीत नहीं होता, इसी से ससारी जीव इन्हे ग्रहण नही करते और बड़ी चतुराई प्रकट करते हुए कहते है कि इस ससार के प्रत्यक्ष सुख को छोड़कर परलोक के परोक्ष सुख के लिये क्यों प्रयत्न करे—नकद को छोड़कर उधार के पीछे क्यो भटके ? ऐसे लोग परलोक मे निःसन्देह दुःखी होगे और पुकार-पुकार कर कहेंगे कि साधन करनेवाले ही परम-सुख के अधिकारी है। वहाँ उनका सुख देखकर इन्हे बड़ी जलन होगी, क्योंकि जिन पुरुषो ने साधन करके इस लोक में भगवान् का प्रेम और परिचय प्राप्त किया है उन्हें परलोक में प्रभु ऐसा परम-सुख प्रदान करेगे कि जिस नित्य-सुख के एक लव की तुलना भी माया के सारे भोग मिलकर नहीं कर सकते। वस्तुतः वह आत्मसुख ऐसा अद्भुत और अपार है कि उसके साथ किसी प्रकार के सुख का दृष्टान्त नहीं दिया जा सकता। वह तो सम्पूर्ण सुखों का सार-

सर्वस्व ही है। यह ऐसी ही बात है जैसे कोई जौहरी कहे कि इस रत्न का मूल्य सौ मुहर है, तो इसका यह अर्थ तो नहीं होता कि उसका आकार या भार सौ मुहरों के समान है। उसका तात्पर्य तो यही है कि मानो यह रत्न सौ मुहरो के सोने-चाँदी का सार है। इसी प्रकार आत्मसुख को जो सम्पूर्ण इन्द्रिय-सुखो से श्रेष्ठ बताया है वह आकार-प्रकार में उनके समान होने से नहीं, अपितु उन सब का सार होने से कहा है। वह सबका सार है इसी से उसका यहाँ विशेष रूप से विवेचन किया है।

इस प्रकार अब तुम तीन प्रकार की सूक्ष्म अग्नि को तो समझ गये। इसके साथ यह भी निश्चय जानो कि इन सूक्ष्म अग्नियो का दाह स्थूल अग्नि की अपेक्षा अत्यन्त तीक्ष्णहै। देखो,शरीर को स्वतः तो अपने दुःख का कोई ज्ञान होता नही है, शारीरिक दुःख का भान भी तभी होता है जब जीव की वृत्ति शरीर में होती है। इस प्रकार परम्परा से जीव ही शरीर के दुःख को अनुभव करने वाला है। फिर जो दुःख स्वय जीव में हो हो वह उसे कितना तीक्ष्ण जान पड़ेगा? अतः जीव के भीतर रहनेवाली होने से सूक्ष्म अग्नियाँ उसके लिये अत्यन्त दुःसह है। इस दुःख की दुःसहता का एक विशेष कारण यह भी है कि इस स्थिति में जीव की प्रत्येक अभीष्ट वस्तु का तो वियोग हो जाता है और विपरीत परिस्थिति सामने आ जाती है। यही शारीरिक दुःखों का भी कारण होता है। जैसे शरीर को इष्ट तो यह है कि वात-पित्तादि सब तत्त्वो की वृत्ति समान रहे तथा शरीर के सब अङ्गों का पारस्परिक सम्बन्ध भी बना रहे। किन्तु यदि अकस्मात् किसी विघ्न या शस्त्र के प्रहार से कोई अङ्ग कट जाय तो अगविच्छेद होने के कारण शरीर दुःखी हो जाता है। तथापि शस्त्र से तो केवल एक अङ्ग का वियोग होता है, अग्नि से तो सभी अङ्ग जलने लगते है। अतः शस्त्रो को अपेक्षा अग्नि से होनेवाली पीड़ा अधिक असह्य होती है। इसी प्रकार जीव को

इष्ट तो है भगवद्दर्शन और भगवत्परिचय, किन्तु वह इनसे तो वञ्चित रह जाता है और अनेकों प्रकार की विपरीत वासनाएँ उसके हृदय में घर कर लेती है। इसलिये जब वासना की सामग्री का वियोग होता है तो यह अत्यन्त दुःखमग्न हो जाता है और फिर उस दुःख का भी अन्त नही होता। ससार में भी जब कभी इसे कुछ चेत होता है तो इस दुःख का कुछ अनुमान हो जाता है, परन्तु यहाँ माया के भोगों में फँस कर यह ऐसा शून्य-चित्त हो जाता है कि इसे कुछ भी नहीं सूझता। फिर जब परलोक में उस विषयजनित शून्यता का अभाव हो जाता है तो इसे वह दुःख प्रत्यक्ष भासने लगता है। जैसे अर्द्धाङ्ग रोग के कारण यदि किसी पुरुष का बायाँ अङ्ग शून्य हो जाय तो उसे अग्नि का ताप प्रतीत नही होता पर जब वह शून्यता निवृत्त हो जायगी तो उसे उसकी तीक्ष्णता व्याकुल कर देगी। अतः परलोक में जब इसके हृदय की जड़ता दूर होगी तो इसे यह मानसी नरक की आग अत्यन्त तीक्ष्ण और उग्र प्रतीत होगी।

यह हृदयस्थ अग्नि कहीं बाहर आकर जीव को नहीं जलाती। इसका बीज तो पहले से ही जीव के अन्तरस्थित था। केवल परिचय न होने के कारण यह उसे नहीं जानता था। जब यह बीज बढ़ कर वृक्ष हो गया तो इसे प्रत्यक्ष भासने लगा। और अब तो यह उसके फलो को भोग रहा है। इसी पर भगवान् ने भी कहा है कि यदि तुम्हारी प्रीति दृढ़ होती तो तुम नरक को यहाँ ही प्रत्यक्ष देख सकते थे। शास्त्रों में जो स्थूल स्वर्ग और स्थूल नरकों का विशेष वर्णन है इसका कारण यही है कि ससारी जीव तो इन्हीं को समझ सकते है। ये लोग जब मानसी नरकों की बात सुनते हैं तो बुद्धिहीनता के कारण उन्हें बहुत तुच्छ समझते है। जैसे किसी बालक से कहो कि तू विद्या पढ़, यदि विद्या नहीं पढ़ेगा तो तुझे पिता का ऐश्वर्य प्राप्त नहीं होगा, मूर्ख ही बना रहेगा—तो

उस पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि पिता का ऐश्वर्य न मिलने से क्या दुःख होता है इसका उसे कुछ पता ही नहीं है। किन्तु यदि उससे कहा जाय कि तू विद्या नहीं पढ़ेगा तो अध्यापक जी तेरे कान मलेगे, तो वह भयभीत हो जाता है और यह दुःख तत्काल उसकी समझ में आ जाता है। तथापि विद्या न पढ़ने पर अध्यापक जी के द्वारा ताडित होने का दुःख भी सत्य है और पिता के ऐश्वर्य से वञ्चित रहने का भी। इसी प्रकार स्थूल नरक भी सत्य है और मूर्खतावश भगवद्दर्शन से वञ्चित रहने की अग्नि भी सत्य है किन्तु इनमें भगवद्दर्शन से वञ्चित रहने की आग ऐसी है जैसा पिता के ऐश्वर्य से वञ्चित रहने का दुःख।

— — —

नवीं किरण

मानव जीवन की चार मंजिलों का वर्णन

प्रश्न— आप कहते है कि मानसी नरकों को अनुभव की दृष्टि से ही देख सकते है और विद्वानों का कथन है कि शास्त्रों ने परलोक के विषय में विश्वास को ही प्रमाण माना है, वे कहते है कि अपनी दृष्टि से परलोक को देखना असम्भव है। सो इस विरोध का सामञ्जस्य कैसे किया जाय ?

उत्तर—इस विषय पर पहले भी कहा जा चुका है। यदि ध्यान देकर देखा जाय तो इनमें कोई विरोध भी नहीं है। शास्त्र में जिस प्रकार परलोक का वर्णन किया है सामान्यतया उसका ज्ञान विश्वास के आधार पर ही हो सकता है। विद्वानों में भी बहुत तो ऐसे ही हुए है जिनकी बुद्धि इन्द्रियदेश से बाहर नहीं गयी, चैतन्यदेश को उन्होंने देखा ही नही था। किन्तु कुछ बुद्धिमान ऐसे भी हुए है जिन्होने परलोक और मानसी नरको को प्रत्यक्ष अनुभव की दृष्टि से देखा था। तथापि इस बात को उन्होंने इसलिये प्रसिद्ध नही किया कि अधिकांश लोग इस मानसी दुःख को समझ नहीं सकते तथा हर किसी की बुद्धि में ऐसा बल भी नही होता कि अल्पमति जीवों को चैतन्यदेश का रहस्य हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष दिखा सके। इसे तो जिस पर भगवान् की विशेष कृपा होती है वह स्वयं ही देखता है और युक्तिपूर्वक दूसरों को समझा भी सकता है। किन्तु ऐसे पुरुष संसार मे विरले ही होते हैं। अतः स्थूल नरकों का भेद तो सामान्यतया शास्त्रो को सुन कर और उन पर

विश्वास करके ही जान सकते है। किन्तु मानसी नरकों का ज्ञान अपने स्वरूप की पहचान होने पर ही हो सकता है। तथा अपने स्वरूप की पहचान और बुद्धिरूप नेत्रों के द्वारा चैतन्य का साक्षात्कार—ये पुरुषार्थ और यत्न के मार्ग से चलने पर ही हो सकते है। अतः इस परम-पद को वही पाता है जो अपने देश से चल कर किसी अन्य देश में पहुँचे और जिस स्थान में यह जीव उत्पन्न होकर स्थित है उसे त्याग कर आगे चलने का उद्यम करे।

किन्तु यह जो मैंने अपने देश और स्थान को त्यागने की बात कही है, इसका अर्थ यह नही है कि किसी स्थूल देश या गृह को त्याग कर चलना है, क्योंकि इनका सम्बन्ध तो स्थूल शरीर से है, अतः इन्हें त्यागने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होगा। मैंने तो जीव के देश त्यागने की एक विशेष बात कही है। उसका तात्पर्य यह है कि जीव का वास्तविक देश तो दूसरा है, इस शरीर मे तो यह किसी कार्य-विशेष के लिए आया है। किन्तु इसने इसे ही अपना देश समझ लिया है। ऐसा होने पर भी इसे इस स्थूल देश से जाना और सूक्ष्म देश में पहुँचना अवश्य पडेगा। इसके रास्ते में कई मंजिले हैं और उनके भिन्न भिन्न व्यवहार है। इसकी स्थिति का पहला स्थान है इन्द्रियादिक देश, दूसरी मञ्जिल है सङ्कल्प देश और तीसरा देश सङ्कल्प की हेतुभूता जगत्प्रतीति है, जिसे स्थूलबुद्धि भी कहते है। इससे आगे चोथा सूक्ष्मबुद्धि का देश है। जब यह जीव इस सूक्ष्म देश में पहुँचता है तब इसे अपने स्वरूप का ज्ञान होता है, पहले तीन देशों में तो यह अज्ञान से आच्छादित रहता है।

मै ने जो चार मंजिले कही है ये दृष्टान्तों के द्वारा समझ में आ सकती है। पहले इन्द्रियादिक देश में इस जीव की दशा पतंग की तरह होती है। पतंग नेत्रेन्द्रिय के विषय में आसक्त होकर दीपक के ऊपर गिरता है। उसमें किसी प्रकार के सङ्कल्प या चिन्तन

करने की तो योग्यता होती नहीं। वह चाहता है अन्धकार से बचने के लिये खिड़की के मार्ग से बाहर निकलना, और दीपक को ही वह खिड़की समझ बैठता है। इसलिये बार-बार उसी की ओर जाता है। धूएँ के कारण वह पीछे की ओर लौटता भी है, किन्तु उसमें इतनी समझ भी नही होती कि धूएँ के दुःख को याद रखे और पुनः उस ओर न जाय। अतः वह फिर दीपक ही की ओर जाता है और अन्त में उसी में जल मरता है। यदि उसमें कुछ भी स्मृति और चिन्तनशक्ति होती तो एक बार दुःख पाकर वह पुःन उसकी ओर न जाता।

दूसरा सकल्प का देश पशुओं की तरह है। पशु को जब एक बार लाठी लगने के दुःख का अनुभव हो जाता है तो दूसरी बार लाठी दिखाने पर वह भयभीत होता है। उसे उस लाठी का दुःख स्मरण रहता है। इसी प्रकार जब यह मनुष्य सकल्प के देश मे रहता है तो इसकी अवस्था पशुओं के समान होती है। इसी से जब तक यह किसी पदार्थ से दुःखी नही होता तब तक उसका त्याग भी नहीं करता। परन्तु जब उसके दुःख का अनुभव हो जाता है तो उसे देखते ही भागने लगता है।

तीसरी मंजिल है स्थूल बुद्धि की, जो संकल्प की हेतु है। जब मनुष्य इस मंजिल में पहुँचता है तो उसकी अवस्था घोड़े और बकरी के समान होती है। इस स्थिति में वह पहले दुःख का अनुभव किये बिना ही दुःखदायक पदार्थों से भय मानने लगता है और वह समझ जाता है कि इससे मुझे दुःख प्राप्त होगा। जैसे बकरी ने कभी पहले भेड़िये को और घोड़े ने सिंह को देखा न हो तो भी जब वे अकस्मात् इनके सामने आयेंगे तो ये देखते ही भगने लगेंगे। किन्तु ऊँट या हाथी को देखकर नही भागेंगे। इस प्रकार इस अवस्था में स्वभाव से ही शत्रु और मित्र की पहचान हो जाती है। यह पहचान भी सूक्ष्म दृष्टि से ही होती है और

भगवान् ने इन जीवों को वह सूक्ष्म दृष्टि प्रदान की है। परन्तु फिर भी ये इस भेद को नहीं जानते कि कल क्या होगा।

इस आगामी दुःख को पहचानना और उससे भय मानना—यह अवस्था चौथी मजिल में प्राप्त होती है। यह मजिल सूक्ष्मबुद्धि की है। मनुष्य जब इस अवस्था को प्राप्त होता है तभी पशुओं के पद से ऊपर उठता है। इससे पहले की तीन मंजिलों मे तो वह पशुओं के समान ही होता है। किन्तु यह सूक्ष्म बुद्धि का देश भी सम्पूर्ण मानव के पद की प्रथम अवस्था ही है। इस समय यह उस चोज को देख सकता है जिस तक इन्द्रिय संकल्प और स्थूलबुद्धि की गति नही होती और जिस वस्तु से भविष्य में दुःख हो सकता है उससे भय करने लगता है। साथ ही कर्मो के सारे भेद को और उस भेद के कारण कर्मो के आकार-प्रकार को भी समझने लगता है। उसे सब पदार्थो की मर्यादा का भी बोध हो जाता है और वह समझता है कि इस दृश्य-जगत् में जितने पदार्थ है वे सभी नाशवान है, क्योकि इन्द्रियों के विषय होने से ये सभी स्थूल है।

यहाँ जो चार मजिले बतायी गयी है इनमें इन्द्रियादिक देश की क्रियाएँ तो पृथ्वी पर चलने-फिरने के समान सभी के लिये सुगम है। संकल्प देश की क्रियाएँ ऐसी है जैसे नौका पर बैठ कर चलना। नौका पर बड़े आदमियों को तो कोई भय नही होता, किन्तु बालक डरता है। इसके आगे स्थूलबुद्धि जो संकल्पों का कारण है उसकी क्रियाएँ तैरने के समान है। जल में वही आदमी तैर सकता है जो इस कला में कुशल हो, प्रत्येक सयाना आदमी भी तैर नही सकता। तथा चौथी जो सूक्ष्मबुद्धि की मजिल है उसकी स्थिति मेघमण्डल में उड़ने के समान है। वहाँ कोई विरला शक्तिसम्पन्न पुरुष ही उड़ सकता है। यद्यपि इस अवस्था का प्राप्त होना भी अत्यन्त कठिन है, तथापि ज्ञानवान् महापुरुषों का पद

तो इससे भी परे है। उस परमपद की गति तो ऐसी है जैसे कोई महाकाश में उड़ान भरे। इसी से जब महापुरुष से किसी ने कहा कि महात्मा ईसा जल पर चलते थे, तो वे बोले, "यह बात सत्य है, किन्तु यदि उनका अनुभव अत्यन्त दृढ़ होता तो वे आकाश मे भी उड़ सकते थे।"

इस प्रकार इस मनुष्य की जो इन सब मजिलो में गतियाँ है उनका लक्ष्य तो ज्ञान का ही देश है। इन विभिन्न गतियो के द्वारा यह पशुओ की अवस्था से देवताओं की स्थिति में पहुँच सकता है। इसी से कहा है कि अधोगति या ऊर्ध्वगति में जाने का अधिकार केवल मनुष्य को ही है और इसलिये मनुष्य में ही यह आशंका रहती है कि न जाने मैं अधोगतिरूप रसातल में जाऊँगा या देवलोक रूप ऊर्ध्वगति प्राप्त करूँगा। इसका कारण यह है कि जितने जड़ पदार्थ है उनकी अवस्था तो कभी बदलती नहीं, क्योंकि उनमें चेतनता का अभाव है, इसलिये वे निर्भय है। तथा देवता है ईश्वर कोटि में, वे अपने शुद्ध स्वरूप से कभी च्युत नहीं होते, इसलिये उन्हें भी किसी प्रकार के उत्थान या पतन की आशंका नहीं है। केवल मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जो शुभकर्मो के द्वारा उर्ध्वगति और अशुभ कर्मो के द्वारा अधोगति प्राप्त कर सकता है। इसलिये उसे ही ऐसी शङ्का भी रहती है। तथा यह जो कहा है कि भगवान् ने अपनी भक्ति और प्रेम की अमानत (धरोहर) मनुष्य को ही सौपी है, उसका भी यही तात्पर्य है।

परन्तु मनुष्य भी नगरनिवासी और परदेशी की तरह दो प्रकार के होते है। इन दोनो की स्थितियों में बहुत अन्तर रहता है। अधिकांश लोग तो नगरवासियों की तरह अपने स्वभाव में ही स्थित रहते है। परदेशी की तरह रहनेवाले जिज्ञासुजन तो विरले ही है। जिस पुरुष की स्थिति इन्द्रियादिक देश या सकल्पों के देश में ही रहती है उसे यथार्थ भेद की समझ नही हो

सकती और न वह देहातीत पद को ही प्राप्त कर सकता है। इसी से शास्त्रों में भी चैतन्य-सत्ता का विशेष वर्णन नहीं है। अतः मैं भी इस प्रकरण को यहीं समाप्त करता हूँ। स्थूल-बुद्धि पुरुष तो इतना भी नहीं समझ सकते, फिर इससे आगे का रहस्य तो उनकी बुद्धि कैसे ग्रहण कर सकती है?

दसवीं किरण

परलोक में विश्वास रखने की आवश्यकता

कितने ही मनुष्य तो ऐसे मूर्ख होते है कि वे परलोक की गति को अपनी बुद्धि से तो देख नहीं सकते और सन्तों के वचनों में भी उनका विश्वास नही होता, इसलिये इस विषय में वे संदिग्ध ही रहते है, तथा भोगवासनाओं की प्रबलता के कारण परलोक को अस्वीकार भी कर देते है। यह सब उनके मन की ही धृष्टता है। वे समझते है कि सन्तों ने नरकों का वर्णन जीवों को डराने के लिये किया है और स्वर्गो का उल्लेख उन्हें प्रलोभित करने के लिये, वास्तव मे नरक या स्वर्ग नाम की कोई चीज नहीं है। ऐसा मानकर वे भोगो मे आसक्त रहते है और सन्तों की आज्ञा के विपरीत आचरण करते है। जो लोग शास्त्रमर्यादा का अनुसरण करते है उन्हें वे मूर्ख समझ कर हँसते है और कहते है कि ये तो मर्यादा की डोरी में बॅधे हुए है। ऐसे बुद्धिहीन नास्तिक पुरुषो को परलोक की गति किसी प्रकार समझायी नहीं जा सकती। हॉ, यदि इनमे से किसी की कुछ श्रद्धा हो तो ऐसा कह सकते है कि भाई ! यदि तुम्हारी बात सच मानी जाय तो अनेको सन्त और आचार्यगण, जिन्होने बड़ी-बड़ी तपस्याएँ की है, झूठे हो जायेंगे। वे क्या सब धोखे ही में थे ? यह विषय तो अत्यन्त गुह्य है, तुमने बिना ही कुछ साधनादि किये इसके विषय में कैसे निर्णय कर लिया ? इस विषय मे तुम्हारा विचार कैसे प्रामाणिक माना जा सकता है। वास्तव मे वे न तो झूठे है और न धोखे ही में

थे, इस विषय में तो तुम्हीं अनभिज्ञ हो। तुम्हें न तो परलोक के रहस्य का पता है और न आत्मा-अनात्मा का विवेक ही है।

इस पर भी वह मूर्ख अपनी भूल स्वीकार न करे और हठपूर्वक कहने लगे कि हमें तो इस बात का हस्तामलकवत प्रत्यक्ष ज्ञान है कि इस समय भी शरीर मे उससे भिन्न किसी चेतनतत्त्व को मानना सर्वथा मिथ्या है तथा मरने के पीछे भी उसका नाश नही होता यह बात भी कोरी कपोल-कल्पना है, क्योकि शरीर के सब व्यापार तो प्राणवायु के द्वारा ही सम्पन्न होते है, अतः परलोक के सुख-दुःख कल्पनामात्र ही है। जब किसी का ऐसा निश्चय जान पड़े तो समझो कि इसकी बुद्धि तो मूल से ही नष्ट है। वह तो महामूर्ख है, उसे समझाने की चेष्टा करना व्यर्थ है। इसी पर किसी सन्त को आकाशवाणी हुई थी कि तुम नास्तिकों को उपदेश मत करो, क्योकि ये मूर्ख वचनो से समझनेवाले नहीं होते। किन्तु जब वह इस प्रकार प्रश्न करे कि परलोक की बात होगी तो निःसन्देह सत्य, किन्तु हमारे लिये तो वह बहुत आगे की चीज है, क्योंकि वह हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष तो है नही, फिर ऐसी अनिश्चित स्थिति के पीछे वर्तमान भोगों को क्यों त्यागे तथा सारी आयु वैराग्य और तपस्या का दुःख ही क्यो सहे? तो उससे इस प्रकार कहना चाहिये, "भाई, यदि तुम्हें परलोक की बात मानने योग्य जान पड़ती है तो तुम्हारे लिये यह आवश्यक हो जाता है कि सन्तो की निश्चित की हुई मर्यादा के अनुसार आचरण करो, क्योंकि जिस कार्य में किसी भारी भय की आशका हो उसे तो सदिग्ध होने के कारण भी त्यागना अच्छा है। देखो, यदि तुम्हारे सामने भोजन आवे और तुम्हे भूख भी खूब लगी हो, किन्तु यदि कोई कह दे कि इस भोजन में सर्प ने मुँह डाला है, तो तुम उसे त्याग दोगे या नही? उस समय तुम्हें ऐसा भी निश्चय हो कि यह आदमी झूठा है, इसलिये अपने

किसी लाभ के लिये ही ऐसा भय दिखाता होगा, तो भी तुम उस भोजन को अगीकार नहीं करोगे। कारण कि, तुम्हें सन्देह होता है कि सम्भव है, वह सच ही कह रहा हो, इसलिये भोजन छोड़ने में हानि भी क्या है, मरने की अपेक्षा तो भूखा रह जाना भी अच्छा है। अतः भोजन में मृत्यु की सम्भावना देख कर तुम भूखे रह जाते हो। इसी प्रकार जब तुम्हें कोई रोग हो और तुम से कोई कहे कि मै एक यन्त्र लिख दूँगा, बस उससे तुम्हारा रोग दूर हो जायगा, तो उस समय यद्यपि तुम्हें पूरा विश्वास नही होता और तुम समझते हो कि यन्त्र और रोग का कोई सम्बन्ध नही है, फिर भी सोचते हो कि यदि थोड़ा सा धन देकर मै यन्त्र लिखवा लूँगा तो हानि क्य। है? सम्भव है, इससे रोग दूर हो ही जाय। यदि रोग मिट गया तो बड़ा भारी लाभ होगा। इसी प्रकार ज्यौतिषियो की बात मान कर तुम देवपूजन भी कर लेते हो। वहाँ भी तुम यही सोचते हो कि यदि इनकी बात ठीक हुई तो मुझे बड़ा भारी सुख प्राप्त होगा और यदि झठ हुई तो देव-पूजन मे ऐसा परिश्रम भी क्या पड़ता है? जब ऐसी बात है तो उन ज्यौतिषी और यन्त्र लिखनेवालों की अपेक्षा उत्कृष्ट जो असंख्य सन्तजन, अवतार, महापुरुष, आचार्य और अवधूत हो गये है, उनके वचन बुद्धिमानों की दृष्टि में तुच्छ तो नहीं होने चाहिये। इसी से जिज्ञासुजन विश्वास करके यत्नपूर्वक सन्तों के वचनो पर स्थिर रहते है और निःसन्देह परलोक के दुःखों से मुक्त हो जाते है।

'और तुमने जो वैराग्यादि के दुःखों की बात कही, सो परलोक के दुःखों के सामने तो वे अत्यन्त तुच्छ है। भला, सोचो तो, इस जगत् में जीना ही कितने दिन है? परलोक की अवस्था का तो कभी अन्त ही नही आता। अतः परलोक के दु ख से मुक्त होने के लिये इस जगत् में जो यत्न किया जाता है उस दुःख

की गणना ही क्या है, वह तो केवल नाममात्र है। अतः इस जीव को चाहिये कि सन्तों के वचनों में विश्वास रखे और समझे कि यदि मैं उनके आदेश का उल्लङ्घन करूँगा तो चिर-काल तक दुःख भोगता रहूँगा और उन दुःखों से मेरा किसी प्रकार छुटकारा नहीं होगा। इन्द्रियादि के भोग तो कुछ ही समय में नीरस हो जाते है, इनसे मुझे क्या लाभ होगा? परलोक का दुःख तो अनन्त है। यदि सारे ब्रह्माण्ड को राई के दानों से भर दिया जाय और उन्हें कोई ऐसा पक्षी भक्षण करे जो हजार वर्षो में एक ही दाना खाता हो, तो कभी न कभी उस अन्न का अन्त तो हो सकता है किन्तु परलोक के दुःख का अन्त कभी नहीं होगा। ऐसा अनन्त दुःख चाहे मानसिक हो अथवा स्थूल उसे सहन करना बड़ा ही कठिन है। उस दुःख के सामने इस ससार में जीव की आयु ही कितनी है? अतः जो बुद्धिमान् है वह समझता है कि विचारपूर्वक मर्यादा में चलना और दोषदृष्टि के द्वारा अपकर्मो को त्यागना ही उचित है, क्योंकि जिस कार्य में महान् कष्ट की सम्भावना हो उससे तो अनुमान के आधार पर बचे रहना भी अच्छा है। ऐसा करने में कुछ कष्ट भी उठाना पड़े तो भी कोई हानि नहीं। देखो, सब लोग व्यवहार-सिद्धि के लिये जहाज़ों पर बैठ कर विदेशों को जाते है, वहाँ भी उन्हें अनुमान का आश्रय लेना पड़ता है। इसलिये जिस पुरुष का परलोकवाद मे पूरा विश्वास न हो, केवल अनुमान से ही उसमें कुछ आस्था होती हो, उसे भी वहाँ के दारुण दुःखों से बचने के लिये धैर्यपूर्वक वैराग्यादि का कष्ट सहन करना ही चाहिये। इस विषय में किसी नास्तिक की महात्मा अली के साथ बात-चीत हुई थी। जब उसने कहा कि परलोक के सुख-दुःख तो सब लोग अनुमान के आधार पर ही मानते हैं, किसी ने उन्हें प्रत्यक्ष नहीं देखा तो अली कहने लगे, 'अच्छा, यदि तेरा ही कथन सत्य हो

तब तो हम और तू दोनों ही मुक्त हो जायेंगे; और यदि मेरी बात ठीक हुई कि परलोक है तो हम मुक्त हो जायेंगे; किन्तु तुझे अनन्तकाल तक परलोक का कष्ट भोगना पड़ेगा।' अली ने जो यह सन्देहयुक्त वाक्य कहा था वह केवल उस नास्तिक की बुद्धि में बिठाने के लिये था, स्वयं उन्हें परलोक की सत्ता के विषय में कोई सन्देह नहीं था। किन्तु वे समझते थे कि जिस प्रकार हम परलोक को भलीभाँति देख सकते है वैसे यह मूर्ख तो देख नहीं सकता, इसलिये उन्होंने उसी के मत को सामने रख कर उसे शुभ कर्मों में प्रवृत्त करने की चेष्टा की।

अतः याद रखो, जो लोग इस संसार में आकर परलोक के लिये तोशा नहीं बनाते, बल्कि अन्यान्य कार्यों में लगे रहते है वे निःसन्देह अत्यन्त मूर्ख है। उनकी इस मूर्खता का कारण विषयों की प्रीति ही है। वे विषयासक्ति में ऐसे डूबे रहते हैं कि कभी परलोक के विषय में विचार ही नहीं करते। किन्तु जिन्हें परलोक में विश्वास है उन्हें तो वहाँ के दुःखों से भयभीत होना ही चाहिये तथा संयम और सावधानी के मार्ग से ही चलना चाहिये।

इस प्रकार जब तुमने इन चार उल्लासों में अपने, भगवान् के, माया के और परलोक के स्वरूपों की पहचान के विषय में अनुशीलन करके यह जाना कि इस जीव की भलाई सर्वथा श्री भगवान् के भजन और उनकी पहचान ही में है तो आगे भगवान् के भजन और उनकी आज्ञापालन के विषय में भी श्रवण करना चाहिये। इन विषयों का आगे के चार उल्लासों में वर्णन किया जायगा और इनके वर्णन में ही यह ग्रन्थ समाप्त होगा। अतः आगे के उल्लासों में जिन विषयों का वर्णन होगा उनका विवरण क्रमशः इस प्रकार है—

पंचम उल्लास—भगवान के भजन और सत्कर्मों में स्थित होना।

षष्ठ उल्लास—समस्त शारीरिक क्रियाओं को विचार की मर्यादानुसार करना।

सप्तम उल्लास—चित्त के मलिन स्वभावों का शोधन।

अष्टम उल्लास—हृदय को सत्स्वभावों से सम्पन्न करना।

---

(५)

पंचम उल्लास

(भगवान् के भजन और सत्कर्मो में स्थित होना)

पहली किरण

भगवान् के स्वरूप, ऐश्वर्य और गुणों का वर्णन

सब कोई कहते है कि भगवान् एक है। अतः सब जीवों का इतना ही अधिकार है कि इस बात को समझे और इस पर ऐसा विश्वास जमावे कि उसमें किसी भी प्रकार के भ्रम या संशय का तनिक भी प्रवेश न होने पावे। जब इस प्रकार चित्त मे निश्चय हो गया और उसमें बाल के बराबर भी सन्देह नहीं रहा तो इसी को सद्धर्म का मूल मानना उचित है। विद्याध्ययन और प्रश्नोत्तर करने का अधिकार हर किसी को नहीं है। इसी से सन्तों और महापुरुष ने भी हृदय की सचाई और विश्वास की दृढ़ता रखने का ही उपदेश किया है। और इसी को संसारी पुरुषों का अधिकार बताया है। ऐसे भी बहुत विद्वान् होते है जो वचनों का रहस्य समझते है, उसे युक्तिपूर्वक दूसरों को समझा भी सकते हैं और प्रश्नों का उत्तर देकर लोगों के संशयों को भी दूर कर सकते है। उन्हीं को 'पण्डित' कहा जाता है। ऐसे विद्वान् ससारी लोगों के विश्वास की रक्षा करनेवाले है। किन्तु पहचान का रहस्य और पहचान का वास्तविक स्वरूप केवल पण्डित या वक्ता होने से तथा ससारी पुरुषों की दृष्टि मे अनुभवी कहाने से सर्वथा भिन्न है। उसका मार्ग तो पुरुषार्थद्वारा ही प्राप्त हो सकता है। जब तक यह पुरुष परमार्थ के मार्ग में दृढ़ पुरुषार्थ और यत्न न करे तब तक पहचान की पूर्ण अवस्था को प्राप्त नहीं कर सकता। साथ ही, उसे इसका अभिमान भी नहीं होना चाहिये। तथा ऐसे

पुरुष के लिये अधिक पढ़ना-लिखना और शास्त्रविचार भी निष्फल ही होता है। यही नहीं प्रत्युत कुछ विपरीत ही पड़ता है। जैसे कोई रोगी पुरुष औषध सेवन तो करे, किन्तु कुपथ्य न त्यागे, तो अधिकतर तो उसकी मृत्यु हो जायगी, अन्यथा रोग तो बढ़ ही जायगा, क्योंकि बिना पथ्य किये तो औषध से भी रोग ही बढ़ता है। इसी से मैंने पहचानने के विषय में चार उल्लास पहले ही वर्णन कर दिये है।

किन्तु इस वचन के रहस्य को ठीक-ठीक वही पुरुष जान सकता है जिसकी माया के किसी पदार्थ में आसक्ति न हो और जो अपनी सारी आयु भगवान् के प्रेम में ही व्यतीत करता हो। इस परमपद का पाना वास्तव में अत्यन्त दुर्लभ है, यह कठिन प्रयत्न करने पर ही प्राप्त हो सकता है। अतः मैं सब जीवों के अधिकार की बात का उपदेश करता हुँ, इसे सभी को अपने हृदय में दृढ़तापूर्वक धारण करना चाहिये। यह विश्वास ही उनके सद्-भावो का बीज होगा।

(भगवान् का स्वरूप)

याद रखो, तुम उत्पन्न किये हुए हो और तुम्हें उत्पन्न करनेवाले भगवान् है तथा वे ही सम्पूर्ण विश्व के भी उत्पत्तिकर्ता है। वे एक है, उनके समान और कोई समर्थ नहीं है और वे भी किसी के सदृश नहीं कहे जा सकते। वे अनादि और अनन्त है, कभी उनका अन्त नहीं होता। वे सत्यरूप है, कभी उनकी असत्यता नही होती तथा वे स्वतःसिद्ध है, अन्य सब पदार्थों की स्थिति उन्ही के आश्रित है। तात्पर्य यह है कि वे किसी के अधीन नहीं है। किन्तु अन्य सब पदार्थ उन्ही के अधीन है। उनका स्वरूप सब से निर्लिप्त है, अतः उसे किसी का कारण या कार्य नहीं कह सकते, तथा वह देह के बन्धन से भी रहित है। उनके स्वरूप की

समता किसी भी रूप या आकार से नहीं दी जा सकती। वे रूप और रंग से परे हैं, अतः मनुष्य के सकल्प में जो कुछ आता है उससे वे विलक्षण ही है। सकल्प और बुद्धि में आने वाले तो सारे पदार्थ उनके उत्पन्न किये हुए है और उनका स्वरूप उत्पन्न हुई सभी वस्तुओं से भिन्न है। उनमें किसी प्रकार की मर्यादा अथवा घटना-बढ़ना भी नहीं है, क्योंकि ये शरीर के स्वभाव है और भगवान् अशरीर है। अतः उन्हें न तो किसी स्थान में कहा जा सकता है और न किसी स्थान से परे ही कह सकते है। वास्तव में उनका स्वरूप स्थान की कोई अपेक्षा ही नहीं रखता, और न वह किसी स्थान को ग्रहण करनेवाला ही है, क्योंकि देहादि के साथ उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं है। यह सारी सृष्टि तो ईश्वरों (अधिष्ठातृ-देवताओं) के अधीन है और वे ईश्वर प्रभु के अधीन है। भगवान् को जो वैकुण्ठ, में बताया जाता है उसका तात्पर्य यह नहीं समझना चाहिये कि जैसे कोई स्थूल शरीर किसी स्थूल देश में रहता है, क्योंकि वे स्थूल तो है ही नही। इसका तात्पर्य यही है कि वैकुण्ठ और वैकुण्ठवासी सब देवता उनकी शक्ति के अधीन है।

भगवान् जैसे सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व थे वैसे ही अब है और सृष्टि का अन्त होने पर भी वैसे ही रहेंगे। अतः वे एकरस हैं, उनके स्वरूप में किसी प्रकार का परिणाम होकर घटना-बढ़ना कुछ नहीं होता। यदि वे घटे तो उन्हें भगवान् कह ही नहीं सकते और यदि बढ़ें तो पहले कुछ न्यूनता माननी होगी, इसलिये भी उन्हें भगवान् नहीं कहा जा सकता, अतः वे नित्य एकरस है। उनका स्वरूप सारी सृष्टि से निर्लेप है, पर तो भी इस लोक में बुद्धि के

× वैकुण्ठ का अर्थ यहाँ मुस्लिम शास्त्रप्रोक्त चौथा आसमान समझना चाहिये।

द्वारा उसकी पहचान हो सकती है और परलोक में देहादि का अभिमान दूर होने पर उनका दर्शन हो सकता है । किन्तु जिस प्रकार बुद्धि के द्वारा वे रूप-रंग से रहित समझे जाते हैं उसी प्रकार परलोक में उनका दर्शन भी रूप-रंग से रहित ही होता है। स्थूल दर्शन की तरह उनका दर्शन नहीं होता।

(शक्ति और सामर्थ्य)

भगवान् का सामर्थ्य भी पूर्ण है। उनमें किसी प्रकार की दीनता अथवा पराधीनता के लिये अवकाश नहीं है। उन्होंने जो चाहा है वह किया है और भविष्य में भी वे जो चाहेंगे वही करेंगे। चौदह लोक और वैकुण्ठादि नित्यधाम उन्हीं की मायाशक्ति के अन्तर्गत है और उन्हीं की आज्ञा का अनुवर्तन करते हैं। उनमें और ऐसे किसी का भी कोई अधिकार नहीं है जो स्वय अपनी कोई शक्ति रखता हो। इसी से कोई भी उनके समान, उनसे बढ़-कर अथवा उनका प्रतिद्वन्द्वी नहीं है।

(ज्ञान)

इसी प्रकार उनका ज्ञान भी पूर्ण है। वे स्वयं अपने ज्ञान से ही सम्पूर्ण पदार्थों के ज्ञाता है। जहाँ जो कुछ जानने योग्य है उसे वे पहले से ही जानते है। सम्पूर्ण पदार्थों में उन्ही का ज्ञान ओत-प्रोत है। आकाश और पाताल में कोई भी पदार्थ उनके ज्ञान से बाहर नहीं है, क्योंकि सब उन्हीं के उत्पन्न किये हुए और उन्हीं में स्थित है। इसी से पृथ्वी के रजःकण, वृक्षों के पत्ते, जीवों के श्वास और हृदयो के संकल्प आदि सभी पदार्थ प्रभु के सकल्प में इसी प्रकार हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष भास रहे है जैसे हमारी दृष्टि में आकाश और पृथ्वी।

(इच्छा)

संसार में जो कुछ है सब उन्ही की इच्छा और आज्ञा के

अधीन है । सूक्ष्म-स्थूल, लघु-दीर्घ, विधि-निषेध, पुण्य-पाप, सम्मुखता-विमुखता, लाभ-हानि, सुख-दुःख, रोग-आरोग्य और धनिकता-निर्धनता आदि जितने भी द्वन्द्व है वे प्रभु की इच्छा और आज्ञा के बिना कभी नहीं बर्तते। अतः यदि भूत, प्रेत, मनुष्य, देवता आदि सारे जीव भी मिलकर भगवान् की रचना में कोई हेर-फेर करना चाहें तो वे उनकी आज्ञा के बिना कुछ भी नहीं कर सकते। वे उनके सामने सर्वथा असमर्थ है। जो कुछ प्रभु करना चाहते है वही होता है और जो वे नहीं करना चाहते वह नहीं हो सकता। उनकी आज्ञा ऐसी प्रबल है कि उसे कोई भी अन्यथा नहीं कर सकता। इसी से भूत, भविष्य और वर्तमान में जितने पदार्थ है वे सब उन्हीं की सत्ता और ज्ञान के आधार पर स्थित हैं।

(श्रवण और दृष्टि)

वे सब कुछ देखते, सुनते और जानते है । उनके सुनने में दूर और समीप का तथा उनके देखने में प्रकाश और अन्धकार का भी कोई भेद नहीं है। अर्थात् दूरी या अन्धकार से उनके सुनने या देखने में कोई बाधा नही पड़ती। अँधेरी रात हो अथवा दिन, बे पृथ्वी पर चलती हुई चींटी को भी देखते है और उसके पैरों की ध्वनि को भी सुनते है। तथापि उनका सुनना या देखना भी किसी संकल्प या विचार के अधीन नहीं है, वह स्वाभाविक ही है। तथा वे किसी आरम्भ या सामग्री के द्वारा उत्पत्ति भी नहीं करते।

(भगवद् वचन)

उनकी आज्ञा मानना समस्त जीवो का परम कर्त्तव्य है, क्योंकि उन्होंने जो कुछ कहा है वह निःसन्देह सत्य है। किन्तु उनकी आज्ञा का उच्चारण रसना, ओष्ठ, दन्त अथवा कण्ठ के द्वारा नहीं होता। जैसे जीव के मन में कोई संकल्प स्फुरित

होता है तो उसमें कोई शब्द या अक्षर का उच्चारण नहीं होता, वह स्फुरण सूक्ष्म और अखण्ड होता है। उसी प्रकार भगवान् का वचन तो उसकी अपेक्षा भी अत्यन्त सूक्ष्म होता है। अतः सन्तों के हृदय में जो आकाशवाणी हुई है वह सब भगवान् का ही वचन है। उसका प्राकट्य परा वाणी से होता है और फिर वही सन्तो के मुखो से संसार में प्रकट होता है। वे वचन भगवान् के विशुद्ध स्वभाव ही है और उनके सभी स्वभाव अनादि एवं अनन्त है। जैसे भगवान् के स्वरूप ज्ञान का प्रतिविम्ब जीवों की बुद्धि में प्रतिफलित होता है और उनकी रसना द्वारा प्रभु की स्तुति होती है, सो इनमें जाननेवाली बुद्धि तो उत्पन्न की हुई है, किन्तु भगवान् का स्वरूप उत्पन्न किया हुआ नहीं है। इसी प्रकार रसना से जो प्रभु की स्तुति करते है वह स्तवन तो उत्पन्न किया हुआ है, किन्तु जिनकी स्तुति की जाती है वे प्रभु अनादि और अनन्त हैं। ऐसे ही भगवान् के वचन भी, जो स्वतः उनके स्वभाव ही है, अनादि है। पर उन्हे प्रभु ने जीवो के हृदयों में छिपाकर रखा हुआ है। उन वचनो का वाणी से उच्चारण होता है और उन्हे जो कागज या पोथी में लिखते है, वह सब तो उत्पन्न किया हुआ है, किन्तु हृदय में छिपा हुआ जो उन वचनों का स्वरूप है और पोथी में लिखी हुई जो बात है तथा रसना से उच्चारण किये हुए शब्दों का जो अर्थ है वह उत्पत्ति से रहित है। इसी से वेदों❀ के अक्षर, कागज और शब्द तो उत्पन्न किये हुए है किन्तु उनमें निहित जो अर्थ है वह उत्पत्ति से रहित है, वह तो प्रभु का स्वभाव ही है।

(प्रभु की रचना)

मन और इन्द्रियों के द्वारा यह जो कुछ भासता है, सब

❀अथवा कुरान शरीफ के।

भगवान् की ही रचना है। इस कारीगरी को उन्होंने सर्वाङ्गपूर्ण बनाया है। इसमें किसी प्रकार की कमी नहीं है। यदि किसी के चित्त में ऐसा संकल्प हो कि अमुक पदार्थ ऐसा नहीं बनाना चाहिये था तो यह उसकी मूर्खता ही है। जिस रहस्य को सामने रखकर प्रभु ने उसकी रचना की थी उस रहस्य और गुण को वह नहीं समझता। यह ऐसी ही बात है जैसे कोई अन्धा किसी के घर मे जाय और उस गृहस्वामी ने सब सामग्री यथास्थान रखी हो; किन्तु न जानने के कारण वह अन्धा किसी वस्तु से ठोकर खाकर गिर जाय और कहने लगे कि तुमने यह चीज रास्ते में क्यों रख दी। यहाँ वह यह नहीं समझता कि चीज तो ठीक स्थान पर ही रखी है, मैं ही रास्ते से भटक गया हूँ। अतः भगवान् ने जो कुछ बनाया है वह सभी यथार्थ और विधिवत् है जैसा चाहिये था वैसा ही है; क्योंकि यदि उसमे कोई और विशेषता होना सम्भव हो और वह भगवान् ने नही की, तो इससे उनकी कृपाणता या असमर्थता प्रकट होगी; और भगवान् के विषय में ऐसी कल्पना करना अत्यन्त अनुचित है। अतः निश्चित हुआ कि दुःख, रोग, निर्धनता, मूर्खता, पराधीनता आदि जो कुछ उन्होने रचा है वह किसी यथार्थ उद्देश्य से ही है, क्योकि उनके द्वारा अन्याय होना कभी सम्भव नही है। अधिकार न होते पर भी दण्ड देना—इसका नाम है अन्याय, और प्रभु किसी को भी बिना अधिकार दण्ड नही देते। अन्याय तो वास्तव में वही कर सकता है जो पहले दूसरे के राज्य या प्रजा को अपने अधीन करे। भगवान् में तो यह बात सम्भव ही नही है, क्योकि उनके साथ कोई दूसरा भी ईश्वर हो—यह सर्वथा असम्भव है। भूत, भविष्य और वर्तमान में जो कुछ सृष्टि है उस सबके उत्पत्तिकर्ता एक-मात्र भगवान् ही है। वे किसी के अधीन नही है, किसी के समान भी नहीं है और न उनके समान ही कोई और है।

(परलोक)

परमात्मा ने दो प्रकार की सृष्टि रची है—स्थूल और सूक्ष्म। इनमें देहादिरूप स्थूल सृष्टि जीवन के लिये एक पड़ाव के समान बनायी है। यहाँ आकर जीव को अपना कार्य सिद्ध करना होता है। इसकी आयु भी निश्चित है, उसकी एक मर्यादा है। उसके बाद यह शरीर नष्ट हो जाता है। इसकी आयु निश्चित मर्यादा से न्यून अथवा अधिक नहीं हो सकती। अतः वह समय आने पर शरीर और जीव का सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है। परलोक में जाने पर भगवान् जीव को दूसरा शरीर धारण कराते है और जिसके जैसे कर्म होते है वे उसके सामने आते हैं। तब यह जीव अपनी बुराई और भलाई को परखता है। फिर उसे परलोक के कठिन मार्ग पर चलाया जाता है। यह मार्ग एक सेतु है, जो बाल की अपेक्षा भी सूक्ष्म और तलवार की धार से भी तीक्ष्ण है। जो पुरुष इस ससार में विचार की मर्यादा पर दृढ़ रहते है वे तो उस पुल को सुगमता से ही पार कर लेते हैं, किन्तु जिन्होने उस मर्यादा का उल्लङ्घन किया होता है वे उससे गिर कर नरको में पड़ते है। इस प्रकार भगवान् उस सेतु पर खड़ा करके सत्यनिष्ठों की परीक्षा लेगे और विमुखों को लज्जित करेगे। वहाँ महापुरुषों को तो किसी प्रकार का कष्ट न होकर परम सुख प्राप्त होगा, किन्तु अन्य पुरुषों में से किन्हीं को कम और किन्हीं को अधिक दण्ड प्राप्त होगा। जिन पुरुषों को सन्त और आचार्यो की सहायता प्राप्त होगी वे तो उन दुःखों से मुक्त हो जायँगे, किन्तु तामसी लोग चिरकाल तक नरकों के दुःख भोगेगे। तात्पर्य यह है कि अपने-अपने पुण्य और पापों के अनुसार सभी जीवों को परलोक में सुख और दुःख प्राप्त होंगे।

(सन्त और आचार्य)

भगवान् ने यह सकेत रखा है कि सब जीव अपने कर्मो के

अनुसार फल भोगेंगे। किन्तु इस संकेत के प्रति कोई जीव भाग्यवान् है और कोई भाग्यहीन। भाग्यहीन पुरुष अपने कर्त्तव्य की पहचान नहीं कर सकते। इसी से उन्होंने सत और आचार्यों को भेजा है और अत्यन्त दया करके उन्हें यह आज्ञा की है कि जीवों को शुभाशुभ मार्गों का विवेक करायें तथा जो भाग्यवान् हैं उन्हें शुभमार्ग में प्रवृत्त करें। यह शुभ और अशुभ मार्गों का विवेक कराने का हेतु यह है कि जिससे भगवान् के प्रति किसी जीव का निहोरा न रहे कि हम तो शुभ-मार्ग को जानते ही नही थे। अतः संतों ने दया करके जिस प्रकार भलाई और बुराई का मार्ग प्रकाशित किया है उसमें कुछ भी सन्देह नहीं है—ऐसा विश्वास सभी लोगों को रखना चाहिये।

दूसरी किरण

पवित्रता के भेदों का निरूपण

श्री भगवान् ने अपने वचनों में कहा है कि मुझे जिस प्रकार विरक्त पुरुष प्रिय है वैसे ही पवित्र पुरुष भी अत्यन्त प्रिय है। किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि इस कथन से भगवान् ने शरीर और वस्त्रों की पवित्रता का उल्लेख किया है, क्योंकि ये पवित्रताएँ तो जल से हो जाती है, जो अत्यन्त स्थूल है। अतः यहाँ पवित्रता से क्या आशय है, इस पर तुम्हें ध्यान देना चाहिये। पवित्रता चार प्रकार की है, उसका विवरण इस प्रकार है—

१ - जीवात्मा की पवित्रता —अनात्मा से आत्मा को भिन्न करके सब पदार्थों को भूल जाना तथा अपने चित्त की वृत्ति को परमात्मा मे लीन कर देना। यह महापुरुषों की अवस्था है। जब तक जीव अनात्मा से शुद्ध नहीं होता तब तक वह परमात्मा के भजन में स्थित नहीं हो सकता।

२—हृदय की पवित्रता—इस पवित्रता का अर्थ है हृदय का मलिन स्वभावो से शुद्ध होना, अर्थात् हृदय ईर्ष्या, अभिमान, पाखण्ड, तृष्णा और शत्रुता आदि दूषित स्वभावो को त्याग दे तथा नम्रता, सयम, त्याग, धैर्य, भगवान् का भय, भगवदाश्रय और भगवत्प्रेम आदि सद्भावो से अपने को सुसज्जित करे। यह जिज्ञासुओं की पवित्रता है।

३—इन्द्रियों की पवित्रता—इन्द्रियसम्बन्धी सम्पूर्ण पापों को त्यागना; जैसे—निन्दा, झूठ, अशुद्ध जीविका, चोरी, परस्त्री के प्रति कुदृष्टि इत्यादि अपकर्मों से दूर रहना। सम्पूर्ण इन्द्रियों का संयम करना तथा सतजनों की आज्ञा का पालन करना। यह सात्त्विकी पुरुषों की पवित्रता है।

४—शरीर और वस्त्रो की पवित्रता—जलद्वारा शरीर और वस्त्रों को मलिनता से शुद्ध करना तथा अपवित्र अवस्था में जप-पूजा आदि पुण्य कर्मों में प्रवृत्त न होना। यह सामान्य ससारी पुरुषो की पवित्रता है।

इस प्रकार निश्चय हुआ कि यद्यपि पवित्रता चार प्रकार की है, तथापि अधिकांश लोग शरीर और वस्त्रों की स्वच्छता को ही पवित्रता समझ कर उसी में लगे रहते है; सो यह तो सबसे निम्न कोटि कि पवित्रता है किन्तु यही सबसे सुगम है और इससे मन को भी प्रसन्नता होती है, इसलिये सब कोई इसी को पवित्रता समझते है। ऊपर जो मलिन स्वभावों के त्यागद्वारा हृदय की पवित्रता और पापकर्मों के त्याग से इन्द्रियो की पवित्रताएँ कही गयी है उनसे मन को कोई स्थूल सुख प्राप्त नहीं होता। अतः इन सूक्ष्म पवित्रताओं पर लोगों की दृष्टि नही जाती। इन्हें तो भगवान् ही देखते है, दूसरे जीव इन्हें नहीं जान सकते। अतः सामान्यतया लोगों की इनमे रुचि नही होती, वे इन्हें अत्यन्त कठिन समझते है। शरीर की पवित्रता यद्यपि सबसे निम्न कोटि की मानी गयी है, तथापि एक सीमा तक यह भी बहुत अच्छी है। किन्तु यदि कोई इसी की आशंका में डूबा रहे तो उल्टा अपराधी और अभिमानी हो जाता है। जैसे बहुत से आचारी वैष्णवों का स्वभाव होता है कि हर समय पात्र और वस्त्रों को ही धोते रहते है और पवित्र जल की ही खोज में रहते है। ये सवदा

दूसरों से दूर ही रहते है और उन्हें अनाचारी समझते है। यद्यपि इस पवित्रता में भी कोई दोष नहीं है, तथापि यह तभी लाभदायक है जब छः युक्तियों के सहित हो। उनमें पहली युक्ति यह है कि जितने अवश्य करने-योग्य शुभ कर्म है उनसे दूर न रहे। जैसे—विद्या पढ़ना, संतों के वचन विचारना, अपने शरीर और सम्बन्धियों के निर्वाह के लिये शुद्ध जीविका उपार्जन करना, किसी से कुछ माँगने की इच्छा न रखना तथा किसी की आशा न रखना। इन कर्त्तव्यों को त्याग कर शरीर और वस्त्रों को धोते रहने में ही अपना समय न बितावे, क्योंकि शारीरिक पवित्रता की अपेक्षा ये सब कर्म अधिक उपयोगी है। पूर्वकाल में जो भक्त और जिज्ञासु-जन हुए है वे सब भी इस शारीरिक पवित्रता में लगे न रह कर शुद्ध जीविका, विद्या, विचार और भगवद्भजन आदि शुभ कर्मों में ही विशेष सावधान रहते थे तथा हृदय की पवित्रता के लिये अधिक प्रयत्न करते थे। इस समय भी जो ऐसा व्यक्ति हो उसके प्रति आचारी वैष्णवों को दोषदृष्टि नहीं रखनी चाहिये तथा जो आलस्य और भोगासक्ति के कारण शरीर की भी पवित्रता नहीं रखते उन्हें वैष्णवो के प्रति असद्भाव नहो रखना चाहिये।

दूसरी युक्ति यह है कि कपट और अभिमान से अपने चित्त को बचाये रखे। जिस पुरुष की वृत्ति स्थूल पवित्रता में अधिक होती है उसमें प्रायः स्वभाव से ही अपनी शुचिता और विशेषता को प्रदर्शित करने की प्रवृत्ति हुआ करती है, इसलिये वह अभिमानी हो जाता है। उसका पैर यदि पृथ्वी से लग जाता है, अथवा उसे कभी दूसरो के पात्र से जल लेना पड़ता है तो उसके चित्त में लोकनिन्दा की आशंका हो जाती है। अतः ऐसे पुरुष को चाहिये कि दूसरो के देखते हुए नंगे पाँव चला करे तथा कभी दूसरो के पात्रों का भी जल पी लिया करे। अपनी परीक्षा के लिये इस प्रकार वर्ते तो अच्छा ही है, क्योंकि स्थूल पवित्रता भी जगत्

में कीर्ति का निमित्त बन जाती है और इसमें दम्भ होने पर बुद्धि का नाश हो जाता है। अतः दम्भ और कपट से बचने के लिये कभी-कभी स्थूल पवित्रता का त्याग करना भी अच्छा ही है।

तीसरी युक्ति यह है कि सर्वदा अधिक सशय न करे, कभी-कभी जैसा संयोग आ बने वैसे ही बर्त ले, क्योंकि अपनी वृत्ति को इस प्रकार के सशय में पुष्ट करना अच्छा नहीं है। पहले भी जितने सतजन हुए है उन्होंने भी संशय और ग्लानि में अपने को आबद्ध नही किया। वे सब लोगों की तरह सामान्य आचार में ही विचरते रहे हैं। अतः जो पुरुष महापुरुषों के विचार को त्यागे और उन्हें भ्रष्ट समझे उसके विषय में यही मानना चाहिये कि वह अपने मन की प्रसन्नता के लिये ही यह पवित्रता का ढोंग रचता है। ऐसी पवित्रता को त्यागना ही अच्छा है।

चौथी युक्ति यह है कि जिस पवित्रता के कारण किसी को कष्ट हो उसे तो अवश्य त्याग दे, क्योंकि जीवों के कष्ट का कारण बनना तो पाप ही है और बाहरी पवित्रता को त्यागने से कोई पाप नहीं होता। मान लो, कोई मित्र इससे गले मिलने लगे और यह उसके पसीने से घबरा कर ठिठक जाय, तो ऐसा करना अनुचित ही है। उस मित्र से भावपूर्वक मिलना और उसका आदर करना तो ऐसी हजार पवित्रताओं से भी बढ़कर है। इसी प्रकार यदि कोई व्यक्ति इसके आसन पर पाँव रख दे, अथवा पात्र से जल ले ले तो उसे रोके नहीं और न हृदय में ग्लानि ही लावे। शरीर की पवित्रता का ही विशेष ध्यान रखनेवाले अधिकांश पुरुष इस भेद को नहीं समझते और जब कोई अकस्मात् उनके आसन या पात्र को स्पर्श कर लेता है तो ये उसका निरादर कर बैठते है। अथवा कभी संकोचवश कुछ नहीं भी कहते तो भी इस छूआछूत को ही सबसे बड़ा काम मानते है, दूसरों के आगे अपनी पवित्रता प्रकट करते है और अन्य पुरुषों को भ्रष्ट समझ कर उनसे ग्लानि

करते है। ऐसे लोग अत्यन्त मूढ़ ही है, उनके हृदय क्रोध और अभिमान से अत्यन्त अपवित्र रहते है और उनकी ऐसी वृत्ति से उनके हृदय की अपवित्रता ही प्रकट होती है। उन्हें अपने हृदय को इस अपवित्रता से अवश्य शुद्ध करना चाहिये, क्योकि इससे बुद्धि का नाश हो जाता है।

पॉचवी युक्ति यह है कि जैसे शरीर को शुद्ध रखता है वैसे ही आहार और व्यवहार को भी शुद्ध रखे तथा वचन भी शुद्ध बोले, क्योकि आहार-व्यवहार और वाणी की शुद्धि वस्त्र और पात्रों की शुद्धि से बढ़कर है। जो मनुष्य आहारादि की पवित्रता पर तो कोई ध्यान नहीं रखता किन्तु शरीर और वस्त्रादि की शुद्धि का बड़ा आग्रही है, उसकी यह शरीर की पवित्रता भी दम्भ और कपट के निमित्त ही समझनी चाहिये। जैसे कोई मनुष्य भूख न होने पर भी भोजन करने में तो नही हिचकता, किन्तु बिना स्नान किये भोजन न करने का आग्रह रखता है, वह मूर्ख ही है। वह इतना भी नहीं समझता कि बिना भूख खाया हुआ भोजन शरीर मे कितनी अशुद्धि पैदा करेगा और स्नान करने से उसमें कोई कमी भी नहीं आयेगी। इसी प्रकार जिन लोगो से खान-पान का भेद रखता है और जिनके आसन स्पर्श करने से नाक-भौ सिकोड़ता है उन्ही का बनाया हुआ भोजन क्यों कर लेता है? उनके घर की अन्नादि कोई सामग्री क्यों लेता है? इसमें किसी प्रकार का विचार क्यों नहीं करता? क्योकि शरीर की अपेक्षा आहार की शुद्धि तो अधिक आवश्यक है। अतः आहार का संयम न करना और बाहरी पवित्रता में आसक्त रहना यह सच्चे पुरुषों का लक्षण नहीं है।

छठो युक्ति यह है कि बाह्य आचार में इतना आसक्त न हो कि जिससे किसी विशेष कार्य की हानि हो जाय। जैसे किसी को मिलने के लिये कोई समय दिया हो और इधर शरीर की शुद्धि आदि में

लगे रहने से इस वचन को पूरा ही न कर सके तथा उस व्यक्ति को देर तक अपनी प्रतीक्षा में रखे। इस प्रकार दूसरों के कष्ट का निमित्त बनना अत्यन्त निन्द्य है। साथ ही अपनी जीविका के लिये उद्यम करना और अपने कथनानुसार दूसरो का कार्य कर देना भी अत्यन्त आवश्यक है। इसी प्रकार किसी भजनस्थली में भजन के लिये बैठते समय यह सोचकर कि दूसरे का वस्त्र मुझे स्पर्श न कर ले अपना आसन लम्बा करके बिछा लेना भी अच्छा नहीं, क्योंकि किसी सार्वजनिक स्थान में मर्यादा से अधिक स्थान रोकना बहुत अनुचित है, उससे भी दूसरों को संकोच और असुविधा मे पड़ना होता है। तथा जो व्यक्ति अपना प्रेमी हो उससे ग्लानि करना भी निन्दनीय है। बाह्य पवित्रता का विशेष आग्रह रखने में ऐसे ही अनेकों दोष हैं। जो लोग मूर्ख होते है उनकी दृष्टि इन पापों पर नहीं जाती। वे अज्ञानवश अपने प्रेमियों का अनादर कर देते हैं। किन्तु उनकी बाह्य पवित्रता इन पापों का प्रायश्चित्त नहीं हो सकती।

इस प्रकार अब तुम समझ गये होगे कि बाह्य पवित्रता दूसरी चीज है, वह स्थूल है। और सूक्ष्म पवित्रता उससे भिन्न है। उसका वर्णन पहले हो चुका है। वह तीन प्रकार की है; जैसे—(१) इन्द्रियो को अशुभ कर्मो से दूर रखना, (२) हृदय को मलिन स्वभावों से शुद्ध करना और (३) सम्पूर्ण अनात्मा का त्याग करके अपने आत्मा को शुद्ध रखना। जिज्ञासु को चाहिये कि अधिक पुरुषार्थ इस सूक्ष्म पवित्रता में ही करे, स्थूल पवित्रता का पालन तो जितने से निर्वाह हो सके उतना ही करे।

तीसरी किरण

दान के तात्पर्य, युक्ति, अधिकारी और ग्रहण विधि आदि का विवेचन

ध्यान रखो, भजन का भी एक आकार है और एक उसका जीव है। सम्पूर्ण इन्द्रियों को रोकना—यह भजन का आकार है और हृदय की एकाग्रता उसका जीव है। जैसे जीव के बिना आकार मृतक हो जाता है वैसे ही एकाग्रता के बिना भजन भी व्यर्थ होता है। इसी प्रकार दान का भी एक आकार है और एक उसका जीव है। जब तक इस रहस्य को न समझे तब तक दान देना भी निर्जीव शरीर के समान सारहीन होता है। दान देने के तीन तात्पर्य है, उनका हम क्रमशः वर्णन करते है।

प्रथम तात्पर्य—सब लोग यही समझते है कि भगवान् के प्रति हमारा प्रेम है। और इस प्रेम की परीक्षा यह है कि भगवान् के सिवा और किसी वस्तु में हमारा प्रेम न हो। सो बहुत लोग तो यही समझते है कि हमारी सबसे अधिक प्रीति भगवान् में ही है, अतः सब को इसकी परीक्षा भी करनी चाहिये। बिना परीक्षा किये ऐसा अभिमान करना अनुचित ही है। इसकी परीक्षा यही है कि जो वस्तु अपने को अधिक प्रिय हो उसे भगवान् पर निछावर कर दे। प्रायः सभी को धन बहुत प्रिय होता है। इसी से परीक्षा के लिये ही धन देने की व्यवस्था की गयी है। इसके द्वारा अपने हृदय से भगवत्प्रेम की पहचान होने पर जिन्होंने इस रहस्य को

समझा है वे मनुष्य भी तीन प्रकार के है—

(१) प्रथम कोटि के पुरुष तो इतने सच्चे होते है कि वे अपना सर्वस्व भगवान् पर निछावर कर देते है। उन्हें अपनी आय का दशांश देना तो कृपणता जान पड़ती है। अतः वे सर्वस्व दान कर देते है। एक बार अबूबक्र सद्दीक नाम के सत अपना सर्वस्व महापुरुष के पास ले आये। तब महापुरुष ने पूछा कि अपने सम्बन्धियों के लिये तुम क्या छोड़ आये हो? वे बोले कि प्रभु सब जीवों के प्रतिपालक हैं, वे मेरी अपेक्षा उनका अधिक भरण-पोषण कर सकते है। किन्तु जब उमर नाम के संत महापुरुष के पास आये तो उन्होंने भी कुछ धन उनके सामने रखा। महापुरुष ने उनसे भी पूछा कि अपने सम्बन्धियों के लिये तुम क्या छोड़ आये हो? वे बोले, "जितना यहाँ लाया हूँ उतना ही सम्बन्धियों को दे आया हूँ।" इस पर महापुरुष ने कहा कि 'जैसे तुम्हारे और अबूबक्र के धन लाने में अन्तर है वैसे ही तुम्हारी अवस्थाओं में भी अन्तर है।'

(२) दूसरी कोटि के पुरुष वे है जिनमें एक साथ अपना सर्वस्व दे डालने की शक्ति तो नहीं है और वे अर्थ का सग्रह भी रखते है, किन्तु जब कोई अर्थी पुरुष मिलता है तो उसे खुले हाथ से देते है। वे जितने प्रेम से अपने कुटुम्ब का पालन करते है उतने ही उत्साह से अभ्यागतों का सत्कार भी करते है।

(३) तीसरे पुरुष वे हैं जिनमें ऐसी उदारता भी नहीं होती। अतः वे भगवान् के निमित्त से अपनी आय का केवल दशम अंश देते है। और इसे भगवदाज्ञा मानकर दशम अश देते हुए हृदय में प्रसन्न भी होते है तथा जिन्हें

देते हैं उनके प्रति अपना कोई उपकार भी नहीं मागते, अपितु इस प्रकार दे देने में अपनी ही भलाई समझते है। यह कनिष्ठ अवस्था है। परन्तु जिस व्यक्ति को दशमांश देना भी कठिन जान पड़ता है उसे तो भगवान के प्रति कोई प्रेम है—ऐसा नहीं समझा जा सकता। भगवत्प्रेमियों की सभा में तो वह पुरुष भी कृपण ही समझा जाता है जो केवल दशमांश ही देता है, और अधिक देने का साहस नहीं रखता।

द्वितीय तात्पर्य—दान देने का दूसरा तात्पर्य यह है कि इससे हृदय की कृपणतारूप मलिनता दूर होती है और वह उत्तरोत्तर शुद्ध एवं उदार होता जाता है। भगवान् के पास पहुँचने में कृपणता भी बहुत बड़ा विघ्न है। बाह्य मलिनता से जैसे शरीर अपवित्र हो जाता है वैसे ही कृपणता से हृदय अपवित्र और मलिन हो जाता है। तथा जैसे बाह्य मलिनता रहते हुए शरीर में भजन-पूजन आदि की योग्यता नहीं रहती वैसे ही कृपणता रहते हुए हृदय में भगवत्सान्निध्य प्राप्त करने की योग्यता नहीं रहती। और जैसे जल से धोए बिना शरीर का मल नहीं छूटता वैसे ही दान दिये बिना हृदय का कृपणतारूप मल निवृत्त नहीं होता। किन्तु संत-महात्माओं को इस प्रकार दशांश-विधि से दिया हुआ दान स्वीकार नहीं करना चाहिये, क्योंकि इस का उद्देश्य तो दाता के धन की रक्षा ही है, इसलिये अत्यन्त सकाम होने के कारण यह दान मलिन ही है।

तृतीय तात्पर्य—दान देने का तीसरा तात्पर्य है प्रभु के उपकार का धन्यवाद। धन इस लोक और परलोक दोनों ही में सुख का हेतु है, अतः जिस प्रकार व्रत-उपवासादि करके प्रभु को शारीरिक सुख प्रदान करने के लिये धन्यवाद दिया जाता है उसी प्रकार दान देकर उनको आर्थिक सुख प्रदान करने के बदले धन्य-

वाद किया जाता है। इसी से कोई भगवत्प्रेमी जब अपने को सुखी और किसी दूसरे मनुष्य को दरिद्रता के कारण दीन-दुखी देखता है तो अपने चित्त में इस प्रकार विचार करता है कि यह भी भगवान् का ही प्राणी है और मुझे भी उन्हीं ने बनाया है, अतः प्रभु का धन्यवाद है कि मुझे उन्होने धनादि से सुसम्पन्न और सुखी उत्पन्न किया है। यह भी मेरा भाई ही है और बहुत दीन एवं अर्थी है, अतः मुझे यथाशक्ति इसकी सहायता करनी चाहिये। सम्भव है, यह मेरी परीक्षा ही हो, अतः मुझे इसमें चूकना नहीं चाहिये। ऐसा भी तो हो सकता है कि प्रभु इसे मेरे समान सम्पन्न कर दे और मैं इसकी तरह दीन एवं दरिद्र हो जाऊँ, तब मेरा क्या वश चलेगा ?

इस प्रकार सभी को ये दान के रहस्य समझ लेने चाहिये। बिना रहस्य समझे दान करना विशेष उपयोगी नहीं होता। इसके सिवा दान देने की कुछ युक्तियाँ भी है, इन पर भी सर्वदा ध्यान रखना चाहिये। उनका विवरण इस प्रकार है—

प्रथम युक्ति—दान देने की पहली युक्ति यह है कि दशांश देने में कभी देरी न करे। इससे तीन लाभ होते हैः—

(१) प्रथम तो इससे उदारता के प्रति रुचि बढ़ती है। एक वर्ष बीत जाने पर तो उस साल का दशमांश अवश्य दे देना चाहिये। यदि नहीं देगा तो पाप का भागी होगा। फिर पाप के भय से दान देना तो कोई प्रीति का लक्षण नहीं है। जो सेवक केवल भय के कारण स्वामी की सेवा करता है उसे सत्सेवक नहीं कह सकते।

(२) दूसरा लाभ यह है कि शीघ्र दान देने से अर्थियों के चित्त मे भी प्रसन्नता होती है। और जब वे प्रसन्न होकर दाता को आशीर्वाद देते है तो उसे भी आनन्द प्राप्त होता है।

(३) तीसरे, शीघ्र दान दे देने पर भविष्य में जो विघ्नों की आशका हो जाती है वह भी नहीं रहेगी। जो दशमांश देने में ढील करते हैं उन्हें तरह-तरह की आधि-व्याधि आकर घेर लेती है। जो जल्दी ही दे डालते है वे इन सब विघ्नों से निश्चिन्त हो जाते है। अथवा यदि दान देने से पहले ही अकस्मात् ऐसा कोई सकट आ जाय तो फिर उसके कारण उनमें दान देने का सामर्थ्य ही नहीं रहता और इस प्रकार कर्त्तव्यच्युत हो जाने से उस पुण्य से वञ्चित रह जाते है।

अतः सब प्रकार शीघ्र दान देना ही अच्छा है। जब इसके हृदय में दान देने की रुचि उत्पन्न हो तो उसे भगवान् की कृपा ही समझे। अतः इस बात से भय मानकर कि कहीं कोई कुसस्कार इस शुभ सकल्प को दबा न दे, शीघ्र ही उस पवित्र विचार को कार्यान्वित कर देना चाहिये।

द्वितीय युक्ति—दान देने की दूसरी युक्ति यह है कि उसे यथा-सम्भव गुप्त ही रखे, किसी के आगे प्रकट न करे। इससे दम्भ और कष्ट से बच जायगा और इस प्रकार देना ही निष्काम होगा। संतजनों का भी कथन है कि गुप्तदान देने से मनुष्य भगवान् की कृपा प्राप्त कर सकता है। परलोक में जब अधिक तपन होगी तो गुप्तदान देने वाले भगवान् की छाया में रहेंगे। जब कोई व्यक्ति दान देकर स्वयं ही उसका वर्णन करने लगता है तो उसका दान देना व्यर्थ हो जाता है। इसी से जिज्ञासु लोग गुप्तरूप से दान देने का बहुत प्रयत्न करते रहे है। वे यदि किसी नेत्रहीन को देते तो मुँह से बोलते ही न थे, जिससे वह पहचान न ले, किसी धनहीन को देते तो जिस समय वह सोया होता उसके वस्त्र में बाँध देते तथा जब किसी अर्थी को आता

देखते तो उसके मार्ग में धन गिरा देते अथवा किसी दूसरे के द्वारा उसके पास पहुँचा देते थे। तात्पर्य यह है कि इस प्रकार गुप्तरूप से दान देना चाहिये कि जिससे अर्थी भी देने वाले को न पहचाने। गुप्तदान देने का एक प्रयोजन यह भी है कि इससे दम्भ के लिये कोई अवकाश नहीं रहता। अतः ऐसा करके वे दम्भ और कृपणता दोनों का एक साथ ही दमन करते थे, क्योंकि ये दोनों ही स्वभाव दुःखदायी है। इनमें भी कृपणता तो बिच्छू के समान है और दम्भ महान् अजगर की तरह है। अतः इन दोनो को ही दूर करना आवश्यक है। इन मलिन स्वभावों में कितना दुःख है यह बात तो परलोक में प्रकट होगी।

तृतीय युक्ति—किन्तु जिस पुरुष के हृदय में दम्भ के लिये कोई अवकाश न हो उसका तो प्रकट रूप से देना ही अच्छा है, क्योंकि उसे देते देख कर दूसरे लोगों को भी देने की रुचि होगी। किन्तु ऐसी स्थिति उसी व्यक्ति की हो सकती है जिसकी दृष्टि में निन्दा और स्तुति में कोई अन्तर नहीं है, तथा जो सबके भीतर अन्तर्यामीरूप से भगवान् को ही देखता है उनके सिवा कोई और पुरुष जिसकी दृष्टि मे है ही नहीं।

चतुर्थ युक्ति—यदि दाता दान देने के समय अर्थी को क्रूर दृष्टि से देखता है अथवा उससे कटु वचन कहता है तो उसका दान देना निष्फल हो जाता है। ऐसी मूर्खता दो कारणो से होती है। उनमें पहला कारण तो यह है कि जिसे रागवश धन देना भारी जान पड़ता है वह दान देते समय क्रुद्ध और अप्रसन्न हो जाता है और इसी से दुर्वचन बोलने लगता है। किन्तु यह है उसकी बहुत बड़ी मूर्खता ही, क्योंकि जब उसे एक देकर हजार पाने की आशा है तब देते समय सकोच करना मूर्खता नही तो क्या है? दान देने से तो इस जीव की नरकों से रक्षा होती है और इसे

बड़े-बड़े सुख प्राप्त होते है। यदि इस बात में इसका विश्वास हो तो इसे दान देना भारी कैसे हो सकता है ? दूसरा कारण यह है कि मूर्खतावश यह अपने को अर्थी से बड़ा मानने लगता है। यह समझता है कि मैं बड़ा धनी हूँ और यह कङ्गाल है। इसे पता नहीं कि परलोक में निर्धन लोग ही सुख प्राप्त करेंगे धनी तो दण्ड के भागी होंगे, क्योंकि इस लोक में निर्धन दुःख भोगते है और धनी सुख भोग कर अभिमान की वृद्धि करते है। निर्धनो के हृदय में दीनता होती है और भगवान् को तो दीनजन ही प्रिय हैं। और यदि विचार किया जाय तो धनी लोग तो इस लोक में भी बहुत दुःखी है। उन्हें चिन्ता और विक्षेप तो अनेकों प्रकार के रहते है और खान-पान का सुख अपने शरीर की योग्यता के अनुसार ही होता है। तथा धनवानों के लिये भगवान् ने यह दण्ड भी रखा है कि वे अर्थी लोगों की यथाशक्ति सहायता करे, यदि ऐसा नही करेंगे तो पाप के भागी होंगे। इससे निश्चय होता है कि धनवानों को तो इस लोक मे भी भगवान् ने निर्धनो का टहलुआ बनाया है। और परलोक में तो निःसन्देह धनवानो की अपेक्षा निर्धन ही विशेष सुख भोगेगे। अतः दान देने में किसी प्रकार का संकोच या कठोरता का व्यवहार नही करना चाहिये और न अपने को अर्थियों से बड़ा ही समझे।

पाँचवी युक्ति—जिसे कुछ दान दे उस पर अपना कोई उपकार न समझे। ऐसा भाव तभी रह सकता है जब मन में यह भाव हो कि मैंने इसे कोई बड़ी चीज दी है और यह मेरे अधीन है। किन्तु ऐसा समझना तो मूर्खता ही है। जब इसके चित्त में ऐसा अभिमान दृढ़ होगा तो इसे यह संकल्प होगा कि यह अर्थी पुरुष मेरे अधीन रहे और मेरी सेवा का भी ध्यान रखे, अथवा मेरा सम्मान करके मुझे पहले नमस्कार किया करे। किन्तु ऐसी स्थिति मे यदि अर्थी का बर्ताव वैसा नहीं होता तो दाता के चित्त में रोष

आने लगता है और वह आगे पीछे यह कहने लगता है कि मैंने इसका इतना उपकार किया किन्तु यह मेरा कोई सम्मान नहीं करता। सो ये सब मूर्खता के ही लक्षण है। यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो अर्थी ने ही इस पर विशेष उपकार किया है, जो इसका दान अङ्गीकार करके इसे नरकाग्नि की ज्वालाओ से बचाया है। जैसे कोई जर्राह (शस्त्रचिकित्सक) किसी व्यक्ति का विकारी रक्त निकाल दे और उससे ले कुछ भी नहीं तो वह निःसन्देह इसका उपकार ही मानता है, क्योंकि इसने उसके दुःखद रक्त को दूर किया है। इसी प्रकार कृपणतारूपी मल भी इस मनुष्य के हृदय को दुःख देनेवाला है। वह यदि अर्थी के सम्बन्ध से निवृत्त हो जाता है तो इसे उसका उपकार ही मानना चाहिये। सन्तों ने तो यह कहा है कि जब कोई पुरुष किसी को दान देता है तो पहले वह द्रव्य भगवान् के हाथ में जाता है और फिर उनसे अर्थी को प्राप्त होता है। इसका तात्पर्य यही है कि दान का फल तो स्वयं भगवान् ही देते है। जब ऐसी बात है तो अर्थी पर उपकार मनाने का कोई कारण ही नहीं है। तब तो अपने पर ही उपकार मानना चाहिये। इस प्रकार दान के रहस्य पर सूक्ष्मतया विचार करने से तो यही निश्चय होगा कि अर्थी पर अपना उपकार मानना कोरी मूर्खता ही है। इसी से पहले जो जिज्ञासु लोग हुए है वे तो अर्थी और अभ्यागतो का सम्मान ही करते रहे है। वे बड़े विनम्र भाव से उनके आगे उपस्थित होकर कहते थे कि यह पत्र-पुष्प स्वीकार कीजिये। अथवा अपने हाथो पर कुछ सोना-चाँदी रख कर उनके आगे कर देते थे, जिससे वे ही उसे उठा ले। और हमारे हाथ से उनका हाथ ऊँचा ही रहे। यहाँ तक कि वे अर्थियों से किसी प्रकार के आशीर्वाद की भी अपेक्षा नही रखते थे, क्योंकि इसमे भी उन्हे उनके प्रति अपने उपकार की भावना का सन्देह होता था। और विचार करने पर उपकार करने-

वाला तो अर्थी ही सिद्ध हो सकता है, जो उस दान को स्वीकार कर लेता है।

छठी युक्ति—जो पदार्थ दिया जाय वह उत्तम और निर्दोष होना चाहिये, क्योंकि पापवृत्ति से प्राप्त हुआ पदार्थ परमात्मा के लिये देना उचित नहीं है। भगवान् तो शुद्धस्वरूप हैं, अतः उन्हें शुद्ध पदार्थ ही देना चाहिये, अशुद्ध वस्तु तो वे ग्रहण ही नहीं करते। भगवान् ने कहा भी है कि जिस वस्तु को तुमने पहले ही मलिन चित्त से उत्पन्न किया है, उसे मेरे लिये क्यों प्रयोग करते हो ? यदि किसी के घर उसका कोई प्रेमी आवे तो उसे घटिया चीज देना हँसी का ही कारण होता है। इसी प्रकार भगवान् के निमित्त घटिया और मलिन वस्तु का प्रयोग करना और अपने लिये बढ़िया चीज काम में लाना अत्यन्त अनुचित है। जो ऐसा करता है उसमें कोई श्रद्धा का अंश प्रतीत नही होता, अपितु उस का दान ग्लानिपूर्वक दिया जान पड़ता है। सो जिस दान मे श्रद्धा और प्रेम की प्रधानता न हो वह तो व्यर्थ ही होता है। महापुरुष भी कहते है कि यदि एक निर्दोष दान श्रद्धापूर्वक दिया जाय तो उस का फल हजारों दानों से भी बढ़ कर है।

(दान के अधिकारी)

यह बात भी स्मरण रखनी चाहिये कि दान भी अधिकारी को ही देना अच्छा होता है। दान का उत्तम अधिकारी तो वह है जो परलोक के मार्ग का चिन्तन करने में लगा हुआ हो और जिसने मायिक व्यवहारों को त्याग दिया हो। ऐसे पुरुष को दिया हुआ दान ही विशेष फलदायक होता है। अतः अन्न-वस्त्र द्वारा विरक्त पुरुषों की सेवा करना अत्यन्त श्रेष्ठ दान है, क्योंकि इस प्रकार जब उनके शरीर में कुछ बल बढ़ता है तो वे भजन में ही दृढ़ होते है और इससे इनकी सेवा करनेवाला भी उनके भजन का भागी होता है। कहते है, एक उदार प्रकृति का धनी पुरुष था।

वह सर्वदा सात्विकी प्रकृति के लोगों की सेवा में तत्पर रहता था। उसका कथन था कि ये जिज्ञासुजन सर्वदा भगवान् के भजन में लीन रहते है और इन्हें जब किसी वस्तु की आवश्यकता होती है तो इनके चित्त में विक्षेप होने लगता है । अतः मुझे तो इनकी सेवा स्वय व्यवहार त्यागकर अपने चित्त को एकाग्र करने की अपेक्षा भी अधिक प्रिय है, क्योंकि इससे मै तो अकेला ही व्यवहार के विक्षेप में रहूँगा किन्तु इनकी आवश्यकता की पूर्ति होती रहेगी तो ये अनेकों भजन में तल्लीन रहेगे । मै तो उनके अनेक हृदयों का एकाग्र रहना अपने एक हृदय की एकाग्रता से बढ़कर ही मानता हूँ । जब वह बात एक संत ने सुनी तो वे कहने लगे, "यह कथन किसी गम्भीर चित्तवाले महापुरुष का है ।" अकस्मात् वह उदार पुरुष निर्धन हो गया, क्योंकि वह अभ्यागत लोगों को सन्तुष्ट करने के लिये जो कुछ वे माँगते थे वही दे देता था और मूल्य कुछ भी नहीं लेता था । जब उसकी निर्धनता का समाचार एक सन्त ने सुना तब उन्होने उसके पास कुछ धन भेजा और कहलाया कि इसे स्वीकार करके फिर व्यापार करो, क्योंकि तुम-जैसे पुरुष को व्यवहार करने में कोई दोष नही है ।

दान के दूसरे अधिकारी वे है जिन्हें विद्याध्ययन करना हो । उन्हें भी दान देना बहुत अच्छा है, उनको सहायता करनेवाला पुरुष भी उनके विद्याध्ययन के पुण्य का भागी होता है । तीसरे अधिकारी वे है जो अपनी निर्धनता को छुपाये रहते है और कभी किसी से कुछ नहीं माँगते । ऐसे पुरुष को भी दान देना बहुत अच्छा है । चौथे अधिकारी वे है जिनका कुटुम्ब बड़ा हो और धन पास न हो, अथवा जो रोगी हो । उनको देना भी बहुत उपयोगी है, क्योकि जितनी जिसकी आवश्यकता अधिक हो उतना ही उसे दान देने का फल अधिक होता है । पाँचवाँ अधिकारी देनेवाले का वह सम्बन्धी है, जिसके पास धन का अभाव हो । उसे

देने से सम्बन्धीसे प्रेम भी बढ़ता है और पुण्य भी प्राप्त होता है और यदि अपना कोई धर्म का मित्र ही विशेष आवश्यकता में हो तो उसे देने से और भी अधिक पुण्य होता है। इस प्रकार यहाँ जो पाँच प्रकार के अधिकारी बताये है, यदि किसी व्यक्ति में ये पाँच बाते हो अथवा कुछ कम भी हों तो उसे देना सबसे बढ़कर है। उसके आशीर्वादों से दाता को बहुत लाभ हो सकता है। अतः दान देने के लिये बड़े महन्तो और कुलीनों को न ढूँढ़े, जो अधिकारी हों उन्हें ही दे।

(दान लेने की युक्तियाँ)

दान लेनेवाले को भी पाँच युक्तियो का आश्रय लेना चाहिये। उनमें पहली युक्ति यह है; अर्थी को यह विचारना चाहिये कि भगवान् ने मनुष्य को लोकव्यवहार के लिये धन के अधीन बनाया है, इसी से अनेकों पुरुषों को धन दिया भी है। किन्तु जिन पर उनकी विशेष कृपा है उन्हें मायिक व्यवहारों के विक्षेप से बचा लिया है और धन के सग्रह तथा रक्षण के क्लेश का भार धनवानों पर डाल दिया है तथा उन्हें आज्ञा की है कि मेरे जो प्रियजन धन से रहित है उनकी तुम सेवा करो, जिससे कि वे माया के व्यवहारों से मुक्त हो निरन्तर मेरे भजन मे ही तत्पर रहें। इस प्रकार सोचते हुए जब यह किसी से कुछ दान ले तो हृदय में यही सकल्प रखे कि मै शरीर निर्वाह मात्र के लिये कुछ अंगीकार करके भजन मे ही तत्पर रहूँ। साथ ही भगवान् के इस उपकार को भी स्मरण रखे कि उन्होने धनवानों को मेरी सेवा का भार सौप दिया है, जिससे मुझे भजन में किसी प्रकार का विक्षेप न हो। यह ऐसी ही बात है कि जैसे जिस पर राजा की विशेष कृपा होती है उसे तो वह अपनी सेवा में रखता है और अन्य लोगों को वह अपने सेवको की सेवा का भार सौपता है, क्योंकि उन्हें वह साक्षात् अपनी सेवा के अधिकारी नही समझता। वे राजा के सेवकों के

ही अधीन रहते है और उन्हीं के आगे दण्ड भोगते है तथा वे राजसेवक निश्चिन्त रहकर सुखपूर्वक राजा की सेवा में तत्पर रहते है। इसी प्रकार भगवान् ने भी सब पुरुषों को अपने भजन के लिये ही उत्पन्न किया है। उनमें जो उनके भजन में तत्पर न रहकर मायिक व्यवहारों में लगे रहते है उन्हें प्रभु ने अपने भक्तों की सेवा सौंपी है। अतः असंग्रही पुरुष को भी चाहिये कि जब किसी से कुछ ले तो इसी उद्देश्य से ले कि किसी प्रकार अपना निर्वाह करके भजन में तत्पर रहना है। इसी से उसका हित भी है। महापुरुष ने भी कहा है कि दान देनेवाले से लेनेवाला बड़ा तो नहीं होता, किन्तु यदि वह संयमपूर्वक लेकर भजन में स्थित रहे तो अच्छा है और धनवानों को भी उसकी सेवा अवश्य करनी चाहिये। अतः निश्चित हुआ कि धनी और निर्धन सभी लोग भगवान् का भजन करने के लिये ही उत्पन्न हुए हैं।

दूसरी युक्ति यह है कि जब किसी से कुछ ले तो उसे भगवान् का ही उपकार माने और देनेवाले को भी प्रभु की प्रेरणा के ही अधीन समझे, क्योंकि जब भगवान् ने उसके हृदय में प्रेरणा की है तभी तो उसने मुझे कुछ दिया है। यह भगवत्प्रेरणा दाता के हृदय में श्रद्धारूप से प्रकट होती है, क्योंकि यदि उसके चित्त में श्रद्धा और निश्चय की दृढ़ता न होती तो वह मुझे कुछ भी क्यो देता? अतः सब प्रकार भगवान् का ही धन्यवाद है, वे ही सबके हृदयों के प्रेरक है। इस प्रकार भगवान् को ही देनेवाला समझते हुए भी यह ध्यान रखना चाहिये कि उन्होने मेरे और अपने बीच में इस देनेवाले का भी सम्बन्ध रखा ही है, क्योंकि इसी के हाथों से तो वह चीज मेरे पास पहुँची है। अतः उसका भी हित चिन्तन करे, क्योंकि प्रभु ने उसे भी दया का पात्र बनाया है। वह भी भगवान् का प्यारा ही है, इसलिये उसका भला चाहना भी उचित ही है। साथ ही, यह भी ध्यान रखना चाहिये

कि यदि देनेवाला इसे थोड़ा दे तो उसे भी कम न जाने। यह भी भगवान की कृपा ही समझे। देनेवाले को जैसे उचित है कि जितना भी दे उसे कम ही समझे उसी प्रकार लेनेवाले को भी उचित ही है कि उसे जो कुछ मिले उसे ही बहुत समझे।

तीसरी युक्ति यह है कि अशुद्ध धन को स्वीकार न करे। अर्थात् जो पापात्मा है उनकी वस्तु न ले। चौथी युक्ति यह है कि जितने से अपना काम चल जाय उससे अधिक न ले। उससे अधिक लेना बहुत अनुचित है। यदि घर में रखने के लिये ही कोई वस्तु लेनी हो तो वह भी दशमांश के अन्तर्गत नहीं होनी चाहिये। पाँचवीं युक्ति यह है कि जब कोई दान दे तो उससे पूछ ले कि तुम यह वस्तु किस निमित्त से देते हो? रोगी के लिये, निर्धन के लिये, हमें साधु समझ कर या किसी कामना से? यदि वह किसी कामना से देता हो तो स्वीकार न करे और यदि निर्धन समझकर देता हो तो विशेष आवश्यकता होने पर ही रखे, नहीं तो लौटा दे।

———

चौथी किरण

व्रतों का निरूपण

भगवान् ने यह आज्ञा की है कि जो पुरुष मेरे निमित्त व्रत और तप करते हुए भोगों का त्याग करते है उनको फल देने वाला मैं ही हूँ। वे भगवान् के निमित्त किये जाने वाले व्रत तीन प्रकार के है; जैसे—

(१) पहला व्रत है अपने चित्त के सकल्पों को रोकना और वृत्ति को भगवान् के स्वरूप में स्थिर करना। यह व्रत बड़ा कठिन है और जब भगवान् के सिवा और कोई भी संकल्प इसके हृदय में स्फुरित हो जाता है तो यह खण्डित माना जाता है। इस व्रत में दिन के समय रात्रि के भोजन का संकल्प भी नहीं होना चाहिये। सबका पालन करने वाले तो प्रभु ही है, अतः इस जीव को अपनी जीविका की कोई चिन्ता नहीं करनी चाहिये। बस, उनका भरोसा रखकर निश्चिंत हो जाना चाहिये। यह अवस्था सतजनों को प्राप्त होती है और यही सर्वोत्तम व्रत भी है।

(२) दूसरा व्रत है सम्पूर्ण इन्द्रियों को पाप कर्मों से रोकना। सबसे पहले अपनी नेत्रेन्द्रिय को कुभावनापूर्वक देखने से रोके, क्योंकि इससे हृदय में काम-विकार उत्पन्न होता है। इसी से सतों ने कहा है कि नेत्रों की दृष्टि विषाक्त बाण के समान है, यह विष उसी के ऊपर लिपटा हुआ है। अतः जो पुरुष भगवान् से भय मान कर इसे त्याग देता है उसे धर्म का शिरोपाव (पारितोषिक)

प्राप्त होता है तथा चित्त में प्रसन्नता छा जाती है। इसी पर महापुरुष ने भी कहा है कि पाँच कर्मों से व्रत खण्डित हो जाता है—निन्दा, मिथ्या-भाषण, मिथ्या शपथ, कठोर वाणी और कामदृष्टि। ये पाँच पाप व्रत को नष्ट कर देते है। इनमे—

१—कामदृष्टि को रोकना यह नेत्रो का व्रत है। इसके सिवा—

२—रसना को व्यर्थ वचनो से रोकना चाहिये, अर्थात् जिस बात से कोई प्रयोजन सिद्ध न हो उसे न कहे, मौन रहे। अथवा मन को भगवद्वाक्य और संतों की वाणियो में लगावे, वाद-विवाद में आसक्त न हो। निन्दा और झूठ तो ऐसे पाप है कि इनसे संसारी पुरुषों के स्थूल व्रत भी नष्ट हो जाते है। कहते है, दो स्त्रियों ने निराहार व्रत किया था। जब वे भूख से व्याकुल हुई तो उन्होंने महापुरुष से व्रत खोलने के विषय में पूछा। महापुरुष ने उन्हे जल से भरा कटोरा दिया। उस जल को पीने पर उन्हें वमन हुआ तो उसमें सबका सब रक्त ही निकला। देख कर सभी लोगों को बड़ा विस्मय हुआ। तब महापुरुष ने कहा, "इन स्त्रियो का ऐसा स्वभाव है कि जिस अन्न-जल को भगवान् ने शरीर का आहार बनाया है उससे तो यह व्रत रखती है और जो महापाप है उसे स्वीकार करती है। इन्हें निन्दा करने का बड़ा ही व्यसन है। इसी से इनके मुख से रुधिर निकला है। मानो निन्दा करके इन्होंने मांस भक्षण ही किया है"

—इसी प्रकार श्रवणों को भी मर्यादा में रखे। जो शब्द बोलने में निन्दनीय हैं वे सुनने में भी निन्द्य है। जैसे निन्दा और झूठ कहना निन्द्य है उसी प्रकार इन्हें सुनना भी बुरा ही है। इन्हें सुनने वाला भी कहने वाले के समान ही पाप का भागी होता है।

४—अशुभ कर्मों से हाथ-पाँवों को रोके रखना भी अत्यन्त आवश्यक है। व्रत रखने वाला तो रोगी की तरह होता है। यदि कोई रोगी फल-मूल आदि को तो कुपथ्य समझ कर त्याग दे, किन्तु विष-पान करे तो उसकी मृत्यु ही होनी निश्चित है। सो, पाप-कर्म तो विष के समान है और अन्न-जल फल-मूलादि की तरह हैं। इनका तो अधिक मात्रा में सेवन करना ही पाप है, वास्तव में तो इनके सेवन में कोई दोष है नही। अतः अन्न-जल छोड़ देना और इन्द्रियों के द्वारा अशुभ कर्मों में आसक्त रहना—ऐसा व्रत करने से कोई लाभ नही है। इसी से कुछ संतों ने कहा है कि बहुत लोगों को तो व्रत रखने से केवल भूख-प्यास का कष्ट ही प्राप्त होता है।

५—अशुद्ध आहार को अङ्गीकार न करना—यह भी बहुत आवश्यक है। तथा शुद्ध आहार भी मर्यादा के अनुसार अल्पमात्रा में ही स्वीकार करे। भोजन अधिक न करे और ऐसा भी न करे कि दिन में उपवास करके रात को दुगुना खाले। व्रत का प्रयोजन तो यह है कि भोगो का सयम किया जाय। यदि उपवास करने के पश्चात् पारण के समय तरह-तरह के व्यञ्जनों का सेवन किया जाय तो इससे तो भोगों में वृद्धि ही होगी। और न इससे हृदय की शुद्धि ही हो सकेगी।

इस प्रकार इन्द्रियों के व्रतों का वर्णन हुआ। ये जिज्ञासुओं के व्रत हैं और इनकी गणना मध्यम कोटि मे है।

(३) तीसरे प्रकार का स्थूल व्रत ससारी पुरुषो के लिये है। वे केवल खान-पान का ही त्याग करते है, किन्तु इन्द्रियों को पाप कर्मो से नहीं रोक सकते। यह व्रत सबसे नीची कोटि का है।

इसमें गुण केवल इतना ही है कि इससे भी इन्द्रियाँ कुछ शिथिल पड़ जाती हैं। जिज्ञासुजन यद्यपि समस्त इन्द्रियों का व्रत रखते हैं और अशुभ कर्मों से अपनी चित्तवृत्ति को भी रोकते हैं, तथापि उन्हें भी सर्वदा भगवान् से भय रखना चाहिये। पता नहीं, भगवान् उनके इस व्रत को स्वीकार करे या न करे। अतः उनका भय मानना ही अच्छा है। तथापि कभी भी निराश होकर शुभ कर्मों का त्याग नहीं करना चाहिये, क्योंकि भगवान् किसी के थोड़े से कर्म को भी व्यर्थ नहीं करते।

पाँचवीं किरण

शास्त्रों के स्वाध्याय की युक्तियाँ

सन्तों का कथन है कि ग्रन्थों का स्वाध्याय भी एक उत्तम भजन है। एक बार महापुरुष ने भी कहा था कि लोगों के हृदय अत्यन्त मलिन हो रहे हैं, जैसे कि जंक लगने से दर्पण धुँधला हो जाता है। इस पर लोगों ने पूछा, "ऐसे हृदय किस प्रकार निर्मल होंगे?" तब वे बोले कि भगवद्वचनों के पाठ और मृत्यु को स्मरण रखने से हृदय निर्मल हो जाता है। फिर उन्होंने यह भी कहा कि मेरे पीछे तुम्हें आदेश करने वाले दो पर्याप्त है। उनमें एक मौनी है और एक बोलने वाला। बोलने वाले तो भगवान् और सन्तों के वचन है तथा मौनी मृत्यु है। इन दोनों के उपदेशो से जीवों का कल्याण होगा।

निश्चय जानो, जो पुरुष भगवान् के वचनों का पाठ करता है उसे अवश्य उत्तम अवस्था प्राप्त होती है। तथापि उसे चाहिये कि भगवद्वाक्यों का महत्व समझ कर अपने को नीच कर्मो से बचाये रहे और हृदय मे सर्वदा भगवान् का भय रखे जो ऐसा नहीं करता उसे वे वचन ही झूठा बना देते है। महापुरुषो ने कहा है कि अधिक कपटी तो पढ़े-लिखे ही होंगे। तथा प्रभु भी कहते है, "मनुष्यो! तुमको लज्जा नहीं आती कि जब तुम्हारे पास किसी सम्बन्धी का पत्र आता है तो तुम उसे बारबार ध्यान-पूर्वक पढ़ते हो और जैसा वह लिखता है सावधानी से वही काम करते हो। मेरे जो यह वचन है यह भी तुम्हारे पास मेरा पत्र ही आया है,

इसे विचार कर इसी के अनुसार कर्म करो। इसके विपरीत क्यों चलते हो? यदि थोड़ा पाठ भी करते हो तो भी उसका विचार नहीं करते कि इसमें लिखा क्या है।" एक और सन्त ने कहा कि हमसे पहले ऐसे जिज्ञासुजन हुए है जो संतों के वचनों को पत्र के समान समझते थे। अतः रात्रि को तो उनका पाठ और विचार करते तथा दिन में उनके अनुसार आचरण करते थे। किन्तु इस समय तुम लोग तो केवल पाठ को ही आचरण मानने लगे हो, बस, अक्षर और मात्राओं को ही सुधारते रहते हो। इनमें जो कुछ लिखा है उसके तात्पर्य की ओर तुम्हारा ध्यान ही नहीं है। यह बात खूब समझ लेनी चाहिये कि पढ़ने का फल पढ़ना ही नहीं है, इसका फल तो यह है कि वचन के रहस्य को समझ कर उसके अनुसार आचरण करे। जो वचनों को पढ़ कर उनके आदेश का पालन न करे तो उसकी स्थिति तो ऐसी ही है जैसे किसी सेवक के पास उसके स्वामी का कोई पत्र आवे और उसमें कोई विशेष कार्य करने का आदेश हो, किन्तु वह सेवक उसे स्वच्छ स्थान में बैठ कर पढ़ तो ले और उसके अक्षरों को भी सुधार दे, पर उसमें जो करने को लिखा हो वह न करे। ऐसा सेवक तो निःसन्देह दण्ड का ही अधिकारी होगा।

अतः याद रखो, जो पुरुष भगवद्वाक्यों को छः युक्तियों से अध्ययन करता है उसका ही पढ़ना सफल होता है। वे युक्तियाँ इस प्रकार है—

(१) जिस प्रकार सेवक स्वामी के सामने बैठता है उसी प्रकार नम्रता सहित बैठ कर वचनों का पाठ करे। तथा पवित्र होकर बैठे।

(२) पाठ धीरे धीरे करे, जल्दी न करे और उसके अर्थ को विचारता जाय। ऐसा न सोचे कि किसी प्रकार जल्दी से पाठ समाप्त कर लूँ।

३—पाठ करते समय भय और प्रेम से आविष्ट होकर रोता जाय। यदि नेत्रों में आँसू न आवे तो हृदय को द्रवीभूत करे। महापुरुष ने कहा है कि भगवान् के वचन भय प्रकटाने के लिये है, अतः भगवान् का भय मानते हुए पाठ करो। जो कोई इन्हें विचारेगा उसे निःसन्देह भय उत्पन्न होगा। इस प्रकार, जब अपने को दीन और पराधीन समझेगा तो अपनी स्थिति पर शोक भी अवश्य होगा। किन्तु यह भय और शोक की अवस्था तभी प्राप्त होती है जब असावधानी और अचेतनता को त्याग कर पाठ किया जाय।

४—वचनो के तात्पर्य को अलग-अलग करके विचार करे। अर्थात् जब ताड़ना का प्रसग आवे तो भगवान् से अपनी रक्षा चाहे और जब भगवत्कृपा का प्रसग हो तो आशावान् हो जाय।

५—पाठ के समय कपट और विक्षेप का कारण न बने। जब कोई दम्भ का आभास जान पड़े अथवा अपने पाठ से दूसरे के भजन में विक्षेप होता देखे तो ऊँचे स्वर से न पढ़े, क्योकि गुप्तदान के समान गुप्तपाठ का भी विशेष फल होता है। किन्तु यदि दम्भ का आभास न हो और किसी के भजन मे विक्षेप भी न होता दिखाई दे तो ऊँचे स्वर से ही पाठ करना अच्छा है, क्योकि इससे निद्रा और आलस्य पास नहीं आते तथा सुननेवालों को भी लाभ होता है। कभी-कभी तो सोनेवाले भी सजग हो जाते है। यदि पुस्तक देखकर पाठ किया जाय तो और भी अच्छा है, क्योंकि इससे नेत्र भी इसी काम में लग जाते है।

इस प्रकार नेत्र भी दूसरी ओर न देखकर भजन में ही लगे रहेंगे। कहते हैं, एक बार रात्रि में महापुरुष कहीं जा रहे थे। उन्होंने एक जिज्ञासु को गुप्त रूप से पाठ करते देखकर पूछा कि तुम इस प्रकार पाठ क्यों करते हो? उसने कहा, "मैं जिसको सुनाता हूँ वह गुप्त-पाठ भी सुन लेता है।" फिर महापुरुष आगे गये तो उन्होंने एक सन्त को उच्च स्वर से पाठ करते देखा। तब उससे पूछा कि तुम ऊँचे स्वर से क्यों पढ़ते हो? उसने कहा, "अपनी ओर सोये हुए पुरुषों की निद्रा और विक्षेप को दूर करता हूँ।" तब महापुरुष ने सोचा, "भावनाएँ तो दोनों की ही शुद्ध है, क्योंकि किसी भी कार्य का शुभ या अशुभ होना कर्ता के उद्देश्य पर ही निर्भर करता है। जिसका उद्देश्य शुभ होता है उसका कर्म भी शुभ होता है।"

६—पाठ कोमल ध्वनि से करे, क्योंकि पाठ की ध्वनि जितनी ही कोमल होगी उतने ही भगवद्वाक्य चित्त में अधिक प्रवेश करेंगे।

इस प्रकार ये जो छः युक्तियाँ कही गयी हैं वे तो स्थूल है। इन्हीं की तरह छः सूक्ष्म युक्तियाँ भी है। उनका विवरण इस प्रकार है—

१—पाठ करते समय वचनों का महत्व ध्यान में रखे और यह स्मरण रखे कि ये वचन साक्षात् भगवान् के कहे हुए है। अतः भगवान् के स्वाभाविक स्वरूप के अनुसार ये भी अविनाशी है तथा इनका चरम तात्पर्य भगवान् के ज्ञान में ही है। मेरी जिह्वा पर जो स्फुरित होते है वे तो केवल अक्षर ही है। किन्तु जिस प्रकार 'अग्नि' शब्द उच्चारण करना तो सुगम है किन्तु

अग्नि का ताप सहन करना बहुत कठिन है, इसी प्रकार इन अक्षरों का उच्चारण तो सुगम है, किन्तु इनका तात्पर्य ऐसा प्रबल है कि उसका साक्षात्कार हो जाय तो उसी के प्रकाश में चौदहों भुवन लीन हो जायेंगे और हम उस तेज को सहन नहीं कर सकेंगे। परन्तु प्रभु ने इन वचनों के अर्थ की सुन्दरता और महत्ता को शब्दों और अक्षरों के पर्दे में छिपा रखा है, जिससे कि मन और वाणी को भी वचनों का रसास्वाद हो सके, इस पर्दे के बिना तो मनुष्यों को तात्पर्य समझाया ही नही जा सकता था। अतः जिज्ञासुओं को ध्यान रखना चाहिये कि इन वचनों का तात्पर्य अक्षरों से परे है। जिस प्रकार बैल आदि पशु मनुष्यों के शब्दो का अर्थ नही समझ सकते और अपनी स्वाभाविकी भाषा से मनुष्य उनसे काम नहीं ले सकते, इसलिये चरस या हल मे चलाने के लिये वे पशुओं की तरह ही शब्द करते हैं। उसे सुनकर वे सावधान हो जाते है और उस कार्य को पूरा कर देते है। किन्तु फिर भी वे इस रहस्य को नहीं समझ सकते कि पृथ्वी पर हल किस लिए चलाया जाता है और धरती क्यो खोदी जाती है। वास्तव में धरती खोदने का जो यह उद्देश्य है कि इससे भूमि कोमल हो जायेगी और उसमें पवन एवं जल का प्रवेश होने से बीज अंकुरित होकर बढ़ने लगेगा यह बात बैलों के चित्त में कुछ नहीं आ सकती। इसी प्रकार बहुत से पाठ करने वाले भी ऐसे होते है कि वे संत और भगवान् के वचनों को केवल शब्दमात्र समझते है। यह उनकी बुद्धि की अत्यन्त मन्दता है। यह

ऐसी ही बात है, जैसे कोई पुरुष यह तो जानता हो कि 'अग्नि' का अर्थ 'आग' है, किन्तु उसे यह पता न हो कि आग तो कागज को जलाने वाली चीज़ है। यदि ये अक्षर ही आग है तो ये तो कागज पर लिखे ही हुए है, इनसे तो इसे कोई हानि नहीं पहुँचती। अतः जिस प्रकार शरीर में जीव होता है और उसी के कारण शरीर की स्थिति होती है तथा वही इसकी महत्ता का कारण है वैसे ही अक्षर तो केवल शरीर के ही समान है, इसका जीव तो अर्थ है। अर्थ के कारण ही शब्द और अक्षरों का महत्त्व है। अतः सबसे पहले तो पाठ करने वाले को भगवान् के वचनों का महत्त्व जानना चाहिये।

—जिन प्रभु के वचनों का पाठ करता है उन्हें अपने सामने विद्यमान देखे तथा ऐसी धारणा करे कि स्वयं वे ही मुझसे ये वचन कह रहे है। अतः उनके सामने भय-भीत-सा होकर स्थित हो और जैसे पुस्तक को पवित्र हाथों से स्पर्श करता है उसी प्रकार वचनों को भी पवित्र हृदय से ग्रहण करे, हृदय की पवित्रता से यही तात्पर्य है कि दूषित स्वभावो से शून्य हो और भगवद्वचनों के प्रति आदर एवं महत्ता के प्रकाश से आलोकित रहे। पूर्वकाल में अक्रमा नाम की एक बालिका थी। वह जब भगवद्वचनों का पाठ करने के लिये पुस्तक खोलती थी तो कहती थी कि ये सर्वेश्वर श्री भगवान् के वचन है। बस, ऐसा कहते ही प्रीति और भय के आवेश से उसे मूर्छा हो जाती थी। मनुष्य जब तक भगवान् की महत्ता नहीं समझता तब तक उनके वचनों की महिमा भी नही जान सकता। तथा भगवान् की महिमा भी

उनकी कारीगरी और गुणों को जाने बिना नहीं जानी जा सकती । उनकी कारीगरी तो यह है कि आकाश पाताल, पृथ्वी, देवता, मनुष्य, पशु, कीट, वृक्ष और पर्वतादि जो कुछ सृष्टि है सब उन्ही की रचना है, उन्हीं के अधीन है और जब वे इसका संहार करते हैं तब भी उन्हें किसी का कोई भय नहीं होता और न इस से उनकी पूर्णता में ही अन्तर आता है । वे ही सम्पूर्ण जीवो की उत्पत्ति, स्थिति और संहार करनेवाले है। इस प्रकार विचार करने से प्रभु की महिमा की कुछ झलक प्राप्त हो जाती है । अतः ऐसा विचार करना चाहिये कि ऐसे जो ईश्वरों के ईश्वर श्री भगवान् है उनके वचनों का मैं पाठ कर रहा हूँ। ऐसा भाव रखने से हृदय में उन का भय भी बना रहता है ।

पाठ के समय चित्त को एकाग्र रखे और विक्षेप से दूर रहे । जब कोई वाक्य असावधानी से पढ़ा जाय तो उसी को फिर पढ़े क्योकि असावधानी से किया हुआ पाठ तो ऐसा है जैसे कोई पुरुष फूलों को देखने के लिये किसी बाग में जाय, किन्तु वहाँ विक्षेप से ऐसा अन्यमनस्क हो जाय कि वहाँ के विचित्र पुष्पों की रचना को कुछ भी न देख सके और यों ही बाहर चला आवे । तब तो उसका वहाँ जाना व्यर्थ ही होगा । इसी तरह भगवद्वाक्य भी जिज्ञासुओं का बगीचा ही है, इसमे जो नाना प्रकार के रहस्य है वे मानो परम विचित्र एव मनोमोहक फल-फूल ही है । यदि कोई पुरुष इन पर विचार करे और फिर उसका चित्त एकाग्र हो जाय तो निःसंदेह उसको ऐसा आनन्द प्राप्त होगा कि किसी पदार्थ की ओर रुचि नहीं होगी । इसी से कहा है कि यदि

पाठ करनेवाला पुरुष वचनों के अर्थ को न समझे तो उसके पाठ का थोड़ा ही लाभ होता है। अतः उसे चाहिये कि वचनों की महिमा और सुन्दरता को हृदय में धारण करे तथा अन्य संकल्पों को दूर रखे।

(४) सब वचनों को गम्भीरतापूर्वक विचारे और जो समझ में न आवे उनका बार-बार अभ्यास करे। इस प्रकार कई बार पढ़ने से उनका रहस्य प्रकट होगा। फिर उसी रस में निमग्न हो जाय। इस तरह रसास्वादन करते हुए अध्ययन करने से अधिक लाभ होता है। एक संत का कथन है कि जब कोई पुरुष जिह्वा से तो कोई वचन उच्चारण करता है और मन से दूसरी ही बात सोचता रहता है, तो वह उस वचन के तात्पर्य से बहुत दूर पड़ जाता है। एक दूसरे सन्त ने कहा है कि जब भजन या पाठ में मुझे कोई व्यवहार का संकल्प फुरता है तो उसकी अपेक्षा मैं मरना अच्छा समझता हूँ। अतः मनुष्य को चाहिये कि जब किसी वचन का पाठ करने लगे तब चित्त में किसी और संकल्प का चिन्तन न करे। यद्यपि वह संकल्प सात्त्विक हो तो भी उसे भुला देना ही अधिक अच्छा है। जब भगवान् की स्तुति का पाठ करने लगे तो ऐसा ध्यान रखे कि वे प्रभु सबसे निर्लिप्त है, संकल्प से परे है, सबके ऊपर समर्थ है और परमदेव है। और जब उनकी कारीगरी का वचन पढ़े तब ऐसा विचार करे कि पृथ्वी और आकाश को उन्होंने उत्पन्न किया है। तथा उनकी नाना प्रकार की रचना देखकर प्रभु की विद्या, सामर्थ्य और महिमा को पहचाने एवं जिस पदार्थ को भी देखे उसमें उन्हीं की सत्ता अनुभव करे। जब इस वचन को पढ़े कि प्रभु

ने जीव को एक पानी की बूँद से बनाया है, तो ऐसा विचार करे कि वह वीर्य की बूँद तो एक ही रङ्ग की थी, उन्होंने तो उसी से कई रग के अवयव बनाये है। देखो, त्वचा, मांस, नाडी, हाथ, पॉव, जिह्वा और कर्ण आदि सभी अवयव कैसे आश्चर्यरूप है। यह शरीर एक मॉस के पुतले के समान ही तो है, तथापि इसमें देखना, सुनना बोलना और चेतनता कैसे प्रकट हो गयी ! इस प्रकार सब वचनो का उल्लेख करना बड़ा कठिन काम है। कहने का तात्पर्य यही है कि जिस वचन का पाठ करे उसके तात्पर्य पर विचार और अभ्यास करने में भूल न करे। जिस पुरुष की वृत्ति किसी महापाप में आसक्त होती है, जो मनमाने रूप से किसी भी प्रकार की क्रिया में प्रवृत्त हो जाता है तथा जिसे किसी मत या पन्थ का इतना आग्रह हो जाता है कि उसके सिवा वह यथार्थ बात को सुनना ही नहीं चाहता, उस को प्रभु के वचनो का अर्थ कभी प्रकट नहीं हो सकता।

(५) पढ़ते समय जैसे-जैसे वचनो के अर्थो से भिन्न-भिन्न भाव अभिव्यक्त हों वैसे-वैसे ही अपने चित्त की वृत्ति को भी उन्ही के अनुरूप बदलता जाय। यदि कही भय या ताड़ना का प्रसग हो तो भय-भीत और अधीन-सा हो जाय, जब भगवत्कृपा का प्रसंग पढ़े तो आशायुक्त और प्रसन्नचित हो जाय तथा जब प्रभु की अपारता का प्रसङ्ग पढ़े तो अत्यन्त दीनभाव ग्रहण करे और ऐसा समझे कि मेरी ऐसी बुद्धि ही नहीं है कि मै उनकी स्तुति या महिमा का वर्णन कर सकूँ। इस प्रकार जैसा-जैसा वचन हो उसके अनुसार ही अपने

चित्त की अवस्था बनावे ।

(६) भगवान् के वचनों को ऐसा समझे कि मानो मैं साक्षात् उन्हीं के मुख से सुन रहा हूँ। एक सन्त ने कहा है कि पहले मेरी समझ में भजन का कोई रहस्य नहीं आता था। किन्तु जब से मैंने ऐसा विश्वास किया कि ये वचन मैं महापुरुष के मुख से सुन रहा हूँ तब से मुझे उनमें रस आने लगा। और जब मैंने ऐसी भावना की कि इन वचनों के रूप से मुझे आकाशवाणी हो रही है तो मुझे और भी अधिक आनन्द आने लगा। इसके पश्चात् मैंने ऐसी धारणा की कि स्वयं भगवान् ही मुझे ये वचन सुना रहे है। तब तो मुझे ऐसा रस और आनन्द का अनुभव हुआ कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार पाठ करने के विषय में छः स्थूल और छः सूक्ष्म युक्तियाँ बतलायी गयीं। जो पुरुष इनके अनुसार पाठ करेंगे उन्हें उससे बहुत अधिक लाभ होगा।

छठी किरण

भजन के विषय में

याद रखो, सम्पूर्ण साधनों का फल भगवान् का भजन है। पहले हम भगवद्वचनों के पाठ की श्रेष्ठता का वर्णन कर चुके हैं। किन्तु उनका तात्पर्य भी यही है कि किसी प्रकार भोगों से विरक्त होकर भगवान् के स्मरण में ही स्थित होओ। जब तक भोगों की प्रबलता रहती है तब तक भजन का कोई रहस्य प्रकट नहीं होता। अतः निश्चय हुआ कि सम्पूर्ण कर्मों का सार भगवान् का भजन ही है। जितने साधन हैं वे सब भजन की दृढ़ता के लिये ही कहे गये हैं। प्रभु ने भी कहा है कि तुम मेरा स्मरण करो तो मैं तुम्हारा स्मरण करूँ। किन्तु यदि स्मरण की ऐसी अवस्था प्राप्त न हो सके तो अधिक काल भजन का ही अभ्यास करना चाहिये, क्योंकि इस जीव की मुक्ति का कारण भजन ही है। जो पुरुष उठते-बैठते, सोते-जागते और चलते-फिरते किसी भी अवस्था में भगवान् के भजन से असावधान नहीं होते उनकी महिमा तो स्वयं श्री भगवान् ने भी कही है। साथ ही, उन्होंने यह भी कहा है कि भय और दीनतासहित गुप्तरूप से ही भजन करो तथा साय-प्रातः किसी भी समय भजन की ओर से असावधान मत होओ। किसी पुरुष ने महापुरुष से पूछा था कि मनुष्य का सब से बड़ा पुरुषार्थ क्या है? तब उन्होने कहा था कि चित्त की वृत्ति प्रबल अभ्यास के कारण मृत्यु के समय भगवान् की ओर लगी हो— इस प्रकार स्मरण का ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है। उन्होंने यह

भी कहा था कि भजन से अचेत पुरुषों की अपेक्षा भजनानन्दी पुरुष उतने ही श्रेष्ठ हैं जितने मृतकों की अपेक्षा जीवित पुरुष, अथवा जैसे सूखे वृक्षों की अपेक्षा फल से लदे हुए वृक्ष, या जैसे कायरों की अपेक्षा युद्ध में सम्मुख रहनेवाले शूरवीर। एक और सन्त ने कहा है कि परलोक में सब लोगों को पश्चात्ताप होगा कि हमने निरन्तर भजन ही क्यों नहीं किया, संसार में अपने समय को व्यर्थ क्यों खोया? और जिन्होंने भजन किया होगा वे भी कहेंगे कि हमने और अधिक क्यों नहीं किया? एक क्षण के लिये भी क्यों प्रमाद किया?

सो, इस भजन की भी चार अवस्थाएँ हैं। उनका विवरण इस प्रकार है—

१—पहली अवस्था तो यह है कि मुख से तो भगवान् का नाम उच्चारण करे और हृदय से अचेत रहे। यह सब से निकृष्ट अवस्था है। इसीलिये इसका लाभ भी बहुत कम है। परन्तु लाभ हो ही नहीं—ऐसी बात भी नहीं है, क्योंकि जीभ विवाद और मिथ्या-भाषण में लगी रहे इसकी अपेक्षा तो उससे भगवान् का नाम लेना निःसन्देह श्रेष्ठ है।

२—दूसरी अवस्था यह है कि चित्त से भजन करे और चित्त एकाग्र न हो तब भी हठपूर्वक संकल्पों को हटाता रहे एव चित्त को भजन में जोड़ता रहे। यह मध्यम अवस्था है।

३—तीसरी अवस्था यह है कि इसका हृदय भजन में स्थिर हो जाय और उसका रस हृदय में इतना प्रबल हो कि जब कोई दूसरा कार्य अवश्य ही करना हो तो भी यत्न करके चित्त को उसमें लगाना पड़े। यह उत्तम स्थिति है।

४—चौथी अवस्था यह है कि जिस वस्तु का स्मरण करता हो उसके स्वरूप में चित्त की वृत्ति लीन हो जाय। वह वस्तु तो परमात्मा ही है। उसके स्वरूप में लीन होने का अर्थ यह है कि उसमें डूब जाने से चित्त में भजन करने की भी सुधि न रहे। बस, सत्तास्वरूप भजन ही शेष रह जाय।× भजन तो जप-रूप क्रिया और अक्षरों द्वारा किया जाता है। यह निःसन्देह स्थूल है और संकल्पात्मक है। किन्तु भजन की उच्चतम अवस्था यह है कि संकल्प और अक्षरों का तो अभाव हो जाय और केवल भगवत्सत्ता में स्थिति हो। यह अवस्था पूर्ण प्रेम होने पर ही प्राप्त होती है। जैसे किसी पुरुष की जब किसी से अत्यन्त प्रबल प्रीति होती है तो वह अपने प्रेमी के स्वरूप में ऐसा डूब जाता है कि अपने आपको तथा और भी सब पदार्थों को भूल जाता है, यहाँ तक कि उस प्रियतम का नाम भी उसको स्मृति में नहीं रहता। इसी प्रकार जब ये पुरुष प्रभु के साक्षात्कारद्वारा अपने को और सब पदार्थों को भुला देगा तभी सन्तों की उत्तम अवस्था को प्राप्त होगा। सन्त लोग इस अवस्था को 'जीवन्मृतक' कहते है, क्योकि यहाँ पहुँचने पर यह अन्य सब पदार्थों के लिये मृतकवत् हो जाता है। भगवान् ने यद्यपि अनेकों ब्रह्माण्ड उत्पन्न किये है, पर हमें उनका ज्ञान तो नहीं होता। हम तो उन्हीं पदार्थों को सत्य मानते है जिन्हें अपनी इन्द्रियोद्वारा अनुभव करते है। सो यदि किसी पुरुष

×अर्थात् चित्त मे 'मै भजन कर रहा हूँ'' ऐसा स्फुरण न रहे, बल्कि वह साक्षात् भजनरूप ही हो जाय।

की इन्द्रियों के लिये ये सब पदार्थ भी अग्राह्य हो जायँ तो उसके लिये तो ये भी असत्य ही हो जाते हैं। यहाँ तक कि वह अपने को भी भूल जाता है, अतः अपने लिये तो वह स्वयं भी नहीं रहता। इसी को जीवन्मृतक कहा जाता है।

इस प्रकार जब इसके लिये सम्पूर्ण पदार्थों की सत्ता निवृत्त हो जाती है तब केवल भगवान् ही सत्यस्वरूप और वर्तमान रह जाते है। जिस प्रकार तुम पृथ्वी और आकाश को देखकर कहते हो कि सारा जगत् इतना ही है, इसके सिवा तुम्हे और कुछ नही भासता, इसी प्रकार उस जीवन्मृतक को और किसी पदार्थ का भान नहीं रहता, वह केवल एक प्रभु को ही देखता है और कहता है कि बस राम ही राम है, उनके सिवा और कुछ भी नहीं है। ऐसी अवस्था में भगवान् से उसका अभेद हो जाता है, वह उनमें अभिन्न रूप से लीन हो जाता है और उसकी भेदभावना नष्ट हो जाती है। यही तत्त्वज्ञों की सर्वोत्कृष्ट अवस्था है। जब जीव को यह स्थिति प्राप्त होती है तो निकटता और दूरी अथवा भेदभाव की उसे कोई सुधि ही नहीं रहती। अर्थात् 'यह मैं हूँ और 'ये भगवान है'—ऐसा द्वैत उसे दिखायी ही नही देता। उसे तो अपने-आपकी ही विस्मृति हो गयी है, फिर वह निकटता और दूरी का अनुभव कैसे कर सकता है, जिससे कि उसे द्वैत बुद्धि हो ?

इसी अवस्था में जिज्ञासु को चैतन्यस्वरूप का प्रत्यक्ष अनुभव होता है तथा वह चिदाकाश में स्थित होकर नाना प्रकार के आश्चर्य देखता है। उसे भूत, भविष्यत् और वर्तमान का ज्ञान हो जाता है, अनेकों सतो और अवतारों के प्रत्यक्ष दर्शन करता है तथा उन्हें हस्तामलकवत् पहचानता भी है। वह ऐसे-ऐसे चमत्कार देखता है कि वाणी-द्वारा उनका वर्णन नहीं किया

जा सकता। जब इस समाधि से उसका उत्थान होता है तब भी एकाग्रता का रस उसके हृदय से नहीं जाता, उसकी चित्तवृत्ति सर्वदा उसी रस की ओर आकर्षित रहती है। माया के सारे पदार्थ उसके लिये नीरस हो जाते है। वह संसारी विषयों में प्रवृत्त भी दिखायी देता है तो भी हृदय से सर्वथा निर्लिप्त रहता है। अन्य लोगों को माया के व्यवहारों में आसक्त देखकर उसे आश्चर्य ही होता है और उनके प्रति करुणा प्रकट करते हुए वह कहता है कि ये मन्दमति जीव कैसे अनुपम सुख से वञ्चित है! तथा संसारी जीव उसे देखकर कहते है कि यह सांसारिक कार्यो को ठीक-ठीक क्यों नही करता? मालूम होता है, यह पागल या उन्मत्त है।

किन्तु यदि जिज्ञासुजन यह परमपद प्राप्त न कर सके और उन्हें इनके सूक्ष्म रहस्य का भी पता न लगे तो भी वे निराश न हों, क्योकि केवल भजन की ही प्रबलता रहे तो वह भी उत्तमोत्तम फलों का कारण होगी, क्योंकि भजन की दृढ़ता से ही प्रेम की प्रबलता होती है और प्रेम होने पर ही जीव सब पदार्थो से विरक्त होता है। अतः उसे भी सबसे अधिक प्रिय प्रभु ही होते है और यही सम्पूर्ण उत्तम फलों का बीज है, क्योंकि इस जीव को निश्चित रूप से श्रीभगवान् के समीप ही पहुँचना है और सम्पूर्ण संसार को त्यागकर जाना है। अतः इसकी प्रीति सर्वथा भगवान् के साथ ही होनी चाहिये। प्रियतम के प्रति जिसकी जितनी अधिक प्रीति होती है उसे उतना ही उनके दर्शनों से विशेष आनन्द भी होता है। अतः जिसका प्रभु के प्रति पूर्ण प्रेम है उसे उनके स्वरूप-साक्षात्कार से पूर्ण ही आनन्द प्राप्त होता है। किन्तु जिसके हृदय में मायिक पदार्थो की प्रीति बद्धमूल है वह तो सर्वदा उनके वियोगजनित दुःख से ही सन्तप्त रहता है।

तात्पर्य यह है कि जब जिज्ञासुजन भगवान् के भजन में

दृढ़तापूर्वक लगे हों और उनके सामने सिद्धि आदि कोई ऐश्वर्य प्रकट न हो तब भी उन्हें भजन का त्याग नहीं करना चाहिये, क्योंकि परमपद की प्राप्ति किसी सिद्धि या ऐश्वर्य के आश्रित नहीं है। अतः जब इस पुरुष का चित्त शुभ गुणों से सम्पन्न और निर्मल हो जाता है तब स्वाभाविक ही यह परमपद का अधिकारी हो जाता है। अतः इसे सर्वदा अभ्यास में तत्पर रहना चाहिये और ऐसा संकल्प रखना चाहिये कि मेरा चित्त एक क्षण के लिये भी भगवान् के भजन से अचेत न हो, क्योंकि भजन ही भगवान् के दर्शन और सूक्ष्म रहस्यों के अनुभव की कुञ्जी है। इसी पर महापुरुष ने भी कहा है कि यदि कोई पुरुष वैकुण्ठादि का सुख भोगना चाहे तो भगवान् के भजन में ही लीन रहे। वास्तव में तो भजन ही परम वैकुण्ठ है।

अतः सम्पूर्ण गुणों का सार यही है कि मनुष्य निन्दनीय कर्मों से बचा रहे तथा भगवान् ने जो-जो कर्त्तव्य कर्म बनाये है उन्हें श्रद्धासहित करे। यदि कोई पुरुष निन्दनीय कर्मों में फँसा हुआ है और शुभ कर्मों की ओर से उदासीन है तो उसका भजन करना भी मनोरथमात्र ही है उसमें वास्तविकता कुछ नहीं है। यथार्थ भजन तो वही है जो पाप-कर्मों से बचने में जीव का सहायक हो और भगवत्स्मरण के द्वारा उसे भाग्यशाली बना दे।

---

(६)

षष्ठ उल्लास

(समस्त शारीरिक क्रियाओं को विचार की मर्यादानुसार करना)

पहली किरण

मित्रता और प्रीति किससे करनी चाहिये

यह संसार परलोक के मार्ग का एक पड़ाव है और इस पड़ाव में आये हुए सब मनुष्य परदेशी है। इन सब को एक ही ओर जाना है। अतः जैसे एक ही दिशा को जानेवाले सब यात्री आपस में सम्बन्धी की तरह होते हैं, वैसे ही हम सब भी परस्पर सम्बन्धी है। इसलिये हममें से प्रत्येक को अन्य मनुष्यों के प्रति प्रेम और शुभ भावना रखनी चाहिये। सो, हमें जिस-जिस प्रकार भाव और संगति करने का अधिकार है इसका अब तीन किरणों में दिग्दर्शन कराया जायगा। पहली किरण में जो जिज्ञासु भगवन्-मार्ग के साथी है उनके सग की विशेषता प्रकट की जायगी, दूसरी में सबके पारस्परिक संयोग के अधिकार और उनकी युक्ति का वर्णन होगा तथा तीसरी किरण में सम्बन्धी, सेवक और सखाओं के भावों की युक्तियाँ बतायी जायँगी।

याद रखो, भगवत्प्राप्ति के लिये जिज्ञासु पुरुषों के साथ मेल-मिलाप रखना भी एक उत्तम भजन है तथा यह सब कामों से बढ़कर है। इस विषय मे महापुरुष ने भी कहा है कि जिस पुरुष को भगवन्मार्ग में चलने का प्रेम है उसे भगवद्भक्तों का साथ बड़े भाग्य से प्राप्त होता है, क्योंकि यदि किसी समय वह भगवद्-भजन में प्रमाद करता है तो उसे दूसरा भक्त सावधान कर देता है और जब दोनों ही सावधान रहते है तो एक ही मार्ग के साथी हो जाते हैं। तथा ऐसा भी कहा है कि जिज्ञासुजनों के संग से ऐसा उत्तम सुख प्राप्त होता है कि दूसरे लोगो से वह मिल नहीं

सकता। एक अन्य स्थान पर वे कहते है कि जब कोई भक्तों के साथ प्रीति करता है तब वह भी भगवान् का अत्यन्त प्रिय बन जाता है। श्री भगवान् कहते है कि मेरा प्रेम उन पुरुषों को प्राप्त होता है जो मेरे लिये मेरे प्रेमियों के साथ प्रेम करते है, तन, मन, धन से उनकी सेवा भी करते है और उनके सब कार्यों में सहयोग प्रदान करने के लिये तत्पर रहते हैं। महापुरुष यह भी कहते हैं कि परलोक में भगवान् कहेगे, "वे पुरुष कहाँ है जिन्होंने मेरे लिये परस्पर प्रेम और मित्रता का भाव रखा है, अब मै उन्हें अपनी छाया तले रखूँगा।" साथ ही यह भी कहा है कि परलोक में सात प्रकार के पुरुषों को भगवान् की छाया-तले स्थान मिलेगा और वे अत्यन्त सुखी होंगे—

(१) नीति और विचार की मर्यादा में रहने वाला राजा।
(२) जो पुरुष बाल्यावस्था से ही अपना जीवन भगवद्भजन में लगाता है।
(३) जो यद्यपि भजनस्थान से बाहर भी जाय, तो भी व्यावहारिक विक्षेप में फँसे नहीं।
(४) जो एकान्त में बैठ कर भगवद्भजन में तत्पर रहे तथा प्रेम से आविष्ट होकर रुदन करे।
(५) जिसे एकान्त में स्त्री से मिलने का अवसर प्राप्त हो, किन्तु जो भगवान् का भय करके उसे त्याग दे।
(६) जो निष्काम भाव से गुप्तदान दे।
(७) जो भगवान् के निमित्त भगवद्भक्तों से मेल बढ़ावे और जब किसी व्यक्ति के साथ प्रेमसम्बन्ध का त्याग करे तब वह भी भगवान् के कारण हो। अर्थात् किसी के भी साथ उसके मेल और त्याग केवल श्रीभगवान् के ही निमित्त से हो, उनमें अपने किसी स्वार्थ का कोई सम्बन्ध न हो।

इसी प्रसंग में एक आख्यायिका प्रसिद्ध है—कहते हैं, कोई पुरुष अपने किसी प्रियजन से मिलने के लिये जा रहा था। मार्ग मे उसे एक देवता मिला, वह कहने लगा, "तुम कहाँ जा रहे हो?" उसने कहा, "अपने मित्र के दर्शनों के लिये जा रहा हूँ।" देवता ने पूछा, "उससे क्या तुम्हारा कोई प्रयोजन है, अथवा उसने तुम्हारे प्रति कोई उपकार किया है?" वह बोला, "मै केवल भगवान् के लिये ही उसके दर्शनो की इच्छा रखता हूँ।" तब वह देवता बोला, "मुझे भगवान् ने ही तुम्हारे पास भेजा है, सो मै तुम्हे एक आनन्द का सन्देश सुनाता हूँ। तुम्हारी इस श्रद्धा ही के कारण भगवान् ने तुम्हें अपना प्रीतिपात्र बना लिया है।"

महापुरुष ने यह भी कहा है, 'धर्मात्मा पुरुषों से प्रेम और भगवद्विमुखों का त्याग करना यह धर्म का एक प्रधान चिह्न है।" एक संत को आकाशवाणी हुई थी कि यदि तुम सम्पूर्ण मनुष्य और देवताओ के भजन के बराबर अकेले ही भजन करो, तब भी जब तक मेरे लिये मेरे भक्तों के साथ मित्रता और विमुखों का त्याग नही करोगे तब तक तुम्हें परमपद प्राप्त नहीं हो सकता। एक और सत ने जिज्ञासुओ से पूछा था कि सगति किसकी करे? तब उन्होंने कहा कि जिसका दर्शन करके तुम्हारा भगवद्भजन दृढ़ हो और जिसका आचरण देख कर तुम्हें भी शुभ आचरण की इच्छा उत्पन्न हो, उसी की सगति करो। एक दूसरे सत को आकाशवाणी हुई कि तुमने किस लिये एकान्त स्वीकार किया है? तब उन्होंने कहा, "प्रभो! जगत् के साथ मिलने से आपके प्रेम में बाधा पड़ती है, इसीसे मुझे एकान्त अधिक प्रिय है।" इस पर उन्हें आज्ञा हुई कि इस एकान्त से तो अपने सुख और स्वार्थ अर्थात् व्यावहारिक क्लेश की निवृत्ति तथा भजनजनित प्रतिष्ठा की प्राप्ति की इच्छा सूचित होती है। अतः तुम मेरे भक्तों के

साथ प्रीति करो और विमुखों का संग छोड़ो। इसी प्रकार एक और संत ने कहा है कि जब भगवद्भक्त परस्पर मिल कर आनन्दित होते है तो उनके सब पाप इसी प्रकार नष्ट हो जाते है जैसे शरद् ऋतु में पत्ते।

याद रखो, जो मित्रता किसी सम्बन्ध को लेकर होती है वह भगवान् के निमित्त नहीं कही जा सकती, जैसे कि पाठशाला में अथवा पड़ौसियों के साथ स्वभाव से हो प्रेम हो जाता है। यह सब तो स्थूल प्रीति है। अथवा जिसका रूप सुन्दर हो और वाणी मधुर हो या जिसके साथ धन अथवा मान का सम्बन्ध हो उससे जो प्रेम होता है वह भी भिन्न ही है। भगवदर्थ प्रेम तो वही है जिसमें किसी भी प्रकार का प्रयोजन एव स्थूलता न हो और जो केवल धर्म के ही लिये हो। सो, यह प्रीति भी दो प्रकार की होती है—

१—एक प्रेम तो वह है जिसमें कोई प्रयोजन रहता है, किन्तु वह प्रयोजन होना चाहिये सात्त्विक। जैसे अध्यापक के साथ विद्यार्थी का प्रेम होता है, वह अध्ययन यदि परमार्थ पथ में चलने के लिये हो तो उनका प्रेम भगवदर्थ समझा जायगा। और यदि उसका उद्देश्य धन अथवा मान हो तो उसकी गणना अन्य प्रकार के प्रेम में होगी। इसी प्रकार यदि पढ़नेवाले के प्रति अध्यापक का निष्काम प्रेम हो और वह उसे भगवान् की प्रसन्नता के लिये पढ़ाता हो तो उसकी प्रीति भी भगवदर्थ मानी जायगी। और यदि उसे मान की इच्छा हो तो वह अशुभ कामना में गिनी जायगी। इसी तरह यदि कोई दान देने वाला अपने सेवक से इसलिये प्रेम करे कि यह सब अर्थियों को ठीक-ठीक सहायता पहुँचा देता है तथा अभ्यागतों को

भी बड़े प्रेम से उत्तम-उत्तम पदार्थ खिलाता है तो यह भी धर्म-सम्बन्धी प्रेम ही माना जायगा।

२—दूसरे प्रकार का प्रेम वह है कि जिसके साथ इसका कोई प्रयोजन न हो, केवल भगवत्सम्बन्ध से ही प्रेम हो तथा भगवान् का प्रेमी समझ कर ही उससे मित्रता करता हो। यह उत्तम प्रकार की प्रीति है। जब किसी के साथ इस दृष्टि से प्रेम किया जाय कि यह भगवान् का जीव है, भले ही उसमे कोई गुण की भावना न हो तो भी उसे प्रेम की दृष्टि से देखे, तो यह पूर्ण प्रेम की अवस्था मानी जायगी। जब किसी के साथ एक व्यक्ति का विशेष प्रेम होता है तो उसे उसका घर और मुहल्ला भी अत्यन्त प्रिय जान पड़ता है तथा उसके सम्बन्धी और सेवकों को देखकर भी प्रसन्नता होती है, यहाँ तक कि उसके कुत्ते भी दूसरे कुत्तों से विशेष जान पड़ते है, इसी प्रकार भगवान् के प्रति जिनका पूर्ण प्रेम होता है उन्हें उनके सभी जीव बहुत प्रिय लगने लगते है, भक्त और जिज्ञासुओ से तो निःसन्देह उनका अत्यन्त प्रेम होता है तथा अन्य सब पदार्थों को भी अपने प्रियतम की रचना समझ कर वह खूब प्रेम करता है। कहते है, वसन्तऋतु आने पर जब कोई पुरुष महापुरुष के आगे कोई नया पुष्प लाकर रखता तो वे उसे अपने नेत्रो पर मलते थे और कहते थे कि ये मेरे प्रियतम के बनाये हुए है और उनसे बिछुड़े हुए अभी इन्हें थोड़ा ही समय हुआ है, ये उनकी बिलकुल नयी कारीगरी है।

इसी प्रकार भगवान् के साथ जो प्रीति होती है वह भी दो प्रकार की है। एक तो वह जो इस लोक और परलोक के सुखों की कामना से होती है और दूसरी जो निष्काम हो। इसी का नाम

पूर्ण प्रेम है। भगवान् के विषय में मनुष्य का निश्चय जितना दृढ़ होता जाता है उतनी ही उनके प्रति इसकी प्रीति दढ होती है। उसी प्रीति के कारण यह प्रभु के प्रेमियों से भी अत्यन्त प्रेम करने लगता है। किन्तु प्रीति की मर्यादा प्रकट होती है धन और मान के अर्पणद्वारा। अर्थात् यह जितना धन और मान भगवत्प्रेमियों पर निछावर कर सकता है उतनी ही उनके प्रति इसकी प्रीति मानी जायगी। अतः जो लोग अपना सम्पूर्ण धन और मान उन्हें अर्पण कर देते है वे उनके पूर्ण-प्रेमी माने जायँगे और जो थोड़ा अर्पण करते है वे अल्प-प्रेमी।

ध्यान रहे, जिस प्रकार सात्त्विक पुरुषों के साथ भगवत्प्रेमियों का स्नेह एव सौहार्द रहता है, उसी प्रकार राजसी और तामसी प्रकृति के लोगो से वे स्वाभाविक ही विरुद्ध रहते है, क्योंकि वे लोग भगवान् से विमुख होते है और उनके सङ्ग से इन्हें अपने में भी प्रमाद आने की आशङ्का रहती है। यहाँ विरुद्ध रहने का यह अर्थ नहीं है कि उनके आचरण को देखकर अपने चित्त में कुढ़ा करे, तथापि ये मनमुखों के साथ मिलने से संकोच अवश्य करते है। बस, इतना ही इनका उनसे विरोध रहता है। इसमें एक भेद और भी है, वह यह कि यदि कोई मनुष्य रजोगुणप्रधान सात्त्विकी प्रकृति का हो तो जिज्ञासु को चाहिये उसकी सात्त्विकता से तो प्रेम करे और रजोगुण से दूर रहे। इस प्रकार एक ही व्यक्ति के प्रति उसके गुणभेद से, उसे प्रेम और उदासीनता साथ साथ करने चाहिये। जेसे किसी व्यक्ति के तीन पुत्र हो, उनमें एक आज्ञाकारी और बुद्धिमान् हो, दूसरा आज्ञा का उल्लघन करनेवाला और मूर्ख हो तथा तीसरा आज्ञाकारी किन्तु मूर्ख हो तो इनमें पहले पुत्र से तो स्वाभाविक ही पिता का प्रेम होगा, दूसरे को वह ताड़नादि करेगा और तीसरे को आज्ञाकारिता को लेकर तो प्रेम करेगा किन्तु मूर्खता के लिये उसे डाटे-डपटेगा भी। इसी प्रकार यदि कोई

पुरुष भगवान् की आज्ञा के विरुद्ध आचरण करता हो तो जिज्ञासु को उसका त्याग करना उचित ही है, जितने अंश में उसका व्यवहार भगवदाज्ञा के अनुसार हो उतने ही अंश में उससे प्रेम और मित्रता रखनी चाहिये।

मनुष्य के प्रेम और विरोध का भाव उसके आचरण से प्रकट हो जाता है। जब तुम्हे किसी व्यक्ति में कोई अवगुण दिखायी देता है तब स्वाभाविक ही तुम्हारा चित्त उससे हटने लगता है, फिर जब अधिक अवगुण प्रतीत होते है तो उससे चित्तवृति एकदम उलट जाती है तथा मिलना और बोलना भी घटने लगता है, और जब वह लम्पटता के कारण सन्तो की मर्यादा त्याग देता है एव अत्यन्त ढीठ हो जाता है तो उसके साथ तुम्हारा वचन, कर्म और प्रेम किसी भी प्रकार से सम्बन्ध नहीं रहता। तामसी पुरुषों की गति तो भोगियो की अपेक्षा भी अत्यन्त निकृष्ट होती है, इसलिये उनके साथ प्रेम करना सर्वथा अनुचित है। वह तो सभी जीवो का घात करनेवाला होता है। किन्तु यदि कोई तामसी पुरुष ऐसा हो जो केवल तुम्हे ही कष्ट पहुँचाता हो तो उसके प्रति प्रतिहिंसा का भाव न रखकर दया ही करनी चाहिये।

यहाँ जो तामसी मनुष्यों से विरुद्ध होने की बात कही है, इस में जिज्ञासुओं की अवस्था दो प्रकार की रही है—उनमें कुछ तो ऐसे हुए है जिन्होने विचार और धर्म की मर्यादा के निमित्त पापियों को दण्ड दिया है और कुछ ऐसे हुए है जिन्होंने सब के प्रति दया का ही भाव रखा है। किन्तु उन्होंने सारे संसार से ही सम्बन्ध तोड़ दिया था। अतः वे पापियों से भी उदासीन ही रहे। इन दोनों का ही आचरण ठीक समझना चाहिये, क्योकि जिस मनुष्य का उद्देश्य शुभ होता है और जिसमें अपने लिये कोई वासना नही होती उस की सभी क्रियाएँ शुभ और कल्याणकारिणी होती है। अतः जिसे यह पता है कि सब जीवो के प्रेरक श्रीभगवान् ही है, स्वयं तो सभी

जीव पराधीन हैं, वह तो सभी प्राणियों को दयादृष्टि से देखता है। यही उत्तम अवस्था है, साथ ही पापी जीवों को पाप कर्मों से रोकना भी बहुत अच्छा है। किन्तु कुछ लोग ऐसे मूर्ख होते है कि वे पाप-कर्मों का त्याग भी नहीं कर सकते और न पापी जीवों के संग से होनेवाले दोष को ही पहचान सकते हैं, तथापि मुख से यही कहते है कि हम तो किसी को भी बुरा नहीं समझते, क्योंकि सबके प्रेरक श्री भगवान् ही तो है। पर हृदय में ये राग-द्वेष से जलते रहते हैं। सो जब तक भगवान् की एकता के ज्ञान का लक्षण प्रकट न हो तब तक ऐसा अभिमान करना व्यर्थ है। वह लक्षण यह है कि यदि कोई इसका धन हरले, अथवा इससे कटु वचन कहे, या इसे अकारण ही दण्ड दे तो भी इसे क्रोध न हो और इसे दयादृष्टि से ही देखता रहे। तब समझना चाहिये कि इसके हृदय में एकता दृढ़ हुई है। जैसे एक बार मनमुखी लोगो ने महापुरुष के दाँत तोड़ दिये और उनके मुँह से रक्त बहने लगा, तब भी उन्होने यही कहा कि प्रभो ! ये लोग मुझे जानते नहीं, अतः आप ही इन पर दया करे। परन्तु जो व्यक्ति अपना प्रयोजन होने पर तो राग-द्वेष करने में पक्का हो, और धर्म की मर्यादा रखनी हो तो मौन हो जाय, अर्थात् पापियों को पाप करने से न रोके और न उनसे अपना सम्बन्ध ही तोड़े, तो उसे तो महामूर्ख ही समझना चाहिये। इसलिये जब तक इसके हृदय में परमात्मा की एकता सुप्रतिष्ठित न हो तब तक यदि यह कुसंगी पुरुषों को बुरा जानकर उनकी मित्रता नहीं त्यागता, तो समझना चाहिये कि धर्म पर इसकी दृढ आस्था नहीं है। जैसे किसी व्यक्ति का कोई प्रिय न हो और उससे कोई दुर्वचन कहे, किन्तु यह उसे कुछ कहे ही नहीं, तो समझना होगा कि वास्तव में उस पुरुष के साथ इसकी मित्रता ही नहीं है।

इसके सिवा जो पापी पुरुष कहे गये हैं उनके भी कई भेद

हैं तथा उन्हें दण्ड देने के लिए भी अधिकार की अपेक्षा होती है। कुछ लोग तो ऐसे होते हैं जो न तो भगवान् को मानते हैं, न परलोक पर विश्वास रखते है और सर्वदा तमोगुण में ही बर्तते है ऐसे लोगों के साथ जिज्ञासुओं को कभी मेल नहीं करना चाहिये, क्योंकि ऐसे लोगों का तो अवतारों और सामर्थ्यवान् पुरुषों ने भी शस्त्रों द्वारा संहार किया है, फिर उनके साथ किसी भी प्रकार का व्यावहारिक सम्बन्ध रखना कैसे उचित हो सकता है? जो व्यक्ति लोगों को सत्कर्म से हटाता है और मनमाने ढङ्ग से नास्तिकों के मत का पोषण करता है, उससे सम्बन्ध रखना अच्छा नहीं हो सकता। उसका तो निरादर करने में ही भलाई है, क्योंकि उसका निरादर देखकर लोगों के चित्त से उसके प्रति विश्वास जाता रहेगा किन्तु जो मनुष्य दूसरों को सत्कर्मों से भ्रष्ट नहीं करता, केवल आप ही उनसे दूर रहता है, उसका प्रकट रूप से तिरस्कार करना ठीक नहीं, यद्यपि उसके साथ मित्रता भी नहीं करनी चाहिये। और जो व्यक्ति निन्दा, झूठ, कपट, दुर्वचन एवं अनीति आदि का व्यवहार करके लोगों को दुःख पहुँचाता हो, उसके साथ तो कठोरता और उपेक्षा का बर्ताव करना ही हितकर है, उससे प्रेम करना तो सर्वथा अनुचित है। तथा जो पुरुष भोगासक्त हो अथवा मद्यपान करता हो, पर किसी को कोई दुःख न देता हो, उसे उपदेश करना चाहिये। किन्तु तभी जब उसमें कुछ श्रद्धा का अंश दिखायी दे। यदि उसमें श्रद्धा न जान पड़े तब तो लज्जापूर्वक उसके आचरणों की ओर से नेत्र मूँद लेना ही अच्छा है।

दूसरी किरण

मित्र के लक्षण और मित्रता की युक्तियाँ

मित्रता के अधिकारी सभी लोग नहीं होते। अतः जिज्ञासु को चाहिये कि जिनसे तीन लक्षण पाये जायँ उनके साथ मित्रता करे। पहला लक्षण तो यह है कि वह पुरुष बुद्धिमान् हो क्योंकि मूर्ख की सङ्गति तो निष्फल होती है और न उसकी मित्रता का निर्वाह हो सकता है। मूर्ख मनुष्य जब तुम्हारा कोई उपकार भी करना चाहेगा तब भी अपनी मूर्खता से ऐसा आचरण कर डालेगा जिससे तुम्हें हानि ही पहुँचेगी और उसे यह पता भी नहीं चलेगा कि मैंने ही इन्हें यह हानि पहुँचायी है। इसलिये मूर्ख की सङ्गति से तो दूर रहना ही भगवान् की सन्निधि प्राप्त करने का साधन है। मूर्ख की तो दृष्टि भी किसी पाप-संस्कार के कारण ही पड़ती है। मूर्ख कहते उसे है जो कार्य के भेद को न समझे और बहुत समझाया जाय तब भी उसकी बुद्धि उसे ग्रहण न कर सके। दूसरा लक्षण यह है कि उसका स्वभाव कोमल हो, क्योंकि जिसके स्वभाव में कठोरता होती है वह अपनी कठोरता के कारण ही मित्रता को निभा नहीं पाता, वह तो निःशङ्क होकर कभी-न-कभी प्रीति की रीति को तोड़ ही डालता है। इसके सिवा मित्रता का तीसरा अधिकारी वह है जिसकी चित्तवृत्ति सत्कर्मों में सुदृढ़ हो, क्योंकि जो पाप कर्मा होता है उसके चित्त में भगवान् का भय कुछ भी नहीं होता और जो पुरुष भगवान् के भय से शून्य हो उसके साथ प्रीति य प्रतीति करना अत्यन्त अनुचित है। इस पर भगवान् भी कहा

हैं कि जो पुरुष मेरे भजन से अचेत है और अपने वासनाओं में ही फँसे हुए है उनके साथ प्रीति या प्रतीति मत करो।

इनके अतिरिक्त जो नास्तिक हों उनका भी संग न करना ही अच्छा है, क्योंकि साथ होने पर उनके रहन-सहन का प्रभाव इसके हृदय पर भी पड़ जाता है और यह भी अपकर्म करने लगता है। नास्तिक लोग यह भी कहा करते हैं कि किसी को भी धर्म का उपदेश करना उचित नहीं, तथा पापों और भोगों से भी किसी को रोकने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि हमें उन लोगों से क्या लेना है? सो ऐसी बातें मन्द भाग्य और दुःख की ही मूल है। अतः इन लोगों की संगति को त्यागने में ही भलाई है। इस प्रकार के वचन तो केवल मन की वासनाओं का ही पोषण करनेवाले है। जिन लोगों का ऐसा ही निश्चय दृढ़ हो जाता है वे धृष्टतापूर्वक खुल्लम-खुल्ला अपकर्म करने लगते है। एक सन्त ने कहा है कि पाँच प्रकार के मनुष्यों का संग न करे—

१—जो झूठ बोलता हो, क्योंकि झूठा आदमी कपट करके सर्वदा छल ही करता है।

२—जो मूढ़ता के कारण तुम्हारे लाभ को ठेस पहुँचानेवाला हो।

३—जो कृपण हो; वह भी तुम्हारी शुभ स्थिति को व्यर्थ कर डालेगा।

४—जो पुरुषार्थहीन हो, क्योंकि उससे भी तुम्हारा कोई कार्य पूरा नहीं हो सकता।

५—जो लम्पट हो; वह किसी दिन तुम्हारी मित्रता को एक ग्रास से भी कम मूल्य में बेच डालेगा। वह लोभवश एक ग्रास भी स्वीकार कर लेगा और तुम्हारी मित्रता की कोई परवाह नहीं करेगा। उसकी दृष्टि में तुम्हारी मित्रता एक ग्रास के बराबर भी नहीं होगी।

एक और सन्त ने कहा है कि मै कठोर और विद्वान् पुरुष को

अपेक्षा तो विद्याहीन किन्तु कोमलचित्त पुरुष की मित्रता को अच्छा समझता हूँ ।

किन्तु यह स्मरण रहे कि सब पुरुषों में शुभ गुणों का मिलना कठिन ही है । अतः सबसे पहले तो संगति के प्रयोजन को पहचानना चाहिये । यदि तुम्हें केवल शुभ गुणों की ही आवश्यकता है तो कोमलचित्त और धीर पुरुषो की ही सगति करनी चाहिये और यदि धन की इच्छा हो तो किसी उदार पुरुष के पास जाओ । इसी प्रकार सब पुरुषो के स्वभाव अलग-अलग है । इसके सिवा किसी पुरुष की संगति तो आहार के समान होती है, उससे सर्वदा ही मिलते-जुलते रहने की आवश्यकता होती है; और किसी की सगति औषध की तरह होती है, उससे किसी अवस्थाविशेष में ही मिलने की जरूरत होती है । तथा किसी का संग रोग की तरह होता है, उससे कभी भी नहीं मिलना चाहिये । यदि सयोगवश कभी उससे मिलना हो भी जाय तो भी धर्म और प्रयत्नपूर्वक उससे छुटकारा पा लेना ही अच्छा है । सर्वदा तो उसी का संग करना चाहिये जिसके सहवास से परस्पर शुभ गुणों का विकास हो ।

स्मरण रहे, यह मित्रता और प्रीति का नाता भी एक प्रकार का सम्बन्ध है । अतः इस सम्बन्धी के साथ बर्तने को कुछ युक्तियाँ भी जाननी चाहिये । इस विषय में महापुरुष ने भी कहा है कि प्रेमियों का मिलन ऐसा सुखदायक होता है जैसे दोनों हाथ परस्पर एक-दूसरे का मैल उतारते रहते है । तथा युक्तिपूर्वक की हुई उनकी संगति का एक विशेष महत्त्व होता है । अतः अब हम ऐसी कुछ युक्तियों का विवरण लिखते है—

पहली युक्ति यह है कि अपनी अपेक्षा अपने मित्र को खान-पान एव वस्त्रादि सामग्री विशेष ही दे तथा उसे किसी पदार्थ की आवश्यकता हो तो अपनी रुचि की कोई परवाह न करके उसकी ही इच्छा पूरी करे । अपने पास जो धन या सामग्री हो उसे

मित्र से भिन्न न समझे तथा उसके कहे बिना ही उसका काम पूरा करने को तत्पर हो जाय। यदि स्वयं मित्र की आवश्यकता का विचार न किया और उसे कुछ माँगना पड़ा तो प्रीति में शिथिलता आ जायगी। यदि तुम्हारा हृदय उसकी आवश्यकता का विचार करने और उसकी सहायता करने में असावधान रहेगा तो तुम्हारी प्रीति केवल दिखावटी ही समझी जायगी। कहते हैं, दो प्रेमीजन परस्पर मित्र थे। उनमें से एक ने कहा, "मुझे चार हजार रुपये की आवश्यकता है।" उस पर दूसरा बोला, "दो हजार ले लो।" तब वह बोला, "तुझे लज्जा नहीं आती कि व्यर्थ ही मित्रता का अभिमान करता है और चाहता है मेरी अपेक्षा माया को अधिक।" इसी प्रकार एक और प्रसङ्ग भी है। कहते हैं, किसी नगर में कुछ प्रेमी पुरुष रहते थे। उनके विषय में किसी ने राजा के पास जाकर कहा कि ये लोग शास्त्र-मर्यादा का उल्लङ्घन करते हैं और लोगों में भ्रष्टाचार का प्रचार करते हैं। राजा ने उन्हें पकड़ कर मार डालने की आज्ञा दी। किन्तु जब उन्हें मारने का अवसर उपस्थित हुआ तो उनमें से एक प्रेमी आगे बढ़ा और कहने लगा कि इनसे पहले मुझे मारो। राजा ने पूछा, तू अकस्मात् कैसे आगे चला आया?" प्रेमी बोला, "ये सब मेरे प्रियतम हैं, अतः मैं चाहता हूँ कि अपनी आयु का कोई क्षण इन पर भी निछावर कर दूँ।" यह सुनकर राजा कुछ सिटपिटाया और बोला, "इनके प्रति यदि आप लोगों के चित्त में इतना प्रेम और विश्वास है लो इन्हें मारना किसी प्रकार ठीक नहीं हो सकता।" ऐसा कहकर उसने सभी को बन्धन-मुक्त कर दिया। एक तीसरा प्रसङ्ग और भी है—एक बार एक पुरुष अपने मित्र के घर आया, किन्तु वह उस समय घर पर उपस्थित नहीं था। तब उस प्रेमी ने उसकी दासी को बुलाया और उसका रुपया-पैसे का सन्दूक मँगाकर स्वयं ही खोलकर जो चाहिये था ले लिया। पीछे जब मित्र अपने घर आया और उसने दासी

के मुख से यह वृत्तान्त सुना तो उसे बड़ी प्रसन्नता हुई और हर्षित होकर उस दासी को दासत्व से मुक्त कर दिया। इसी प्रकार एक अन्य प्रसङ्ग भी है—एक बार एक संत के पास कोई व्यक्ति आया और कहने लगा कि "मैं आपके साथ मित्रता करना चहता हूँ।" संत ने पूछा, "तुम मित्रता की युक्ति जानते हो?" वह बोला, "नहीं।" सत ने कहा, "यदि तुम अपने सम्पूर्ण धन और सम्पत्ति को मुझ से बढ़कर न समझो तो प्रीति की युक्ति पूर्ण हो सकेगी।" वह व्यक्ति बोला, "मुझे ऐसी स्थिति तो प्राप्त नहीं है।" तब संत बोले, "तो तुम प्रीति के अधिकारी नहीं हो, अतः अपने घर लौट जाओ।" इसी प्रकार एक समय महापुरुष वन में विचर रहे थे। उनके साथ एक संगी भी था। वहाँ उन्होंने एक वृक्ष से दो दातौन तोड़ी। उनमें से जो सीधी और कोमल थी वह तो साथी को दी और कठोर स्वयं ले ली। साथी ने पूछा, "महाराज, आपने सीधी दातौन क्यों नहीं ली?" तब महापुरुष बोले, "भाई, यदि एक क्षण भी किसी का साथ दिया जाय तो उसके प्रति मित्रवत् व्यवहार करना आवश्यक हो जाता है, और मित्रता के व्यवहार का यह नियम है कि अपनी अपेक्षा अपने मित्र को अधिक सुख दिया जाय।"

दूसरी युक्ति यह है कि मित्र के सब कार्यों में सहायता करे और उसके कहे बिना ही उसके सब कामों को पूरा करने के लिये तैयार रहे तथा प्रसन्न चित्त से उन्हें निष्पन्न करे। पहले तो ऐसे प्रीतिमान् पुरुष भी हुए हैं जो अपने सम्बन्धियों की अपेक्षा भी मित्रों के कार्यों को विशेष महत्त्व देते थे। एक संत ने कहा है कि मुझे भगवन्मार्ग के मित्र अपने स्त्री-पुत्रादि की अपेक्षा भी अधिक प्रिय हैं, क्योंकि वे हमें धर्म की दृढ़ता में सचेत करते रहते हैं। एक सत ने कहा है कि जब मेरे साथ मेरे शत्रु का कोई प्रयोजन होता है तो मैं उसे ही शीघ्र पूरा करना चाहता हूँ, फिर अपने परमार्थमार्गी प्रियजनों के कार्यों को पूरा करने में मैं क्यों सावधान न होऊँगा?

तीसरी युक्ति यह है कि जिह्वाद्वारा सर्वदा मित्र के गुणों की ही वर्णन करे, अवगुण कभी किसी के सामने न कहे। यदि कभी कोई व्यक्ति किसी मित्र की निन्दा करे तो उसे रोक दे और ऐसा समझे कि इस समय भी वह मित्र मेरे पास ही, मौजूद है। अतः जिस प्रकार मित्र की उपस्थिति में उसके विषय में चर्चा करता है वैसे ही उसके पीछे भी उसका हितचिन्तन ही करे। इसके सिवा मित्र कोई बात कहे तो उसका खण्डन न करे तथा उसकी किसी गुप्त बात को भी प्रकट न करे। यदि किसी समय मित्र अपनी अवज्ञा भी कर दे तो भी उससे कुछ कहे नहीं और न रोष ही प्रकट करे। ऐसा समझे कि मनुष्य तो सर्वदा भूलों से ही भरा हुआ है, मुझसे भी तो अनेकों बार भगवद्भजन में कई प्रकार की अवज्ञाएँ हो जाती है। ऐसा विचार कर अपने रोष को शान्त कर ले। यदि तुम कोई ऐसा मनुष्य ढूँढना चाहो कि जिसमें किसी प्रकार की असावधानी और अवगुण हों ही नहीं, तो यह भी अत्यन्त दुर्लभ है। ऐसा होने पर तो तुम किसी से भी प्रेम नहीं कर सकोगे और मित्रता के सुख से वञ्चित ही रह जाओगे। महापुरुष ने भी कहा है कि प्रीतिवान् पुरुष सर्वदा गुणों पर ही दृष्टि रखते हैं। यदि उन्हें किसी का कोई दोष दिखायी भी देता है तो वे समझते है कि उनसे अकस्मात् किसी कारण से यह भूल हो गयी है। तथा जो कपटी पुरुष होता है वह तो सर्वदा अवगुणों की ही ओर देखता है। अतः उचित यह है कि जिसमें एक भी गुण दिखाई दे उसके दस अवगुणों का भी विचार न करे। महापुरुष कहते है कि कुसङ्गी पुरुषों से तो भगवान् रक्षा ही करे। यहाँ 'कुसङ्गी पुरुष' उन्हें कहा है जो किसी के अवगुण देखकर उनका तो प्रचार करते हैं और शुभ गुणों को छिपा लेते है। अतः उचित यही है कि मित्र के अवगुणों को विचारे नहीं तथा उनके विषय में सर्वदा शुभ अनुमान ही करे क्योंकि किसी के विषय में बुराई का

अनुमान करना अत्यन्त निन्दनीय है। इस पर एक संत का कथन है कि अपने मित्र के अवगुणों को प्रकट करना ऐसा ही है जैसे कोई व्यक्ति सोये हुए मित्र का वस्त्र उतार ले और उसे नङ्गा कर दे। उसकी यह क्रिया जितनी निन्दनीय मानी जायगी उससे भी बढ़ कर निन्दा के योग्य अपने मित्र के अवगुणों को प्रकट करना है। अतः बुद्धिमानों ने कहा है कि जिस प्रकार भगवान् तेरे गुण और अवगुण दोनों ही जानते हैं, किन्तु अवगुणों को प्रकट नहीं करते उसी प्रकार मित्र भी वही है जो अवगुणों को जानकर भी प्रकट न करे। तभी उसका सङ्ग भी लाभदायक होता है। कहते हैं, किसी व्यक्ति ने अपने मित्र से अपना कोई गुप्त भेद प्रकट किया और फिर पूछा कि तुम ने यह बात हृदय में रख ली है ?× इस पर मित्र ने कहा कि मैंने तो भुला दी। (अर्थात् मेरे चित्त पर इसका अब कोई प्रभाव नहीं है।) क्योंकि लोभ अथवा अपनी किसी वासना के कारण जो किसी समय अकस्मात् मित्र को त्याग देता है वह मित्रता का अधिकारी नहीं होता। अतः मित्रता की युक्ति यही है कि मित्र के भेद को प्रकट न करे और न मित्र के आगे ही उसकी किसी प्रकार की निन्दा करे। तथा कभी कोई झूठी बात भी न कहे और न मित्र की बात का खण्डन ही करे। इसके सिवा मित्र से अपना कोई कर्म छिपाये भी नहीं। याद रखो, यदि उलटी बात कह कर मित्र के किसी वचन का खण्डन किया जायगा तो कुछ ही दिनों में मित्रता नष्ट हो जायगी, क्योंकि वचन को उलटने का अर्थ यह होता है कि तुम मित्र को मूर्ख बनाना चाहते हो और अपनी बुद्धिमानी प्रकट करते हो। सो, यह मित्रता का लक्षण नहीं है। इसी पर महापुरुष ने भी कहा है कि यदि तुम्हारा मित्र तुम से कहे कि उठो, तो उससे यह भी पूछना ठीक नहीं है कि कहाँ चलोगे? क्योंकि प्रीति की उत्तम रीति यह है कि

× अर्थात् तुम इसे याद रखोगे तो फिर किसी से कह भी दोगे।

इसकी सब क्रियाएँ मित्र की आज्ञा और प्रसन्नता के अनुसार हों।

चौथी युक्ति यह है कि सर्वदा अपने मित्र की प्रशंसा ही करे और बड़े मीठे शब्दों में उसके गुप्त भेद पूछे। उसकी प्रसन्नता और शोक में उसका साथ दे अर्थात् मित्र की प्रसन्नता और शोकावस्था को अपने से भिन्न न समझे, उसे शुभ शब्दों द्वारा सम्बोधन करे और जब उसके द्वारा अपना कोई हित होता दिखाई दे तो चित्त में प्रसन्न हो और उसे प्रभु का उपकार समझे।

पाँचवीं युक्ति यह है कि मित्र को धर्म-सम्बन्धी विद्या ही सिखावे, क्योंकि ससारिक दुःखों की अपेक्षा नरक के दुःखों से मित्र की रक्षा करना अधिक आवश्यक है। अतः उचित यही है कि यदि शुभ-कार्यों में वह कुछ ढील करता हो तो उसे सदुपदेश देकर धर्मपालन में ही तत्पर करे तथा भगवान् के भय का निश्चय करावे। किन्तु उपदेश उसे एकान्त में ही करना चाहिये, क्योंकि खुले रूप से मित्र का शासन करना उसके अपमान का कारण होता है; अतः उसे बहुत विनम्र सौहार्दपूर्ण शब्दो में समझावे। महापुरुष कहते है कि प्रीतिमान् का दर्पण प्रीतिमान् ही होता है। अर्थात् प्रीतिमान के द्वारा ही कोई अपने अवगुणो को देख सकता है। अतः उचित यह है कि जब वह मित्र सहृदयतापूर्वक एकान्त देश में अपने को कुछ समझावे तो उसका उपकार माने और उसके प्रति क्रोध प्रकट न करे, क्योंकि अवगुणों को सुझा देना तो ऐसा ही है जैसे किसी के वस्त्रों में सर्प हो और उसे इसका पता न हो तथा अपना कोई हितैषी कृपा करके उसे दिखा दे। तब ऐसे व्यक्ति पर क्रोध करना कैसे उचित हो सकता है? उसका तो उपकार ही मानना चाहिये। जितने मलिन स्वभाव है वे सब सर्प ही तो है, ये जीव को डसनेवाले है, इनके दर्शन से जो विष अन्तःकरण में प्रवेश करता है उसका पता तो परलोक में लगेगा। इसलिये जो व्यक्ति

यहीं इनके दोषों को दिखा देता है वह तो अपना परम सुहृद् है। कहते हैं, एक भगवत्प्रेमी संत के पास कोई दूसरे संत आये और उनसे पूछा कि मित्र ! तुमने मेरे किसी दुर्गुण के विषय में सुना हो तो मुझे बताओ। संत ने कहा, "तुम मुझ से यह बात मत पूछो।" फिर उन्होंने अत्यन्त दीनता से कहा कि आप किसी प्रकार का संकोच न करके मुझे मेरा अवगुण बता दें। संत ने कहा, "मैंने सुना है तुम अधिक खाते हो और वस्त्र भी अधिक रखते हो।" इस पर उन्होंने कहा, "ठीक है, अब मैं ऐसा नहीं करूँगा। इसके सिवा कोई और बात सुनी हो तो वह भी बताइये।" सन्त ने कहा, "मैंने और कोई अवगुण नहीं सुना।" इसी पर महापुरुष भी कहते हैं कि जो मनुष्य उपदेश करनेवाले को अपना परमप्रेमास्पद नहीं मानता, समझना चाहिये, उसकी बुद्धि पर अभिमान की प्रबलता है। अतः उचित है कि मित्र को प्रेमपूर्वक धर्म का उपदेश करे और पापों से बचावे। किन्तु यदि मित्र किसी काम में तुम्हारी अवज्ञा कर दे तो उसे क्षमा ही करना चाहिये। यदि वह अवज्ञा ऐसी हो कि उससे मित्रता में ही बाधा आती हो तो उसे एकान्त में समझा दे। ऐसी स्थिति में मित्रता को त्याग देना ठीक नहीं है। किन्तु यदि नम्रतापूर्वक समझाने से भी वह न माने और हृदय में सन्ताप होने के कारण उससे कटु वचन कहने का अवसर आ जाय तो इसकी अपेक्षा तो मित्रता को त्याग देना ही अच्छा है, क्योंकि मित्रता और मेल-जोल का प्रयोजन तो यही है कि इसके द्वारा शुभ गुणों का विकास हो और सहनशीलता प्राप्त हो। इसके विपरीत यदि उसके द्वारा स्वभाव में कठोरता आने लगे तब तो उसे त्यागना ही अच्छा है।

छठी युक्ति यह है कि मित्र के लिये भगवान् से प्रार्थना करे तथा सर्वदा उसका हितचिन्तन करे। इस विषय में महापुरुष

का कथन है कि जब कोई पुरुष अपने मित्र के लिये प्रार्थना करता है तब उसका भी हित होता है।

सातवीं युक्ति यह है कि मित्र की मित्रता का निर्वाह करे। इसका तात्पर्य यह है कि यदि कोई व्यक्ति मित्र की निन्दा करे तो उसे अपना शत्रु समझे और निन्दा सुनकर ही मित्र के प्रति अपने स्नेह को शिथिल न होने दे।

आठवीं युक्ति यह है कि मित्रता में दम्भ को न आने दे। अकारण ही मित्र की बहुत प्रशंसा करना और अपना अत्यधिक प्रेम प्रकट करना, ये सब व्यापार निन्दनीय है और दम्भ ही माने जाते है। अतः उचित यह है कि जिस प्रकार अपने-आप से कोई बड़ा नहीं बनना चाहता वैसे ही मित्र से भी समानता का ही बर्ताव करे, उसके प्रति केवल हृदय की ही प्रीति हो। एक सत का कथन है कि जिस मित्र का मन रखने के लिये कोई प्रयत्न करना पड़े अथवा कष्ट सहन करने की आवश्यकता हो वह मित्र ठीक नहीं।

नवीं युक्ति यह है कि मित्र की अपेक्षा अपने को छोटा समझे तथा उससे किसी प्रकार के उपकार या सेवा की इच्छा न रखे। कहते हैं, एक व्यक्ति ने किन्हीं सन्त के आगे कई बार कहा कि इस समय धर्ममार्ग में अत्यन्त प्रीति रखनेवाला पुरुष मिलना बहुत ही कठिन है। तब सत ने कहा कि यदि तुम्हें किसी ऐसे मित्र की अपेक्षा हो जो सब प्रकार तुम्हारी सेवा करनेवाला हो और तुमसे कभी कोई सेवा न ले तो निःसन्देह ऐसा मित्र तो दुर्लभ ही है। और यदि तुम उसकी सेवा करना चाहो तब तुम्हारे स्वामी बननेवाले तो मेरी सभा में भी बहुत है। इसी से बुद्धिमानों ने कहा है कि जो अपने मित्र की अपेक्षा अधिक चाहता है वह पापी है, जो मित्र के समान देखता है वह दुःखी रहता है और जो अपने को सबसे छोटा समझता है वही सबसे अधिक लाभ उठाता है।

तीसरी किरण

लौकिक सम्बन्धियों के साथ मेल-जोल और व्यवहार की युक्तियाँ

व्यवहार में जिससे जिसका जितना अधिक सम्बन्ध होता है उसे उसका उतना ही निभाना आवश्यक है। किन्तु इन सब सम्बन्धों की अपेक्षा भगवन्मार्ग के पथिकों की मित्रता बढ़कर है। उसकी युक्तियाँ पहले बतायी जा चुकी है। उनके सिवा जो ऐसे लोग हैं जिनके साथ गहरी प्रीति तो नहीं है किन्तु सामान्यतया एक सात्त्विक धर्मसम्बन्ध है, उनसे मेल-मिलाप रखने की भी कुछ युक्तियाँ है। उनका वर्णन नीचे किया जाता है—

१. जो पदार्थ अपने को अभीष्ट न हो उसकी प्राप्ति दूसरे के लिये भी न चाहे। महापुरुष ने कहा है कि सब जीवों का सम्बन्ध एक शरीर के अङ्गों की तरह है; यदि एक अङ्ग को कष्ट पहुँचता है तो सारा शरीर ही दुःख पाता है। इसी प्रकार उचित है कि किसी भी जीव के लिये दुःख का संकल्प न करे।

२. कर्म और वचन द्वारा भी किसी को दुःख न दे। महापुरुष ने भी कहा है कि जिस पुरुष की जिह्वा और हाथों से किसी को दुःख नहीं पहुँचाता वही धर्मात्मा है। अतः जिह्वा और कर्म को ऐसी मर्यादा में रखे कि किसी को किसी भी प्रकार का कष्ट न हो।

३. अभिमानवश अपने को किसी से बड़ा न समझे, क्यों

कि अभिमानी पुरुष भगवान् से विमुख होता है। इस विषय में महापुरुष को आकाशवाणी हुई थी कि दीनता और नम्रता को अङ्गीकार करो तथा अभिमानी न बनो। अतः उचित यही है कि किसी को नीच न समझे। सम्भव है, जिसको तुम नीच समझते हो वह कोई संत ही हो और तुम उसे पहचानते न हों, क्योंकि बहुत संत ऐसे गुप्त रूप से रहते है कि भगवान् के सिवा और कोई उन्हे पहचान नहीं सकता।

४. यदि तुम्हारे आगे कोई किसी की निन्दा करे तो तुम उसे सुनो मत। विश्वास तो उसी पुरुष का करना चाहिये जो सत्यनिष्ठ हो, निन्दक तो कभी सत्यनिष्ठ होता ही नही। एक संत का कथन है कि पिशुन (चुगलखोर) और निन्दक अवश्य नरक-गामी होते है। इसके सिवा यह भी निश्चय जानो कि जो बिना कारण ही तुम्हें दूसरों के दोष सुनाता है वह तुम्हारे दोष भी दूसरों को अवश्य सुनावेगा।

५. सबको पहले ही प्रणाम करो, किसी के साथ विरोध न रखो और न क्रोधवश किसी से मौन गाँठ कर ही बैठ जाओ। यदि कभी किसी से कोई अवज्ञा भी हो जाय तो क्षमा ही कर दो।

६. सबके साथ यथाशक्ति सद्भाव और उदारता का ही बर्ताव करो। किसी की अच्छाई या बुराई की ओर मत देखो। हो सकता है कि कोई पुरुष तुमसे उपकार पाने का अधिकारी न हो, किन्तु तुम्हें तो सबका उपकार करने का अधिकार है ही। अतः तुम तो उपकार ही करो। धर्म की मर्यादा तो यही है कि सभी पर दया करे।

७. जो अपने से बड़ा हो उसका बड़प्पन रखो और जो छोटा हो उस पर दया करो। इसी पर महापुरुष ने कहा है कि जो दूसरों का बड़प्पन रखता है उसका बड़प्पन भगवान् दूसरों से रखाते हैं।

८. सबसे प्रसन्न मुख से मिलो, और वचन भी मीठा ही बोलो।

९. जिसे कोई वचन दो उसका अवश्य पालन करो। इस विषय में सतों का कथन है कि यदि कोई पुरुष व्रत और भजन में सावधान भी हो, किन्तु उसमें मिथ्या-भाषण, वचन का निर्वाह न करना और चोरी—ये तीन दोष हों तो उसे प्रीतिमान् नहीं कह सकते, उसका भजन भी पाखण्ड के लिये ही होता है।

१०. किसी के दोषों को प्रकट मत करो, दोषों को गुप्त रखने से उसके पाप भी पर्दे में रहेंगे। इसी पर महापुरुष ने कहा है कि तुम्हारा धर्म तभी पक्का होगा जब तुम लोगों के दोषों को छिपाओगे और किसी की त्रुटियों को न खोजोगे, क्योंकि जब कोई पुरुष किसी के दोषों को उघारता है तो भगवान् उसकी त्रुटियों को उघाड़ देते है। यदि कोई किसी से किसी के पापों का वर्णन कर रहा हो तब तुम उस ओर कान लगाकर मत सुनो।

११. तुम स्वयं कोई दूषित कर्म न करो, क्योंकि जब तुम्हारा अपकर्म प्रकट होगा तो लोग तुम्हारी निन्दा करेंगे, अथवा तुम्हें देखकर ही उनका चित्त डावाँडोल होगा। इससे तुम्हें और भी अधिक पाप का भागी होना होगा।

१२. यदि तुम्हारे वचनों से किसी को शान्ति प्राप्त होती हो तो तुम आलस्य न करो।

१३. यदि कोई व्यक्ति किसी को कष्ट पहुँचाता हो तो तुम उस दुःखी पुरुष की सहायता करो और यदि कोई किसी के पीछे उसका धन चुराता हो तो उस धन की रक्षा करो, क्योंकि जो किसी दीन पुरुष की सहायता करता है भगवान् उसकी सहायता करते है।

१४. यदि कोई पुरुष कुसङ्ग में फँस गया हो और तुम उसे वहाँ से छुड़ाना चाहो तो उसे कोमल वचनों से समझाओ। उसे देखकर कठोर वचन मत बोलो।

१५. निर्धनों के साथ प्रीति रखो, क्योंकि धनवानों का सङ्ग करने से मनुष्य प्रमादी हो जाता है। कहते हैं, एक संत ने भगवान् से प्रार्थना की कि प्रभो! मैं तुम्हें कहाँ ढूँढूँ? तब आकाशवाणी हुई कि जिनके हृदय में दीनता है उन्हीं के हृदय में मेरा निवास है।

१६. सबको सब प्रकार सुख पहुँचाओ और उद्यम करके भी अभावग्रस्तों की आवश्यकताएं पूरी करो, क्योंकि उनकी सेवा भी भगवान् की ही सेवा है। किसी अभावग्रस्त के कार्य में एक मुहूर्त भी तत्पर रहना सौ वर्षों की समाधि से बढ़कर है। इसी विषय में महापुरुष ने कहा था कि सबल और निर्बल की सहायता करो। लोगों ने पूछा कि सबल की सहायता कैसे की जाय? तब महापुरुष बोले कि उन्हें निर्बलों को कष्ट पहुँचाने से रोको, यही उनकी सहायता है। कहीं ऐसा भी कहा है, कि किसी के चित्त को प्रसन्न रखने के समान और कोई भजन ही नहीं है। तथा ऐसा भी कहते हैं कि दो लक्षण सम्पूर्ण गुणों के मूल हैं—(१) हृदय का विश्वास और (२) जीवों को सुख पहुँचाना। इसी प्रकार दो दोष सम्पूर्ण पापों के मूल हैं—(१) हृदय का अविश्वास और (२) जीवों को कष्ट देना। कहते हैं कोई भगवत्प्रेमी रुदन कर रहा था। उससे पूछा कि तुम क्यों रोते हो? तब वह बोला, "एक मनुष्य ने मुझे कष्ट पहुँचाया है, सो मैं इसलिये रोता हूँ कि जब परलोक में उससे इस विषय में पूछा जायगा तो वह बेचारा क्या उत्तर देगा?"

१७. यदि किसी को कोई रोग हो जाय तो उसके पास जाकर इस विषय में पूछताछ करनी चाहिये। उससे यद्यपि कोई मित्रता न हो तो भी रोगी की सुधि लेना बहुत आवश्यक है। अतः रोगी की सब प्रकार सेवा और सहायता करनी चाहिये। तथा रोगी को भी उचित है कि जब कोई उसे कुछ पूछे तो भगवान् का धन्यवाद करे

और दुःख का विशेष वर्णन न करे, ऐसा समझे कि इस दुःख के द्वारा मेरे पाप नष्ट होंगे। रोग का नष्ट होना सर्वदा औषध पर ही अवलम्बित नहीं है। अतः सब प्रकार भगवान् का भरोसा करे।

१८. मैंने जिस प्रकार ये युक्तियाँ वर्णन की हैं इनका यथावत् ध्यान रखो और अपने पड़ोसियों के प्रति भी प्रेम का सम्बन्ध रखो, क्योंकि जिनके साथ व्यवहार में विशेष सम्पर्क रहता है उनके साथ प्रेम और मेल-जोल का भाव रखना चाहिये। अतः अपने समीप रहनेवालों को भी किसी प्रकार कष्ट न पहुँचाओ, सर्वदा उनकी भलाई में तत्पर रहो और उनमें जो धनहीन हों उनकी सुधि लेते रहो। इसी प्रकार अपने अन्य सम्बन्धियों और दास-दासियों के प्रति भी मेल-मिलाप और दया का भाव रखो।

तात्पर्य यह है कि सब मनुष्यों का अधिकार देखकर उनके साथ यथायोग्य बर्ताव करो। उनमें से जिनके साथ परमार्थ या व्यवहार की निकटता हो उनके अनुरूप युक्ति का विचार करो कि यह कितने भाव और सत्कार का अधिकारी है तथा किस रीति से इसका उपकार हो सकता है। फिर उसी प्रकार उसके साथ बर्ताव करो तथा ईर्ष्या, अभिमान और कृपणता आदि मलिन भावों से दूर रहो। कभी किसी के प्रति कृतघ्नी मत होओ तथा अपनी सारी आयु सदभाव, दया और सहनशीलता में व्यतीत करो। इसी पर महापुरुष ने भी कहा है कि यदि तुम्हारा कोई विरोधी हो तो भी तुम उसके साथ भलाई ही करो और यदि तुम्हें कुछ भी न देता हो तो तुम्हीं उसे कुछ दो।

———

चौथी किरण

एकान्तसेवन और संगति के गुण-दोषों का विवेचन

बुद्धिमानों ने इस विषय में बहुत चर्चा की है। उनमें कुछ का तो मत है कि आचार्यों की संगति सबसे बढ़कर है और कोई एकान्तसेवन को सबसे श्रेष्ठ समझते है। किन्तु जो अन्तर्मुख जिज्ञासु हुए हैं उन्होने तो एकान्त को ही स्वीकार किया है। एक संत का कथन है कि जिसने भोगों से संयम किया है उसे ससार की कोई कामना नहीं रहती, जिसने ईर्ष्या का त्याग किया है वह दयावान् होता है, जिसने कुछ दिन लगकर पुरुषार्थ किया है वह अविनाशी सुख प्राप्त करता है और जिसने एकान्त को स्वीकार किया है वह जगत् के जंजालों से छूट जाता है। एक दूसरे सत ने कहा है कि भजन के अभ्यास का मूल मौन और एकान्तसेवन है तथा एक तीसरे सत कहते है कि यदि कोई व्यक्ति मुझे प्रणाम न करे और जब मैं रोगी होऊँ तो आकर न पूछे, तो मैं उसका उपकार मानता हूँ। एक बार एक जिज्ञासु ने किसी सत से कहा कि मै आपकी सङ्गति करना चाहता हूँ। तब संत बोले, "जब मैं मर जाऊँगा तब तुम किसकी सगति करोगे?" उसने कहा, "तब मै भगवान् के आश्रित रहूँगा।" इस पर संत बोले, "तो तुम अभी से भगवान् के आश्रित हो जाओ।"

इस प्रकार एकान्त और सत्सङ्ग के विषय में अनेकों वचन

हैं किन्तु जब तक इनके गुणों को प्रकट न किया जाय तब तक इस भेद को समझना बहुत कठिन है। अतः अब मैं क्रमशः एकान्त और संगति के गुणों का वर्णन करता हूँ। एकान्त में छः गुण है, उनका वर्णन इस प्रकार है—

पहला गुण—भजन और विचार की सिद्धि एकान्त में ही होती है। सम्पूर्ण भजन का मूल है भगवान् की कारीगरी पर विचार करना और इससे भी ऊँची अवस्था है चित्त को भगवान् के स्वरूप में लीन कर देना तथा अन्य सब पदार्थों को भूल जाना। ऐसी एकाग्रता एकान्तसेवन किये बिना प्राप्त नहीं हो सकती, क्योंकि सम्पूर्ण मायिक पदार्थ इस जीव को बाँधनेवाले ही है। और जिज्ञासु की बुद्धि में इतना बल होना कठिन ही है कि वह इन सब से निर्लिप्त रहे। अतः अभ्यास के लिये उसे एकान्त स्थान में रहना ही अच्छा है। महापुरुष भी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में एक पर्वतीय गुफा में जाकर रहे थे। किन्तु जब उन्होने पूर्ण अवस्था प्राप्त करली तो ऐसे निर्लिप्त हुए कि शरीर से तो सब लोगो के बीच में रहे, किन्तु इनका मन भगवान् के चरणों में ही रहा। उन्होंने यह भी कहा है कि मुझे श्रीभगवान् के प्रेम ने और सबकी आसक्ति से मुक्त कर दिया है। ऐसी अवस्था प्राप्त होना कोई आश्चर्य की बात नही है, क्योंकि यह जीव परमपद का अधिकारी है। एक सत ने कहा है कि मै तो तीस वर्षो से केवल भगवान् के हो साथ बातचीत करता हूँ, किन्तु लोग समझते है कि यह हमसे बोलता है। अतः निश्चय हुआ कि इस अवस्था की प्राप्ति असम्भव नहीं है, क्योंकि जब किसी मनुष्य को किसी स्थूल पदार्थ में विशेष प्रेम होता है तो उसके चिन्तन में ऐसा डूब जाता है कि अनेकों लोगो के बीच में बैठा होने पर भी उनकी बात नहीं सुनता और न उन्हें देखता ही है। किन्तु इस अवस्था का अभिमान करना उचित नहीं, क्योंकि बहुत लोग तो

ऐसे होते हैं कि अनेकों मनुष्यों से मिलने पर उनकी बुद्धि फैल जाती है। कहते हैं, एक बार एक तपस्वी से किसी ने पूछा था कि तुम अकेले ही रहते हो ? इस पर उन्होंने कहा, "नहीं, मेरे साथी भगवान् हैं मैं अकेला नही हूँ।" इसी प्रकार किसी संत ने एक एकान्तसेवी से पूछा था कि तुम अकेले क्यों रहते हो ? तुमने लोगों का सङ्ग क्यो त्याग दिया है ? उसने कहा, "मै अपने कार्य में इतना संलग्न रहता हूँ कि मुझे किसी से मिलने का संकल्प ही नहीं होता।" सत ने पूछा, "वह क्या कार्य है ?" वह बोला, "क्षण-क्षण में निरन्तर भगवान् के अनेकों उपकार होते रहते हैं और मुझसे पाप बनते हैं। अतः मैं अपने पापों को क्षमा कराता रहता हूँ और उनके उपकारों का धन्यवाद करता हूँ, इसीसे मुझे किसी से मिलने का अवकाश नहीं मिलता और न इसके लिये इच्छा ही होती है।" इस पर सत ने कहा, "तुम धन्य हो।" एक बार एक जिज्ञासु किसी सत के पास गया। उन्होने पूछा, "तुम किस लिये आये हो ?" वह बोला, "आपके सत्सङ्ग से विश्राम पाने के लिये आया हूँ।" उन्होंने कहा, "जिसने भगवान् को पहचाना है वह किसी दूसरे के साथ से विश्राम क्यों चाहता है ?" एक और संत ने कहा है कि जब रात आती है तो मै प्रसन्न होता हूँ कि अब प्रातःकालपर्यन्त मै भगवान् के भजन में स्थित रहूँगा। तथा जब सूर्योदय होता है तो शोक होता है कि अब दिन में अवश्य ही लोगों के कारण विक्षेप होगा। एक दूसरे संत कहते है कि भगवान् के भजन में जिसकी प्रीति लोगो के वाद-विवाद से भी बढ़कर नहीं होती वह मनुष्य बुद्धिहीन है, उसका अन्तःकरण मलिन है और वह अपनी आयु व्यर्थ व्यतीत करता है। एक बुद्धिमान् ने कहा है कि जिस मनुष्य को किसी से मिलने अथवा किसी की ओर देखने की अभिलाषा होती है, जानना चाहिये कि उसे आत्मसुख का कुछ भी रस प्राप्त नहीं हुआ, इसी से वह स्थूल

पदार्थों की सहायता चाहता ह । ऐसा भी कहा है कि लोगों से मिलने-जुलने से जिसे विशेष रस आता है वह पुरुष अत्यन्त निर्धन होता है।

अतः निश्चय होता है कि उत्तम भजन हृदय के संयम का अभ्यास है और अभ्यास से ही भजन का रस प्रकट होता है। विचार और ज्ञान की प्राप्ति भी अभ्यास के द्वारा ही होती है और यही सम्पूर्ण साधनो का फल है। कारण कि, एक दिन इस जीव को परलोक मे अवश्य जाना है, सो जब यह पुरुष वहाँ प्रभु के भजन की एकाग्रता के साथ जाता है तब बड़ा भाग्यशाली समझा जाता है। और यह भजनानन्द तथा विचार की प्रौढ़ता बिना एकान्तसेवन के प्राप्त होना असम्भव ही है।

दूसरा गुण—एकान्त में रहने से मनुष्य कितने ही पापों से बचा रहता है। लोगों से मिलते-जुलते रहने पर चार पाप तो अवश्य होते है, इनसे तो कोई विरला ही बच पाता है। उनमें पहला पाप है निन्दा। इसके कारण मनुष्य का धर्म नष्ट हो जाता है। दूसरा पाप यह है कि किसी को कोई अपकर्म करते देखे और उसे उससे हटने के लिये उपदेश न दे तब तो शास्त्रमर्यादा का उल्लङ्घन होता है और यदि उपदेश करे और उसकी रुचि न हो तो उससे विरोध ठन जाता है। तीसरा पाप है दम्भ और कपट। इनसे बचना भी बहुत कठिन है, क्योंकि अपने साथियो मे से यदि किसी का मन रखने और उसके साथ प्रीति बढ़ाने का प्रयत्न करे तब तो विक्षेप होता है और यदि उदासीन रहे तो उससे विरोध हुए बिना नही रह सकता। एक सामान्य-सा पाप यह होता है कि जब अकस्मात किसी से मिलना होता है तब उसके साथ विशेष प्रेम न होने पर भी उसके सत्कार के लिये यही कहा जाता है कि आपसे मिलने की मुझे बड़ी इच्छा थी। यह एक प्रकार से मिथ्याभाषण ही हुआ। और यदि ऐसा न कहें तो उसका सत्कार नही होता। इसके साथ ही फिर उसका और उसके

सम्बन्धियों का कुशल-समाचार भी पूछना होता है । हृदय में कुछ भी प्रेम न होनेपर इस प्रकार का व्यवहार केवल दम्भ ही है । इसी पर एक संत ने कहा है कि जब मनुष्य का किसी से कोई प्रयोजन होता है तो अपना काम बनाने के लिये उसकी इतनी प्रशंसा करता है कि अपने धर्म से ही भ्रष्ट हो जाता है और साथ ही वह प्रयोजन भी सिद्ध नहीं होता ।

इसी प्रकार कपट करने के कारण भी यह भगवान् से विमुख हो जाता है । कहते हैं, एक पुरुष किसी सन्त के पास आया । उन्होंने पूछा, "तुम कैसे आये हो ?" वह बोला, "आपके दर्शनों की प्रीति से" । सन्त बोले, "तुम तो प्रीति को मिटाने के लिये आये हो । अब तुम मेरी झूठी-सच्ची प्रशंसा करोगे और मैं तुम्हारी बड़ाई करूँगा । इस प्रकार झूठ और पाखण्ड ही तो बढ़ेगा ।" हाँ, जो पुरुष संसार में मिले रह कर भी अपने को बचाये रहते हैं, उन्हें किसी से मिलने पर भी कोई हानि नहीं होती । किन्तु यह अवस्था अत्यन्त दुर्लभ है । इसी से पहले जो भगवत्प्रेमी हुए हैं वे आपस में एक-दूसरे से व्यावहारिक बातें नहीं पूछते थे । एक बार एक भगवत्प्रेमी ने दूसरे प्रेमी से पूछा कि तुम्हारी स्थिति कैसी है ? उसने कहा, "सुख और आनन्द है ।" सन्त ने कहा, "सुख और आनन्द तो तभी होगा जब आत्मानन्द की प्राप्ति होगी ।" इसी प्रकार एक और सन्त से भी किसी ने पूछा था कि तुम्हारी कैसी अवस्था है ? तब उन्होंने उत्तर दिया कि जिस पद के द्वारा सुख प्राप्त होता है उसे पा लेना तो मेरे हाथ की बात नहीं है और जिन कर्मों से दुःख ही मिलता है उनका त्याग भी मुझसे नहीं हो सकता । मैं तो सर्वदा चिन्तन करने में संलग्न रहता हूँ, मेरा कार्य तो प्रभु के ही हाथ में है । अतः मुझ-जैसा दुःखी और असहाय तो कोई भी नहीं है । एक दूसरे सन्त से पूछा गया तो उन्होंने कहा था कि मैं महापापी और निर्बल हूँ, अतः पड़ा-पड़ा

अपना प्रारब्ध भोगता हूँ और काल की ओर निहारता रहता हूँ। एक अन्य सन्त से पूछा गया कि आपकी क्या अवस्था है तो वे बोले, "सुख।" पूछने वाले ने कहा, "सुख तो तभी होता है, जब कोई नरकों के दुःख से निर्भय हो जाय।" एक और संत ने अपनी अवस्था का वर्णन इस प्रकार किया है कि जो पुरुष प्रातःकाल उठे और उसे यह भी पता न हो कि सायंकाल तक जीऊँगा या नहीं उसकी अवस्था क्या बतलायी जा सकती है? एक सन्त से जब उनकी अवस्था पूछी गयी तो वे बोले, "जिस पुरुष की आयु तो घटती जाय और पाप बढ़ते जायँ उसकी अवस्था का क्या वर्णन किया जाय?" इसी प्रकार एक बुद्धिमान् से जब किसी ने यही प्रश्न किया तो उन्होंने कहा कि खाता तो भगवान् का दिया हुआ हूँ और आज्ञा मानता हूँ मन की। एक सन्त से जब पूछा गया तो वे बोले, "जिसकी आयु क्षण-क्षण में घट रही हो और वह समझता हो कि मैं बढ़ रहा हूँ उसकी अवस्था का क्या वर्णन करे?" एक दूसरे सन्त ने अपना हाल इस प्रकार बतलाया, "जिस मनुष्य को निश्चय ही मरना हो और परलोक में दण्ड का अधिकारी बनना हो उसकी कौन अवस्था कही जाय?" एक दूसरे सन्त ने कहा है कि मेरा एक दिन भी सुख से बीत जाय तो अच्छा ही है, फिर उससे पूछा गया कि क्या अब तुम्हें सुख नहीं है? उन्होंने कहा, "जिस दिन मुझसे कोई पाप न हो मैं उसी को सुख का दिन समझता हूँ।" एक भगवत्प्रेमी था, उससे मृत्यु के समय किसी ने पूछा कि अब तुम्हारी कैसी स्थिति है? उन्होंने कहा, "जिसे दूर देश जाना हो, पास में कोई तोशा न हो, जिस मार्ग से जाना है, वह अत्यन्त अन्धकारपूर्ण हो, साथी भी कोई हो नहीं और उन महाराज के पास जाना हो जिनसे कि अपना न्याय कराना है तथा वहाँ अपने को बचाने का भी कोई सहारा हो नहीं, उसकी अवस्था का क्या वर्णन किया जाय?"

इसी प्रकार एक सन्त से किसी ने पूछा था कि तुम्हारा क्या हाल है ? उन्होंने कहा, "मुझे पाँच सौ रुपये देने है, सो उन्ही की चिन्ता में रहता हूँ।" उसने तत्काल उन्हें एक हजार रुपये देकर कहा, "पाँच सौ तो दे दे और पाँच सौ से अपनी जीविका चलायें।" फिर कहा कि किसी से प्रीति करके उसकी अवस्था पूछे और उस का दुःख सुनकर सहायता कुछ करे नहीं तो वह पूछना भी कपट-रूप ही होता है। अतः उचित यही है कि जब किसी से उसकी स्थिति पूछी जाय तो उसकी सहायता भी अवश्य करनी चाहिये। अथवा पूछे ही नहीं। इस प्रकार पहले जो प्रेमी संत हुए है उनकी ऐसी ही अवस्था थी कि परस्पर व्यवहार में ही अपनी प्रीति प्रकट नहीं करते थे, बल्कि हृदय में भी एक-दूसरे से इतना गहरा प्रेम रखते थे कि किसी को कोई आवश्यकता होती तो उससे कुछ भी छिपा कर नहीं रखते थे। किन्तु आज-कल तो ऐसी स्थिति है कि दूसरे का आदर करने के लिये बात तो उसके सब सम्बन्धियों और पशुओं की भी पूछेगे, परन्तु उसे एक पैसे की भी आवश्यकता हो तो मुँह छिपा लेगे। इसका नाम सच्ची प्रीति नही है, यह तो कपट-प्रेम है। सो इस संसार में मेल-मिलाप की तो ऐसी ही दशा है। यहाँ यदि लोगो से हृदयपूर्वक प्रेम किया जाय तब तो कपट और पाखण्ड के समुद्र में डूबना होता है, और यदि उनसे मिल कर उनकी आव-भगत न करे तो वे विरोधी हो जाते है और इसके छिद्र ढूँढ़ने लगते है। इस प्रकार वे अपना धर्म खोते हैं और इसे भी धर्म से च्युत कर देते है।

इनके सिवा संसार से मेल-जोल करने में चौथा पाप यह है कि मनुष्य जिसकी संगति करता है उसके स्वभाव की छाप निश्चय ही इसके अन्तःकरण पर पड़ जाती है। उस समय यद्यपि इसे उस स्वभाव का कुछ पता भी नहीं लगता, तथापि धीरे-धीरे वह उस

में बद्धमूल हो जाता है। उसके कारण फिर अनेकों पाप होने लगते है और उन प्रमादी पुरुषों के संग से यह भी प्रमादी हो जाता है। यदि यह मायाधारी (धनी) पुरुषों का सग करता है तो इसमें भी माया की तृष्णा उत्पन्न हो जाती है। यह किसी भोग-विशेष को निन्दनीय भी समझता हो, किन्तु भोगियों का संग करेगा तो वह दोषदृष्टि नष्ट हो जायगी। इसी प्रकार यदि वह अपकर्मों की चर्चा सुनेगा तो इसके हृदय में भी मलिनता आ जायगी। जैसे महा-पुरुषों को बाते सुनने से इसका हृदय कोमल हो जाता है वैसे ही भोगियों और पापियों की बाते सुनकर इसमें वैसी ही रुचि उत्पन्न हो जाती है। इससे निश्चय होता है कि यदि उनकी बातें सुनने से ही हृदय मलिन हो जाता है तो उनकी संगति से मलिनता क्यों न उत्पन्न होगी? इसी विषय में महापुरुष ने कहा है कि कुसङ्गी मनुष्य की सगति ऐसी है जैसे कोई लुहार के निकट जा बैठे। वहाँ वह अपने वस्त्रो को भले ही जलने से बचाले, किन्तु उसकी भट्टी की ऊष्मा और धुएँ का कष्ट तो उठाना ही पड़ेगा। इसके विपरीत सात्त्विकी पुरुषों की सगति गन्धी की दूकान की तरह है। वहाँ भले ही सुगन्ध मोल न ली जाय तथापि नासिका को तो सुगन्ध का सुख मिल ही जाता है। तात्पर्य यह है कि मनमुखी की सङ्गति की अपेक्षा तो अलग रहना ही अच्छा है और अलग रहने की अपेक्षा भी सात्त्विकी पुरुषो की सङ्गति में रहना श्रेष्ठ है। सन्तजनो का कथन है कि जिस पुरुष की सङ्गति से माया की प्रीति दूर हो और भगवान् का प्रेम उत्पन्न हो उसका सग श्रेष्ठ समझो और उसे कभी मत छोड़ो। किन्तु जिसके साथ से विषयासक्ति बढ़े उसे तो त्यागना ही अच्छा है।

इसके सिवा जो विद्वान् माया का लोभी हो और जिसका आचरण अपने कथन के अनुसार न हो उसकी सङ्गति भी अवश्य त्याग देनी चाहिये। क्योंकि उसका साथ करने से जिज्ञासु का

भगवत्प्रेम घटता ही है। जिज्ञासु की बुद्धि पक्की तो होती नहीं, इसलिये विद्वान् को देखकर वह भी ऐसा अनुमान करने लगता है कि यदि माया को त्यागना कोई महत्त्व की बात होती तो यह विद्वान् क्यों न त्यागता ? यहाँ ऐसी ही बात समझनी चाहिये जैसे कोई पुरुष बड़े प्रेम से मिठाई खाता भी जाय और यों भी कहता जाय कि इस मिठाई में हलाहल विष है, इसे खाने की इच्छा कोई मत करना, तो उसके कथन पर कौन विश्वास करेगा? उसे प्रेमपूर्वक खाते देखकर तो औरो में भी उसके लिए तृष्णा ही उत्पन्न होगी। वे यही समझेंगे कि यह लोभवश ही इसमें विष बतलाता है। इसी प्रकार ऐसे बहुत मनुष्य मिलेंगे जिन्हें आरम्भ में तो अशुद्ध आहार और पापो मे दोषदृष्टि थी, किन्तु विद्वानो को इस ओर से निःशङ्क देखकर उनकी भी दोषदृष्टि नष्ट हो गयी। और वे भी निडर होकर बर्तने लगे। इसी से विद्वानो के दोष प्रकट करना अत्यन्त अनुचित है, क्योकि प्रथम तो इससे निन्दा होती है और दूसरे वैसी बाते सुनकर और लोग भी ढीठ हो जाते है। अतः अन्य पुरुषो का तो यही अधिकार है कि जब वे किसी विद्वान् में कोई दोष देखे तो दो प्रकार से उस ग्लानि को निवृत्त करदे। प्रथम तो यह समझे कि यद्यपि इस विद्वान् से यह अवज्ञा हुई है तथापि इसकी विद्या इन पापों को क्षमा करा देगी; किन्तु जिन के पास विद्या नहीं है उनके द्वारा होनेवाली अवज्ञा कैसे क्षमा की जा सकेगी ? दूसरे यह समझे कि जो पुरुष विद्याद्वारा पापकर्मो को बुरा जानता है वह यदि कोई पाप करता भी है तो उसका करना अन्य ससारी जीवो के समान नही हो सकता। विद्वानो की युक्ति को संसारी जीव किसी प्रकार नही पा सकते। अतः अन्य जीवो को चाहिये कि विद्वानो के प्रति दोष-दृष्टि न करे। तभी उनका धर्म नष्ट होने से बच सकता है। तात्पर्य यह है कि बहुत मनुष्यों की सङ्गति जिज्ञासु के धर्म को नष्ट करने वाली है, अतः

उसे संसारी पुरुषों के मेल-मिलाप से बचकर एकान्त में रहना ही विशेष उपयोगी है ।

तीसरा गुण– ससार मे ईर्ष्या, शत्रुता, और विभिन्न पन्थों के पारस्परिक संघर्ष आदि अनेकों विघ्न उत्पन्न होते रहते है, अतः एकान्त में रहनेवाला पुरुष इन सबसे बचा रहता है । और जो ससार में विशेष मिलता-जुलता है उसके धर्म का नाश होने की सम्भावना रहती है । महापुरुष ने भी कहा है कि लोगों की सङ्गति त्यागकर अपने घर में बैठे रहो तथा जिह्वा को अधिक बोलने से रोको । जिसे तुम भलाई समझते हो उसे अंगीकार करो और जिस आचरण का रहस्य तुम्हारी समझ में न आवे उसे त्याग कर अपने धर्म में स्थिर रहो तथा ससार के कार्यों को भूल जाओ ।

चौथा गुण– एकान्त में रहने से यह पुरुष लोगों के झंझटों से बच जाता है । यदि यह लोगो के साथ मेल-मिलाप करता है तो निन्दा, दोषदृष्टि और लोभ आदि से नहीं बच सकता । ऐसी स्थिति में यदि यह ससारी जीवो के सुख-दुःख का साथी बनता है तव तो इसकी सारी आयु व्यर्थ हो जाती है और यदि ऐसा नहीं करता तो लोग इसे बुरा समझ कर तरह-तरह के दुर्वचन कहने लगते है । यदि यह किसी से तो मिले और किसी से बचना चाहे तो विषमता हो जाती है और उनमें भी परस्पर विरोध होने लगता है । इसलिये जब सबका सग छोड़ कर एकान्त में रहने लगता है तो सब प्रकार के विघ्नो से मुक्त हो जाता है । तथा कोई भी इससे अप्रसन्न नही होता । कहते है कोई भगवत्प्रेमी सर्वदा भगवद्वाणी के ग्रन्थ को लिये श्मशान में रहा करता था । उससे किसी ने पूछा, "तुम अकेले क्यो रहते हो ?" तब उसने कहा, "मैंने एकान्त के समान सुख का स्थान कोई नहीं देखा और न श्मशान के समान कोई उपदेष्टा ही मिला तथा इस ग्रन्थ के समान सुख देनेवाला कोई मित्र भी मुझे दिखायी नही दिया ।"

पाँचवाँ गुण—एकान्तसेवी पुरुष से सब लोग निराश हो जाते है और वह भी सबसे निराश हो जाता है। वास्तव में आशा ही सब दुःखों का मूल है। यदि यह धनवानो से मिलता है तो अवश्य ही इसमें तृष्णा उत्पन्न हो जाती है। और जब तृष्णा उत्पन्न होती है तो इसे निरादर और अपमान भी सहन करने ही पड़ते है। महापुरुष ने भी कहा है कि तुम मायाधारी जीवों की सुन्दरता की ओर मत देखो, क्योंकि यह माया ही उन्हें छलनेवाली है। इसके सिवा यह भी कहा है कि यदि तुम धनवानों के सुख की ओर देखोगे तो भगवान् के उपकारो की ओर से विमुख हो जाओगे तथा अधिक सुखों की अभिलाषा करके दुःख ही उठाओगे।

छठा गुण—एकान्त मे रहने से पुरुष मूर्खों और पापियों की सङ्गति से बच जाता है। मूर्खों की सङ्गति तो ऐसी है कि उन्हें तो देखने से ही चित्त मलिन हो जाता है। एक बुद्धिमान् ने कहा है कि जैसे ज्वर से शरीर दुःखी होता है वैसे ही मूर्खों की सङ्गति से हृदय सन्तप्त होने लगता है। अतः एकान्त मे रहने से मनुष्य इस घोर दुःख से बचा रहता है और फिर स्वाभाविक ही गुण-दोषों की ओर इसकी दृष्टि नही आती।

इस प्रकार यह एकान्तसेवन के छः गुणों का वर्णन हुआ। अब सङ्गति के गुणों का वर्णन किया जायगा। सब प्रकार के लौकिक प्रयोजन और पारमार्थिक लाभ प्रायः सङ्गति और मेल-मिलाप के द्वारा ही प्राप्त होते है, केवल एकान्त मे रहने से उनकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः अब क्रमशः संगति के लाभों का वर्णन किया जाता है:—

पहला लाभ—सङ्गति के द्वारा ही मनुष्य विद्या प्राप्त कर सकता है। जब तक यथार्थ विद्या प्राप्त न हो तब तक एकान्त में रहने से विशेष लाभ नहीं हो सकता। जो मनुष्य विद्या प्राप्त किये बिना एकान्त मे रहने लगता है उसका समय प्रायः निद्रा और

व्यर्थ संकल्प-विकल्पों में ही व्यतीत होता है। यह यदि प्रयत्न करके भजन में लगा भी रहे तो भी यथार्थ विद्या का बोध हुए बिना उसका ठीक-ठीक अभ्यास नही हो सकता। उसका छल-कपट से मुक्त रहना भी प्रायः असम्भव ही है, अभिमान से रहित हो जाने पर भी बिना यथार्थ विद्या प्राप्त किये कोई भगवान् को नहीं जान सकता। वह तो किसी ऐसे विपरीत निश्चय को पकड़ बैठता है कि उसके कारण प्रभु से ही उसकी विमुखता हो जाती है। अथवा कामवश किसी कुमार्ग मे पड़ जाता है और उसे उसके दोषों का भी पता नही चलता। तात्पर्य यह है कि एकान्तसेवन भी किसी विद्वान् के लिये ही उपयोगी हो सकता है। इसीसे अन्य जीवो के लिये एकान्त मे रहना ठीक नही बताया गया। वे लोग तो रोगियो की तरह है। रोगी को वैद्य की सगति से दूर रहना उचित नही, यदि वह स्वय ही अपनी चिकित्सा करने लगेगा तो शीघ्र ही मृत्यु के मुख में पड़ेगा। इसीसे सदुपदेश और सद्विद्या का फल भी बहुत विशेष बताया गया है। महापुरुष ने कहा है कि जो पुरुष यथार्थ विद्या को समझता हो और उसके अनुसार आचरण भी करता हो तथा दूसरे लोगो को भी उसका उपदेश करता हो तो उसकी स्थिति उत्तम कही जाती है। और उपदेश का काम एकान्त में रह कर नहीं हो सकता। एकान्त मे न तो उपदेश दिया जा सकता है और न लिया ही जा सकता है। अतः इसके लिये सत्पुरुषों की सगति में रहना बहुत आवश्यक है।

किन्तु उपदेश का अधिकारी वही है जिसका भाव निष्काम हो और जिसे धन आदि की कोई वासना न हो। तथा उपदेश करनेवाला भी ऐसा ही होना चाहिये, तभी धर्म की प्राप्ति हो सकती है। उसे चाहिये कि जिज्ञासु के अधिकार के अनुसार उपदेश करे। किन्तु यदि विद्यार्थी यथार्थ युक्ति को भी स्वीकार न करे तो समझना चाहिये कि वह केवल मान पाने के लिये ही विद्याध्ययन

करता है। अतः जिज्ञासुओं को यही उपदेश करे कि हृदय की शुद्धता ही सबसे बड़ी पवित्रता है और हृदय तभी शुद्ध होता है जब मायिक पदार्थों से विरक्त होता है। इसलिये सम्पूर्ण मन्त्रों का सारभूत बीजमन्त्र यही है कि सम्पूर्ण स्थूल पदार्थ नाशवान् है और सर्वदा केवल श्री भगवान् ही सत्यरूप है। अतः मनुष्य को सब प्रकार श्रीभगवान् का ही दास होना चाहिये, उसके सिवा और किसी भी पदार्थ में आसक्ति नही करनी चाहिये। जो पुरुष अपनी किसी वासना में बँधा हुआ है वह तो वासना का ही दास है, उसने यथार्थ भेद को नहीं समझा। वह यथार्थ भेद यह है कि सम्पूर्ण मलिन स्वभावो का त्याग करे और उत्तम स्वभावो को अपनावे।

इसके विपरीत जिस पुरुष की प्रीति उत्तम विद्या में तो हो नहीं और अन्य नाना प्रकार की प्रवृत्तिमार्गीय विद्याएँ वह पढ़ना चाहे, तब यही समझना चाहिये कि वह धन और मान के लिये ही विद्याध्ययन करना चाहता है। ऐसे मनुष्य को पढ़ाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे विद्याएँ तो परमार्थ-पथ में विघ्नरूप ही होती है। तात्पर्य यह है कि मन ही इस जीव का परम मित्र है और वही सर्वदा इसे दुःखों मे भी डालता रहता है। यदि कोई मनुष्य अपने मन से विपरीत चलकर उसे जीतने का प्रयत्न नहीं करता तथा मत-मतान्तरो के वाद-विवाद एवं विरुद्धाचारों में आसक्त रहता है, तो समझना चाहिये कि उसे उसका मन ही नचा रहा है। इसके सिवा, इसके हृदय में जो मलिन स्वभाव है अर्थात् ईर्ष्या, अभिमान, दम्भ, धनासक्ति आदि जितने भी अवगुण है वे सब बुद्धि का नाश करनेवाले ही है तथा हृदय को भी भ्रष्ट कर देते है। जो पुरुष ऐसे स्वभाव को नष्ट करने का प्रयत्न नहीं करता तथा बार-बार बड़ी सावधानी से प्रवृत्तिमार्गीय कर्मो का ही विचार करता रहता है वह कैसे शुद्ध हो सकता है?

अतः जिसका भाव निष्काम न हो उसे विद्याध्ययन कराना ऐसा है जैसे किसी चोर को तलवार दे दी जाय। यहाँ यदि कोई प्रश्न करे कि तलवार तो चोर को सन्मार्ग में नही लगा सकती, किन्तु विद्या पढ़ना तो ऐसा है कि उसके द्वारा, पहले जो सकाम हो वह पुरुष भी निष्काम हो सकता है - तो इसका उत्तर यह है कि भिन्न-भिन्न मतो और पन्थों की जो विद्या है उसके द्वारा निष्कामता कभी नही आ सकती। जिस विद्या के द्वारा निष्कामता उत्पन्न होती है और भोगो से छुटकारा मिलता है वह तो सन्तों के वचन है। यह ऐसी विद्या है कि जिसमें सभी लोगों का अधिकार है और जो सभी के लिये लाभदायक है। हाँ, यदि कोई पुरुष कठोरचित हो और जिसका भाव भी मलिन हो, वह तो इसके लाभो से वंचित भी रह सकता है। इसके सिवा जो पुरुष इस विद्या का ज्ञाता भी हो, किन्तु जिसके हृदय में कोई अभिमान का अश हो उसे उसका उपदेश नहीं करना चाहिये, क्योंकि उसके उपदेश से यद्यपि दूसरे लोगो को लाभ पहुँचना सम्भव है तथापि उसके कारण जो मान मिलेगा वह भगवान् की ओर बढ़ने में उसके लिये बाधक हो सकता है। जैसे दीपक के द्वारा मन्दिर में तो प्रकाश होता है, किन्तु वह स्वयं प्रत्येक क्षण में घटता रहता है, उसी प्रकार मानी पुरुष के उपदेश से दूसरों को भले ही कुछ लाभ हो जाय, किन्तु इससे उसको जो महान हानि होती है उसे रोकने का कोई उपाय नही है, वह तो बढ़ती ही जायगी। एक सन्त ने कहा था कि मैने पुस्तकों के सात सन्दूक पृथ्वी में गड़वा दिये थे और कभी किसी को उपदेश नहीं दिया। इस पर किसी ने पूछा कि आप उपदेश क्यों नहीं करते है ? तब वे बोले, "यदि मेरे मन में मौन रहने की इच्छा होती तब तो मुझे उपदेश करना उचित था, किन्तु मै तो अपने चित्त में उपदेश करने की इच्छा देखता हूँ, इसलिए मैने उपदेश करना छोड़ कर मौन ही स्वीकार किया है।"

एक अन्य सन्त ने भी एक जिज्ञासु से कहा था, "तुम्हारी अवस्था तो अच्छी थी, किन्तु तभी जब कि तुम्हें माया की प्रीति न होती।" जिज्ञासु ने पूछा, "माया के साथ मेरी प्रीति किस प्रकार है ?" सन्त ने कहा, "तुम्हें सांसारिक लोगों से मिलने और उपदेश करने की बहुत रुचि है"। इसपर जिज्ञासु बोला, "अब आगे मैं उपदेश करना त्यागता हूँ।"

तात्पर्य यह है कि विद्या को निष्काम भाव से पढ़ाने और पढ़नेवाले विरले ही होते है। अतः जो अधिकारी न हो उसे परमार्थसम्बन्धिनी विद्या का उपदेश करना पाप ही है। तथा इसे पढ़ाने का भी वही अधिकारी है जिसे अपना कोई प्रयोजन न हो, ऐसा उपदेश करनेवाला हो तो उसके लिये तो एकान्त में रहने की अपेक्षा उपदेश करना ही श्रेष्ठ है। उपदेश सुननेवाले को भी चाहिये कि उपदेशक के प्रति किसी प्रकार की दोषदृष्टि न करे। यही समझे कि ये मेरे कल्याण के लिये ही मुझे उपदेश कर रहे है; अपने मान का इन्हें कोई विचार नही है। इस प्रकार अपने कल्याण के लिये यथार्थ विद्या का उपदेश ग्रहण करे और उसके प्रति शुद्ध भावना रखे। परन्तु जिसका हृदय मलिन होता है वह तो औरों के प्रति मलिन भावना ही रखता है, उन्हें भी अपनी ही तरह समझता है।

दूसरा लाभ—सगति के द्वारा ही जीवों को प्रसन्नता पहुँचायी जा सकती है। जिस मनुष्य ने एकान्तसेवन स्वीकार कर लिया है वह किसी की सेवा नही कर सकता। और जो सेवा के द्वारा दूसरों को प्रसन्न करता है, उसे स्वयं भी प्रसन्नता प्राप्त होती है।

तीसरा लाभ—सहनशीलता आदि जितने गुण है वे भी संगति में रहने से ही दृढ़ होते है। जो मनुष्य किसी से भी मिलता-जुलता नही है उसमें सहनशीलता कैसे आवेगी ? और जिज्ञासु में सहन-शीलता एव धैर्य आदि गुण होने ही चाहिये। ये

ही उसके लिये विशेष लाभप्रद है। मनुष्य का स्वभाव तभी उत्कृष्ट हो सकता है जब वह दुष्टों के कटु वचनो को सहन करे। इसी से जिज्ञासुजन भिक्षा आदि कर्मो को अङ्गीकार करते है, क्योंकि इनके द्वारा प्रथम तो उनका अहङ्कार नष्ट होता है और दूसरे लोगों की ताड़ना एव दुर्वचनों के कारण उनमें क्षमा एव सहनशीलता की वृद्धि होती है। यद्यपि आजकल ऐसे लोगों में भी धन और मान की कामना होने लगी है, तथापि पहले जिज्ञासुजन इसी उद्देश्य से सङ्ग किया करते थे जिससे अभिमान टूटे, सन्तों की सेवा द्वारा कृपणता दूर हो और उनका आशीर्वाद भी प्राप्त हो तथा आरम्भ में महापुरुष ने भिक्षा आदि कर्मो का भी इसीलिये विधान किया था। जिस व्यक्ति का स्वभाव सहनशील नही होता वह थोड़ी-सी उत्तजना मिलने पर ही वाद-विवाद में प्रवृत्त हो जाता है। तात्पर्य यह है कि क्षमा और सहनशीलता, जो जिज्ञासु के धर्म को दृढ़ करनेवाली है, केवल एकान्त में रहने से प्राप्त नहीं हो सकती।

परन्तु जो पुरुष किसी की बात न सह सकता हो उसका तो सबसे अलग रहना ही अच्छा है। इसके सिवा जो पुरुष संतों की सेवा करके तितिक्षा एवं भिक्षा आदि का खूब अभ्यास कर चुका है तथा जिसमें निरभिमानता और क्षमाशीलता आदि सदगुण भी आ चुके है उसे भी एकान्त में रहना चाहिये। कारण कि, तितिक्षा आदि साधनों का यह उद्देश्य नहीं है कि सर्वदा दुःख ही उठाता रहे; जैसे औषधि का उद्देश्य कड़वे रस का अभ्यास नहीं, अपितु रोगनिवृत्ति है। जब रोग निवृत्त हो जाय तो कटु रस के अभ्यास के लिये उसे पीते रहना निरर्थक है। इसी प्रकार सम्पूर्ण साधनों का प्रयोजन श्रीभगवच्चरणारविन्द की प्रेमाभक्ति प्राप्त करना और जो उस भक्ति के बाधक है उन्हें निवृत्त करना है, जिससे कि निर्विघ्न होकर प्रभु के भजन-स्मरण में तत्पर रह सकें।

इसके सिवा जो महानुभाव अधिकारी पुरुषों को उपदेश करने-वाले हों उन्हें भी एकान्त में नहीं रहना चाहिये। जिस प्रकार आरम्भिक अवस्था में शिष्य को गुरुदेव की सङ्गति त्यागना अनुचित है उसी प्रकार गुरुओं को भी जिज्ञासुओं को छोड़कर एकान्त में चले जाना ठीक नहीं। किन्तु एकान्त की अपेक्षा इस प्रकार की सङ्गति श्रेष्ठ तभी है जबकि लोगों से मिलते-जुलते रहने में दम्भ और मान का कोई अंश न हो।

चौथा लाभ—सङ्गति से ही अनेक प्रकार के सन्देह और सकल्प भी निवृत्त होते है। जब यह साधक एकान्त में रहने लगता है तो कई बार इसे ऐसे सकल्प घेर लेते है जिनसे भगवद्-भजन में बड़ा विघ्न आ जाता है। उन संदेहों का स्वयं ही निवृत्त होना सम्भव नहीं होता। उन्हें दूर करने का साधन सात्त्विक पुरुषों का सत्सङ्ग ही है। एक संत ने कहा है कि चित्त का खुलना सात्त्विक सङ्गति के द्वारा ही हो सकता है, क्योंकि इस मन का ऐसा स्वभाव है कि यदि इसे एक ही कर्म में जोड़ दिया जाय तो यह शून्यसा होकर तमोग्रस्त हो जाता है। वह शून्यता तभी दूर होती है जब यह सत्सङ्ग प्राप्त करता है। अतः उचित है कि नित्यप्रति किसी सात्त्विक पुरुष का सत्सङ्ग करता रहे। उसके सामने अपने जो दोष हों उन्हें प्रकट कर दे और उससे अपनी जीविका आदि की शुद्धि का उपाय भी पूछे तो अच्छा ही है। किन्तु प्रमादी पुरुष की तो एक घड़ी की सङ्गति भी हानिकारक ही है। सारे दिन अभ्यास करने पर जो पवित्रता प्राप्त होती है वह मूर्खों की सङ्गति से क्षण भर में ही नष्ट हो जाती है। इसी से महापुरुष ने कहा है कि जब यह पुरुष किसी से प्रीति करे तो पहले ही विचार ले कि मै किस लाभ के लिये इससे प्रेम करता हूँ।

पाँचवाँ लाभ—पारस्परिक भाव और प्रीति की रीति भी सत्सङ्ग में रहने से ही प्राप्त हो सकती है। जो पुरुष प्रायः एकान्त मे ही

रहता है वह सात्त्विक पुरुषों की प्रीति और भावनाओं के लाभ से वंचित ही रह जाता है ।

छठा लाभ लोगों से मिलने और उनके साथ बर्ताव करने से मनुष्य में दीनता एवं नम्रता के गुण प्रकट होते हैं । जो सर्वदा एकान्त में ही रहते हैं उनमें प्रायः अभिमान की वृत्ति आ जाती है । कोई लोग तो स्वामी (बड़े) होने के कारण एकान्त को अङ्गीकार करते है । वे किसी महापुरुष के दर्शनों को भी नहीं जाते और यही चाहते हैं कि वे ही हमारे दर्शनों के लिये आवें । इस प्रकार का अभिमान अत्यन्त अनुचित है । कहते हैं, किसी नगर में एक ऐसा बुद्धिमान् हुआ था जिसने तीन सौ साठ ग्रन्थ बनाये थे । वह समझने लगा कि मैंने तो भगवान् को प्राप्त कर लिया है । एक दिन उसे आकाशवाणी हुई कि तूने अपने-आपको संसार में प्रकट किया है, सो इस बड़ाई को मैं स्वीकार नहीं करता । तब वह बुद्धिमान् सब कुछ त्यागकर एकान्त में रहने लगा । उसने समझा कि अब भगवान् मुझ पर प्रसन्न हो गये होंगे । तब उसे पुनः आकाशवाणी हुई कि मैं अब भी तुझ से प्रसन्न नहीं हूँ, क्योंकि अब तूने अपने को स्वामी बना रखा है । अब वह एकान्त को त्याग कर बाहर आया और अन्य लोगों की तरह ही खान-पान में बर्तने लगा तथा अभिमान त्याग कर साम्यभाव में स्थित हुआ । इस बार उसे आकाशवाणी हुई कि अब तू मेरी प्रसन्नता को प्राप्त हुआ है । तात्पर्य यह है कि जिस पुरुष का सकाम भाव है और जिसने इसी उद्देश्य से एकान्त को स्वीकार किया है कि लोगों में मिलने से मेरे मान को ठेस पहुँचेगी अथवा मेरी विद्या और क्रियाओं में कोई छिद्रान्वेषण करेगा, तो समझना चाहिये कि उसने अपने दोषों को छिपाने के लिये ही यह एकान्त का पर्दा डाला है । उसे तो नित्यप्रति यही अभिलाषा होती है कि लोग मेरे दर्शनों के लिये आया करें और मुझे दण्डवत-प्रणाम किया करें ।

से, ऐसा एकान्तसेवन तो दम्भ ही है। उचित तो यह है कि जब यह पुरुष एकान्त में रहे तो किसी भी समय भजन और विचार में शिथिलता न आने दे, अथवा विद्याभ्यास में और शास्त्र-चिन्तन में अपने चित्त को लगाये रहे।

संगति भी उसी की करनी चाहिये जिसके सहवास से धर्म की वृद्धि हो। भगवत्प्रीति से शून्य होने के कारण जो लोग मृतक के समान है उनकी संगति कदापि न करे। कहते हैं, एक बुद्धिमान् पुरुष किन्हीं सन्त के पास गया और बोला कि मुझे आपके दर्शनों के लिये आने में विलम्ब हो जाता है, अतः आप इस अवज्ञा के लिये मुझे क्षमा करे। सन्त बोले, "तुम इस व्यवहार को अवज्ञा समझो ही मत, क्योंकि दूसरे लोग तो मिलने को अपना सत्कार मानते है और मै न मिलने पर अपना उपकार समझता हूँ, क्योंकि मुझे तो हर समय मृत्यु के आने का खटका लगा रहता है। अतः मै किसी के आने और मिलने की इच्छा ही नहीं करता। इससे निश्चय होता है कि मान और दम्भ के लिये एकान्तसेवन करना बड़ी भारी मूर्खता है। जिज्ञासु को तो यही विचारना चाहिये कि मेरा योग-क्षेम किसी मनुष्य के हाथ में नहीं है, लोग तो बेचारे पराधीन है।

इसके सिवा ऐसी बात भी है कि जब कोई साधक किसी पर्वत की कन्दरा में जाकर भी रहेगा तो दुष्ट लोग तो यही अनुमान करेगे कि यह ढोंग बनाने के लिये ही गुफा में जाकर बैठा है। और यदि यह किसी अत्यन्त अपवित्र स्थान में भी रहने लगे तो सहृदय पुरुष यही समझेगे कि अपने को लोगों के संसर्ग से बचाने के लिये ही यह ऐसी गन्दी जगह रहता है। सामान्यतया जनता में दो प्रकार के लोग रहते हैं—एक मित्र और दूसरे शत्रु। जो मित्र होते है वे इसके सभी आचरणों में शुभ कल्पना करेगे और जो शत्रु होंगे वे इसके प्रत्येक आचरण में दोष-दृष्टि करेगें। अतः

जिज्ञासु को उचित है कि लोगों के कहने-सुनने पर कोई ध्यान न देकर अपने चित्त की वृत्ति को दृढ़तापूर्वक अपने परम धर्म में ही स्थित करे। कहते है, एक सन्त ने अपने एक जिज्ञासु भक्त से कोई काम करने के लिये कहा। वह बोला कि लोगों के भय के कारण मैं यह काम नहीं कर सकूँगा। सन्त ने कहा, "जिज्ञासु को जब तक दो अवस्थाएँ प्राप्त न हों तब तक वह यथार्थ भेद को नहीं पा सकता। पहली अवस्था तो यह है कि इसकी दृष्टि से सारा जगत् नष्ट हो जाय और इसे भगवान् के सिवा और कुछ भी दिखायी न दे। तथा दूसरी अवस्था यह है कि इसका मन मर जाय, जिससे यदि जगत् इसके विषय में कुछ कहे तो इसे किसी प्रकार की भी ग्लानि न हो और न मान-अपमान की ही कोई शङ्का रहे।" इसी प्रकार किसी ने एक सन्त से कहा था कि जब लोग आपकी बाते सुनकर बाहर जाते हैं तो निन्दा करते रहते है। सन्त ने कहा कि मेरे चित्त की वृत्ति तो परमपद प्राप्त करने की ओर लगी हुई है। अतः मुझे उनकी निन्दा का कोई भय नहीं है। वास्तव में जिस पुरुष ने निन्दा और स्तुति की ओर देखना छोड़ दिया है वह मुक्त-रूप ही है। अतः जिज्ञासु को इस ओर दृष्टि डालना उचित नहीं क्योंकि वह सर्वथा लोकनिन्दा से छुटकारा पा नहीं सकता।

इस प्रकार यहाँ तक एकान्त और संगति के गुण-दोषों का वर्णन किया गया। इन पंक्तियों को पढ़कर जिज्ञासु को अपने अधिकार का विचार करना चाहिये और फिर जैसा अधिकार जान पड़े उसी के अनुरूप अपनी वृत्ति स्वीकार करनी चाहिये।

अन्त में, एक बात ध्यान में रखने की है कि जब यह पुरुष एकान्त में रहना चाहे तो पहले ऐसा निश्चय करे कि मैं इसलिये एकान्त स्वीकार करता हूँ कि मेरे वचन और कर्मों से किसी को कोई खेद न पहुँचे तथा मुझे भी सांसारिक झंझटों से कष्ट न हो और मैं सब जजालों से छूट कर भगवद्-भजन में तत्पर रहूँ।

तात्पर्य यह है कि एकान्तसेवी पुरुष को भजन और विचार के बिना एक क्षण भी नहीं रहना चाहिये, अथवा उसे विद्याभ्यास और शुभ कर्मों में लगे रहना चाहिये। इसके सिवा उसे ऐसी इच्छा भी नहीं करनी चाहिये कि लोग उससे मिलने के लिये आवें। उसे तो बिना प्रयोजन किसी से नगर का समाचार भी नहीं पूछना चाहिये, क्योंकि यह पुरुष जैसी बातें सुनता है वैसा ही संस्कार इसके हृदय में दृढ़ हो जाता है। फिर जब भजन की एकाग्रता होती है तो वही सङ्कल्प फुरने लगता है। एकान्त में रहने का तो यही प्रयोजन है कि सम्पूर्ण सङ्कल्पों का निरोध हो जाय। अतः एकान्तसेवी को भोजन और वस्त्र का संयम करना भी परम आवश्यक है। जब तक यह पुरुष संयम को स्वीकार नहीं करता तब तक लोगों की पराधीनता से मुक्त नहीं होता। इसके सिवा जब कोई इसे वचन और कर्म द्वारा कष्ट पहुँचावे तो इसे सहनशील होकर क्षमा कर देना चाहिये। अपनी स्तुति और निन्दा पर कोई ध्यान न देकर इसे निरन्तर धर्मकार्यों में लगे रहना चाहिये, क्योंकि उन पर ध्यान देने से इसका समय व्यर्थ ही नष्ट होता है। वस्तुतः एकान्त में रहने का तो यही प्रयोजन है कि वहाँ रहकर यह अपना सर्वोत्तम कार्य पूरा कर ले।

पाँचवीं किरण

राजनीति और उसकी युक्तियाँ

याद रखो, राजनीति भी बहुत बड़ी चीज है। जो पुरुष विचार-पूर्वक राज्य-कार्य करता है वह भगवान् का सान्निध्य प्राप्त कर लेता है। परन्तु जो इसमें धर्म की मर्यादा को छोड़ बैठता है वह तो अपने मन की वासनाओं का दास है। उसे प्रभु की ओर से तिरस्कार प्राप्त होता है। वास्तव में अभ्युदय और निःश्रयस् के सम्पूर्ण उपायों का मूल धर्मात्मा राजा ही है और धर्मात्मा वही हो सकता है जिसकी बुद्धि विचारप्रवण हो और जिसके स्वभाव में सत्त्व गुण की प्रधानता हो।

राजनीति का विज्ञान भी असीम है। इसमें सबसे पहले तो यह आवश्यक है कि राजा को इस रहस्य का ज्ञान हो कि वह इस संसार में किस काम के लिये आया है और इस जीवन का अन्त होने पर वह किस अवस्था को प्राप्त होगा। उसे यह निश्चय होना चाहिये कि मै एक परदेशी हूँ और यह ससार मेरी यात्रा का एक पड़ाव है। इस पड़ाव का आरम्भ हिंडोले से होता है और अन्त श्मशान में। यहाँ जो दिन, मास और वर्ष बीतते है वे इस यात्रा के कोस और योजनों की तरह है। इस प्रकार जो काल बीतता जाता है उसके साथ ही मै परलोक के समीप पहुँचता जा रहा हूँ। अन्त में मुझे जिस स्थान पर पहुँचना है वह इस ससार की जाग्रत् अवस्था से भिन्न है। यह संसार एक पुल के समान है। यदि किसी पुरुष का गन्तव्य मार्ग किसी पुल के ऊपर होकर जाता हो और

वह आगे बढ़ना भूलकर दिन भर पुल के सुधारने में ही लगा रहे, जहाँ पहुँचना है उसका कोई विचार ही न करे तो उसे अत्यन्त मूर्ख ही कहा जायगा। इसी प्रकार जो मनुष्य मूर्ख होता है वह इस संसार के कार्यों को पूरा करने की धुन में लगा रहता है। किन्तु जो बुद्धिमान् होता है वह यहाँ आकर परलोक के मार्ग का तोशा ही बनाना चाहता है, और किसी भी काम की ओर ध्यान नहीं देता। माया के कार्यों को तो यह केवल काम चलाने के लिये स्वीकार कर लेता है। जिससे काम चलता रहे उससे अधिक भोग को तो वह विष की तरह समझता है। वह अच्छी तरह जानता है कि जीवन में कोई कितना ही सोना-चाँदी इकट्ठा कर लो किन्तु जब मृत्यु की घड़ी आयेगी तब ये सारे खजाने मिट्टी में मिल जायँगे, अर्थात् इसके कुछ भी काम नहीं आयेंगे। अन्त में चित्त को उनके वियोग का दुःख ही सहन करना पड़ेगा। अतः माया की सारी सामग्री का प्रयोजन तो इतना ही है कि इसके द्वारा शरीर के खान-पान आदि का काम चल जाय। इससे अधिक सामग्री तो पश्चात्ताप और दुःख का ही कारण बनती है।

किन्तु जो लोग शुद्ध और पापरहित रहकर माया का सञ्चय करते है वे इन पदार्थों के वियोगजनित दुःख एवं पश्चात्ताप से बचे भी रह सकते हैं। जो पापपूर्वक मायिक पदार्थों का सग्रह करते है परलोक में उन्हीं को ताड़ना दी जाती है। इसके सिवा उन्होंने तमोगुण के अधीन होकर जिनका धन हरा होता है उनके वे ऋणी भी रहते है। परन्तु यह बात भी निश्चित है कि बिना हठ और पुरुषार्थ किये कोई भोगो के बन्धन से मुक्त नही रह सकता। जिस पुरुष का विचार और विश्वास दृढ़ होता है वह समझता है कि कुछ ही समय बीतने पर ये इन्द्रियादि के भोग नीरस हो जायेंगे तथा इस समय भी ये अत्यन्त दुःखरूप है। इसके विपरीत परलोक का सुख, जो आत्मा की गुह्य निधि है, परम आनन्दरूप है। वही

सच्ची बादशाही है और उसमें किसी प्रकार के विघ्न की भी सम्भावना नहीं है। जिस पुरुष की ऐसी दृढ़ प्रतीति होती है उसे भोगों को त्यागने में कोई कठिनता नहीं होती। यह ऐसी ही बात है कि जैसे किसी पुरुष का कोई अत्यन्त प्रीतिपात्र हो और उससे यह कहा जाय कि यदि तुम केवल एक रात्रि के लिये इसके संयोग को छोड़ सको तो फिर सर्वदा यह तुम्हारे पास ही रहेगा और कभी तुमसे विरोध न करेगा, तो ऐसी अवस्था में अपना अत्यन्त प्रीतिभाजन होनेपर भी उसे एक रात्रि के लिये छोड़ने में उस पुरुष को कोई खेद नहीं होगा। उसके नित्य संयोग की आशा से वह प्रसन्नतापूर्वक उस वियोग को सहन कर लेगा। इसी प्रकार बुद्धिमान् पुरुष को सोचना चाहिये कि प्रथम तो इस लोक में आयु ही बहुत थोड़ी है, दूसरे ये जितने भोग्य पदार्थ हैं वे सभी क्षण-क्षण में परिणाम को प्राप्त होनेवाले है। तथा आत्मा का आनन्द ऐसा है कि उसका कभी अन्त नहीं होता और जिसका कभी अन्त ही नहीं होता उस सुख का परिमाण भी कैसे बताया जा सकता है? इस मनुष्य की आयु का परिणाम तो प्रायः सौ वर्ष ही है। यदि किसी को कुछ अधिक आयु भी मिल जाय और उसे सम्पूर्ण भूमण्डल का निष्कण्टक राज्य भी प्राप्त हो, तो भी वह अनन्त और अपरिमित आत्मसुख के सामने तो तुच्छ ही है। यदि ऐसा भी मान लें कि किसी को सर्वदा के लिये इस संसार के सुख और चक्रवर्ती राज्य मिल सकते है तो भी वे अत्यन्त मलिन और नीरस ही है, क्योंकि ससार के जितने सुख है उन सभी में दुःख भी मिला हुआ है। अतः दुःख से सर्वथा शून्य, परमानन्दस्वरूप आत्मसुख को त्यागकर इन्द्रियादि के महामलिन भोगों में आसक्त होना बड़ी भारी मूर्खता ही है।

इसलिये धर्मात्मा राजा और उसके मन्त्रियों को यह बात सर्वदा ध्यान मे रखनी चाहिये। ऐसी समझ होने पर जब वे भोगों में

अनासक्त होगे तभी उनके लिये राजनीति का यथावत् पालन करते हुए प्रजा को सुखी रखना और जीवों पर दया करना सुगम होगा। वास्तव में राज्य करना तो उसी के लिये ठीक है जिसे सन्तों के वचनों की समझ हो और मायिक पदार्थो में तृष्णा न हो, क्योंकि भगवान् धर्म और नीतिसहित राज्यशासन करना तो जप और तप की अपेक्षा भी बढ़कर मानते है। महापुरुष ने भी कहा है कि विचार की मर्यादासहित एक दिन न्याय करना भी साठ वर्ष की तपस्या से बढ़ कर है। इसके सिवा उन्होने यह भी कहा है कि धर्मात्मा राजा परलोक की तपन के समय भगवान् की शीतलछाया में रहेगा। धर्मात्मा राजा भगवान् का अत्यन्त प्रिय होता है और धर्महीन उनसे विमुख रहता है। महापुरुष ने एक स्थान पर भगवान् की शपथ करके कहा है कि धर्मात्मा राजा को सारी प्रजा के भजन का फल प्राप्त होता है। वह यदि एक बार भी भगवान् का नाम लेता है तो उसे सहस्रनाम का फल प्राप्त होता है। इस प्रकार जब राजनीति का इतना बडा लाभ है तो राजा को चाहिये कि भगवान् के उपकार का कृतज्ञ हो और धर्म से कभी विमुख न हो। यदि वह भगवान् का कृतघ्न होकर अनीति करेगा और अपनी वासनाओ का दास होकर रहेगा तो दुःख भोगेगा। अतः अब मै क्रमशः राजधर्म की कुछ युक्तियों का वर्णन करता हूँ—

पहली युक्ति—जैसे दुःख और अपमान अपने को अच्छा नहीं लगता उसी प्रकार राजा को चाहिये कि इस प्रकार के सब विघ्नों से प्रजा की रक्षा करे। यदि ऐसा नही करेगा तो वह राजधर्म से च्युत हो जायगा। कहते है, एक बार महापुरुष तो छाया में बैठे थे तथा दूसरे लोग धूप में। इसी समय उन्हें आकाशवाणी हुई कि तुम्हें इस प्रकार बैठना उचित नहीं। जब इस नगण्य कर्म के लिये भी भगवान् की ओर से भर्त्सना हुई तो राजा को यह उचित ही है कि जिस बात से वह स्वयं प्रसन्न न हो उसे प्रजा के

ऊपर भी न लादे। जिस राजा का विचार इतना समतापूर्ण न हो वह धर्महीन ही समझा जायगा।

दूसरी युक्ति—कोई अभावग्रस्त हो तो उसे नीची दृष्टि से न देखे और उसके दुःखी होने से भय माने। जब वह अपना दुःख निवेदन करे उस समय यदि किसी प्रकार के जप या भजन में भी लगा हो तो उसे छोड़कर उसकी आवश्यकता पूर्ण करे, क्योंकि अभावग्रस्त के अभाव की निवृत्ति करना सब प्रकार के नियमों से बढ़ कर है। कहते है, एक बडा ही धर्मात्मा राजा था। एक बार वह सारे दिन प्रजा के कार्यो में व्यस्त रहकर चार घड़ी दिन रहने पर विश्राम करने के लिये घर जाकर लेट गया। इतने ही में राजकुमार ने आकर कहा, "पिताजी, आप इस प्रकार निश्चिन्त होकर कैसे पड़े हुए है ? मझे तो भय है कि कहीं काल आकर आपको अभी न दबा ले और कोई अर्थी आपके दरबार में आकर निराश ही लोट जाय, आपको उसका पता भी न चले।" राजा ने कहा "वत्स, तुम ठीक कहते हो।" बस, वह उसी समय खड़ा हुआ और प्रजा के कार्यो में तत्पर हो गया।

तीसरी युक्ति—अपने में विशेष भोगासक्ति न होने दे, खान-पान आदि में संयम से बर्ते। राजा यदि संयमहीन होकर भोगों में डूबा रहता है तो उससे धर्म की मर्यादा नष्ट हो जाती है। एक बार एक धर्मात्मा राजा ने अपने मन्त्री से पूछा कि तुमने मेरा कोई अवगुण सुना हो तो बताओ। मन्त्री ने कहा, "आप रात और दिन की पोशाक अलग-अलग रखते है और भोजन भी दो शाकोंके साथ करते है।" इसपर राजाने कहा,"अब मै ऐसा नहीं करूँगा।"

चौथी युक्ति—यथाशक्ति सब कार्यो को दयाभाव से सम्पन्न करे, क्रोध न आने दे। यदि कोई ऐसा कठिन काम हो जिसमें कठोरता से काम लिये बिना निर्वाह ही न हो तभी तेजी से काम ले। महापुरुष ने भी कहा है कि जिस राजा की प्रजा पर सर्वदा

दयादृष्टि रहती है उस पर भगवान् भी दया करते है। साथ ही यह भी कहा है कि राज्य करना तभी उचित है जब वह धर्म की मर्यादा के अनुसार किया जा सके। यदि राजा धर्म की मर्यादा से च्युत हो जाता है तो राज्य ही उसके नरकगामी होने का कारण बन जाता है। कहते है, एक राजा ने किसी विद्वान् से पूछा कि राजनीति में मुक्ति तक ले जानेवाला धर्म कौन है ? उन्होने कहा, "बिना पाप किये धन उपार्जन करना और उसे उचित कार्यो में लगाना।" इस पर राजा ने कहा, "ऐसा भला कौन कर सकता है ?" विद्वान् ने कहा, "जिसे नरक के दुःखों का भय हो और जो परमानन्द प्राप्त करने की इच्छा रखता हो उसी के लिये ऐसा आचरण सुगम हो सकता है।"

पाँचवीं युक्ति—हृदय से सर्वदा यही प्रयत्न करे कि सारी प्रजा शास्त्रमर्यादा के अनुसार सुख प्राप्त करे। प्रजाजन राजा के मुँह पर जो रसकी प्रशसा किया करते है वह प्रायः भयवश ही होती है, किन्तु राजा समझ बैठता है कि ये लोग मुझ से अत्यन्त प्रसन्न है। अतः बद्धिमान् राजा को चाहिये कि मन्त्री और दूतों के द्वारा प्रजा के सुख दुःख की सुधि लेता रहे और अपनी भलाई-बुराई का पता रखे। लोगो के मुख से अपनी प्रशसा सुनकर ही अभिमान न करे।

छठी युक्ति—यदि कोई दुष्ट या धर्महीन पुरुष हो तो उसकी प्रसन्नता न चाहे। क्योंकि उसकी प्रसन्नता से तो जीवो को कष्ट ही होता है। यदि यथार्थ नीति के अनुसार बर्तने पर उसे अप्रसन्नता होगी तो उसकी अप्रसन्नता से होनेवाला पाप राजाको स्पर्श न कर सकेगा। अतः दुष्ट मनुष्यों की प्रसन्नता चाहना और भगवान् की प्रसन्नता से विमुख होना बड़ी मूर्खता की बात है। एक सन्त ने कहा है कि जो पुरुष सब प्रकार भगवान् की ही प्रसन्नता चाहता है प्रभु उसके ऊपर अन्य लोगो को भी प्रसन्न कर देते हैं, और जो व्यक्ति लोगों

की प्रसन्नता के लिये भगवान् से विमुख हो जाता है उससे न तो भगवान् प्रसन्न होते है और न लोग ही।

सातवीं युक्ति— राजा को सर्वदा राजनीति का भय रहना चाहिये, क्योंकि राजनीति में यथावत् बर्तना बड़ा कठिन काम है। अतः जो राजा प्रजा से सब प्रकार धर्म का आचरण करावे, उसे सुखी रखे और स्वय भी धर्मपालन में तत्पर रहे वह बड़ा ही भाग्यवान् है। यदि उसका आचरण इससे विपरीत हो तो उससे बढ़ कर कोई अभागा भी नहीं है। इसी पर महापुरुष ने भी कहा है कि यदि कोई भगवान् की कृपा चाहे तो स्वयं भी सब जीवों पर दया करे। तथा जिस राजा को तेज की इच्छा हो वह धर्मनीति पर दृढ़ रहे और मुँह से जैसी बात कहे वैसा ही आचरण भी करे। यदि वह ऐसा नहीं करता तो देवता भी उसे धिक्कारते है और वह भगवान् से भी विमुख हो जाता है। जिस राजा से प्रजा का पालन नहीं होता वह पूजा-पाठ के नियमों में खूब सावधान भी रहे तो भी उसे कुछ लाभ नहीं होता। अतः तुम अच्छी तरह विचार लो, धर्म की मर्यादा छोड़ कर राजनीति में बर्तना तो ऐसा है कि उसके कारण फिर किसी भी प्रकार के शुभ आचरण से भी कोई लाभ नहीं होता। महापुरुष ने कहा है कि दो पुरुषों में जो प्रधान हो वह यदि विचार और नीति के अनुसार आचरण न करे तो धिक्कार का पात्र होता है। एक स्थान पर उन्होंने ऐसा भी कहा है कि राजाओं में अधिकतर तो नरक को ही प्राप्त होंगे। उनमें कोई वही मुक्त हो सकेगा जो सदा भगवान् से डरता रहेगा और विचार की युक्ति के अनुसार आचरण करेगा। अन्यत्र वे कहते है कि जब कोई इस लोक में क्रोध करता है तो भगवान् भी उस पर कुपित होते हैं। तथा जो इस लोक में किसी को सुख देता है वह स्वय भी सुख प्राप्त करेगा। फिर उन्होंने कहा है कि राजा होकर जो अपनी प्रजा का शासन एवं रक्षण नहीं करता

तथा किसी की आवश्यकताओं की ओर कोई ध्यान नहीं देता, अथवा जो पुरुष अपने सम्बन्धियों को धर्ममार्ग की शिक्षा नहीं देता और अशुद्ध आजीविका द्वारा उनका पालन-पोषण करता है, तथा जो पुरुष किसी से अपना काम करा कर उसे मजदूरी नहीं देता, ये सभी नरकगामी होते हैं। अतः राजा को चाहिये कि सतजनों के वचनों को अपना दर्पण बनावे और जिन वचनों में अनीति की निन्दा की गयी है उन पर ध्यान देकर सर्वदा अनीति से डरता रहे।

आठवीं युक्ति—राजा को सर्वदा विद्वानों की सङ्गति करनी चाहिये और उनसे धर्म की मर्यादा के विषय में पूछते रहना चाहिये। किन्तु जो विद्वान् अर्थलोलुप हों उनका सङ्ग न करे, क्योंकि सकामी पण्डितों की दृष्टि तो राजा को प्रसन्न रखकर अपना स्वार्थ सिद्ध करने पर ही रहती है, वे इसे यथार्थ नीति का उपदेश नहीं दे सकते। अतः उनका संग अच्छा नहीं। राजा को तो उसी विद्वान् का संग करना उचित है जो अपने स्वार्थ और राजा के मान के लिये यथार्थ नीति को न छिपावे। कहते हैं एक राजा ने किसी संत से पूछा था कि अमुक तपस्वी आप ही हैं? इस पर संत ने कहा कि अमुक तो मैं ही हूँ, किन्तु तपस्वी तुम ही हो, क्योंकि अधिक वस्तु को त्याग कर अल्प को स्वीकार करे वही तपस्वी होता है सो तुमने आत्मसुख को त्याग कर मायिक सुख स्वीकार किये हुए है, इसलिये तुम्ही तपस्वी हो। फिर राजा ने कहा, "मुझे कुछ उपदेश कीजिये।" संत ने कहा, "तुम्हें भगवान ने धर्म के सिंहासन पर बैठाया है, अतः परलोक में जानेपर प्रभु तुमसे धर्म की मर्यादा पूछेंगे, साथ ही उन्होंने तुम्हें नरकों का द्वारपाल भी बनाया है, अर्थात् तुम्हें प्रजा को नरकों में जाने से बचाने का भी अधिकार दिया है; अतः जो पुरुष अपनी जीविका के लिये पाप करता हो उसे तुम्हें जीविकानिर्वाह के लिये धन देना

चाहिये और जो मनमुखी होकर धर्ममर्यादा का त्याग करे उसे ताड़ना देकर पाप से रोकना चाहिये। और यदि कोई बल के अभिमान से अन्धा होकर जीवों को कष्ट पहुँचावे तो उसका शस्त्रों द्वारा दमन करना चाहिये। यदि तुम ऐसा नहीं करोगे तो सबसे पहले तुम्हें ही नरक में जाना पड़ेगा।" राजा ने पुनः कहा, "कुछ और उपदेश कीजिये।" तब सत बोले, 'राजन्, तुम नदी की तरह हो और मन्त्री तुम्हारे प्रवाह के समान हैं। तात्पर्य यह है कि यदि तुम निर्मल रहोगे तो वे भी निर्मल रहेंगे और यदि तुम्हारा हृदय मलिन हो जायेगा तो वे भी मलिन कर्मों का आचरण करेंगे।"

इसी प्रकार एक और राजा किन्हीं सन्त के दर्शनों को गया। सन्त उस समय यह वचन पढ़ रहे थे कि यथासम्भव शुभ आचरण ही को स्वीकार करो, क्योंकि उत्तम और नीच पुरुषों की गति समान नहीं होती। जब राजा ने यह वचन सुना तो वह अपने मन में विचारने लगा कि यह वचन ही सारे उपदेशों का मूल है। इतने में संत के दर्शनों की अभिलाषा से राजा के प्रधान ने किवाड़ों को खटकाया और कहा,"महाराज! किवाड़े खोलिये।" सन्त ने पूछा, "कौन है?" प्रधान ने कहा, "अमुक राजा साहब आपके दर्शनों के लिये आये है।" सन्त बोले, "राजा का हम से क्या प्रयोजन है?" प्रधान ने कहा, "कृपया किवाड़े खोल दीजिये, राजा साहब का निरादर करना ठीक नहीं।" तब सन्त ने किवाड़ खोल दिये और भीतर जो दीपक जल रहा था उसे बुझा दिया। राजा ने भीतर जाकर संत के चरणों पर अपना सिर रखा और पाँव पकड़ लिये। संत ने कहा, "राजन्! तुम्हारे हाथ तो बहुत कोमल है, किन्तु इनकी सार्थकता तभी है जब नरकों की अग्नि से ये सुरक्षित रहें। सो, तुम अभी से धर्मानुकूल आचरण करो तो अच्छा हो, क्योकि परलोक में जानेपर तुम से एक-एक प्रजाजन की बात पूछी जायगी।" यह बात सुन कर राजा रोने लगा और

मूर्छित हो गया। तब प्रधान ने कहा, "महाराज, अब ऐसी बातें बन्द कीजिये, क्योंकि आपके वचन सुनकर तो राजा साहब के प्राण संकट में पड़ गये।" यह सुनकर सन्त ने कहा, "तुम कुमन्त्री हो, राजा के प्राण तो वास्तव में तुम लोगों की सङ्गति के कारण सकट में पड़े है। और तुम हमारे ऊपर इसका आरोप करते हो।" इतने में राजा सावधान हो गया, उसने तीन हजार रुपये सन्त के आगे रखे और कहा, "भगवन्! यह धन पापरहित साधनों से उपार्जन किया गया है, आप इसे स्वीकार करे।" सत ने कहा, "भाई! मैं तो तुम्हें माया से निकालना चाहता हूँ और तुम मुझे माया में डालने की बाते कर रहे हो।" ऐसा कहकर सन्त खड़े हो गये और घर के बाहर चले आये। राजा का धन उन्होने स्वीकार नहीं किया।

एक अन्य राजा की बात है, उसने किसी सन्त से कहा था कि मुझे धर्मनीति का उपदेश कीजिये। तब सन्त ने कहा, "तुम से जो छोटे आदमी है उन्हे तुम पुत्रवत् समझो और जो तुम से बड़े है उन्हें पिता के तुल्य मानो तथा जो समान है उनके साथ बन्धु-बान्धवों का सा बर्ताव करो। यदि किसी को दण्ड देना पड़े तो उसकी उतनी ही ताड़ना करो जितना उसका अपराध हो और चित्त में यही भाव रखो कि मै उसकी भलाई के लिये ही यह ताड़ना कर रहा हूँ। अपराध न होने पर यदि तुम क्रोधवश किसी के एक बेंत भी मारोगे तो नरक में जाना पड़ेगा।" इसी बात को लक्ष्य करके एक बुद्धिमान् राजा ने कहा है कि एक बार मेरे सेवक ने कोई काम बिगाड़ दिया था! अतः मै क्रोध में भर कर उसे मारने लगा। तब वह बोला, "आप जरा परलोक की ताड़ना का स्मरण रखे। अर्थात् परलोक का भय करके क्रोध त्याग दे।" उसकी यह बात सुनकर मुझे भगवान् का भय हुआ।

इन सब प्रसङ्गों का तात्पर्य यह है कि राजा को सर्वदा इस प्रकार सावधान रहनेवाले वचन सुनते रहना चाहिये।

नवी युक्ति—राजा को ऐसा नहीं समझना चाहिये कि मैं तो किसी को स्वयं दण्ड नहीं देता, उन्हें ताड़ना करनेवाले तो दूसरे ही होते है। कारण कि मन्त्रियों, प्रधानों (प्रान्तीय शासकों) और सेनापतियों के द्वारा जो अन्याय होगा उसका दण्ड भी राजा को ही भोगना पड़ेगा। अतः उन्हे पाप करने से रोकता रहे। एक धर्मज्ञ राजा ने अपने प्रधान को पत्र लिखा था कि वही प्रधान भाग्यवान् है जिसके राज्य में प्रजा सुखी रहती है, इसके विपरीत जिसकी प्रजा धर्महीन और दुःखी हो वह तो मन्दभागी ही है। अतः तुम्हे सावधान रहना चाहिये। यदि तुम प्रमाद करोगे और भोगों में आसक्त हो जाओगे तो तुम्हारी सेना भी भोगलम्पट होकर प्रजा को दुःख देगी। जो पुरुष अधिक भोगासक्त होता है वह तो पशु के समान है। पशु हरी-हरी घास चर कर पहले तो खूब मोटा हो जाता है और फिर उसकी वह स्थूलता ही उसके दुःख और नाश का कारण बन जाती है। इसी पर महापुरुष ने भी कहा है कि जिस राजा का कोई प्रधान पापकर्म करता हो और राजा उसे ताड़ना न देता हो तो उसके पाप का फल राजा को भोगना पड़ता है।

अतः राजा को ध्यान रखना चाहिये कि माया में आसक्त होकर परमार्थ से विमुख होना बड़ी मूर्खता है। मेरे जो प्रधान और मन्त्री है, वे सब तो अपने स्वार्थ का प्रयोजन रखते है, अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिये वे मेरा धर्म नष्ट करने पर तुले रहते है। यदि इनके वशीभूत रहकर मै अपने धर्म के विपरीत चलूँगा तो मुझे निस्सन्देह नरकगामी होना पड़ेगा। यदि इस दृष्टि से विचार किया जाय तब तो ये सब मेरे शत्रु ही है। अतः जो राजा अपने मन्त्रियों और सेना आदि को पापकर्मो से नहीं रोकता

वह तो उस पुरुष के ही समान है जो अपने स्त्री-पुत्रादि को पाप-कर्मों में लगाये रहता है और स्वयं उनके पापों का भागी होता है। किन्तु सन्तों ने जो यह धर्म की मर्यादा कही है इसका पालन वही पुरुष कर सकता है जिसने विचारद्वारा अपने सङ्कल्पों को दृढ़ कर लिया है। जो पुरुष अपनी बुद्धि पर अंकुश रखता है और भोगवासनाओं को प्रबल नहीं होने देता वही धर्मनीति में स्थित रह सकता है। पर अधिकांश लोग ऐसे होते है जो अपने मनोरथ पूर्ण करने के यत्न में ही लगे रहते हैं और बुद्धि को भी इन्ही कामों में लगाये रहते है। सो जिसने बुद्धिरूपी देवता को क्रोधरूपी राक्षस के हाथ बेच दिया है ऐसा पुरुष धर्मनीति का पालन कदापि नहीं कर सकता। अतः जिसके हृदय में पहले विचार-रूपी सूर्य का उदय हो और फिर उसका प्रकाश इन्द्रियों में फैले वही अपनी सब प्रजा को भी वह आलोक प्रदान कर सकता है। जो लोग विचाररूपी सूर्य के बिना धर्मनीति के प्रकाश की आशा रखते हैं वे तो मूर्ख ही है।

और यह विचार उपजता है धर्म की बुद्धि से। इसी का नाम परम बुद्धि भी है, अर्थात् वह बुद्धि जो सब प्रकार के आचरणों का रहस्य समझती हो और इस बात का भी निर्णय कर सकती हो कि मै जब धर्म और विचार की मर्यादा को त्यागता हूँ तो उसमें क्या कारण होता है। जब यह अनक प्रकार के भोजनों के लिये विचार की मर्यादा का त्याग करे तब इसे इस प्रकार विचारना चाहिये कि खाने-पीने की तृष्णा तो पशुओं का स्वभाव है, अतः जिसे यह तृष्णा बढ़ी हुई है वह तो देखने में ही मनुष्य जान पड़ता है, वास्तव में तो पशु ही है। और जो सुन्दर वस्त्रो के लिये धर्म का त्याग करे उसे समझना चाहिये कि शृङ्गार करना तो स्त्रियों का काम है। इसी प्रकार जो क्रोध के वशीभूत होकर धर्म का उल्लङ्घन करे उसे अपने को सिहों और भेड़ियों के समान

जानना चाहिये। यदि कोई मनुष्य लोगों में सम्मानित होने के लिये विचार का त्याग करता है तो वह भी बड़ी मूर्खता की ही बात है, क्योंकि यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो ये सब लोग अपने स्वार्थ का ही प्रयोजन रखते है और भोगों के लिये ही इसकी चापलूसी करते है। इसकी परीक्षा यही है कि जब उनका स्वार्थ भङ्ग होता है तो वे उल्टे इसके शत्रु हो जाते हैं और इसके विरोधियों की सेवा करने लगते है। इससे निश्चय होता है कि इसके सभी सम्बन्धी, मित्र, सेवक और साथी अपने स्वार्थ के लिये ही इससे स्नेह करते है।

अतः बुद्धिमान् तो वही पुरुष है जो इस भेद को अच्छी प्रकार समझे और अपने पास पदार्थों की बहुलता देखकर अभिमान न करे। जिसे ऐसी समझ नहीं है वह तो बुद्धिहीन ही है। और जिसके पास बुद्धि नहीं है वह विचार की मर्यादा में सावधान नहीं हो सकता। तथा जो विचारशून्य है वह निःसन्देह नरक का ही अधिकारी होता है। इसीसे संतों ने कहा है कि सम्पूर्ण शुभ गुणों का मूल बुद्धि ही है।

दसवीं युक्ति—राजाओं में स्वभाव से ही अभिमान अधिक होता है और अभिमान से क्रोध हुआ करता है तथा क्रोध ही बुद्धि का सब से बड़ा शत्रु है। अतः राजा को सबसे पहले क्रोध के दोषों पर विचार करना चाहिये और जब अकस्मात् कभी क्रोध उत्पन्न होने लगे तब प्रयत्न करके अपने स्वभाव में दया और सहनशीलता को पुष्ट करे। यह बात ध्यान में रखे कि सहनशीलता सतों का धर्म है और क्रोध असुरों का स्वभाव है। राजाओं का प्रायः यह स्वभाव होता है कि जब कोई पुरुष वाणीद्वारा उनकी अवज्ञा करता है तो वे उस पर क्रोध करने लगते है। उस समय उन्हें विचारना चाहिये कि यदि दुर्वचन कहनेवाला पुरुष सत्य कहता है तब तो वह उपकारक है ही और यदि वह झूठ कहता है

तो उसका और भी अधिक उपकार है, क्योंकि इस प्रकार वह हमारी सहनशीलता बढ़ाने में सहायक होता है। इसके सिवा उसके पुण्य कर्मों का फल भी सहन करनेवाले को ही प्राप्त होगा। कहते हैं, एक बार किसी पुरुष ने महापुरुष से कहा था कि अमुक पुरुष ऐसा बलवान् है कि जिसके साथ युद्ध करता है उसी को गिरा देता है। इसपर उन्होंने कहा, "वास्तव में बलवान् तो वही है जिसने अपने क्रोध को जीता है। मनुष्यों को पकड़ने और गिरानेवाले का नाम बली नहीं है।"

इसके सिवा धर्मवान् पुरुष उसे भी कहा गया है जो किसी क्रोध करने योग्य पुरुष से काम पड़ने पर भी विचार की मर्यादा को नहीं त्यागता और न कोई अनुचित वचन ही कहता है तथा जब किसी पर प्रसन्न होता है तब भी जो वास्तविकता को भूल नहीं जाता एवं समर्थ होनेपर भी कभी मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं करता। एक संत का कथन है कि जब तक किसी पुरुष के धैर्य और क्रोध की अच्छी तरह परीक्षा न कर ली जाय तब तक उस पर विश्वास नहीं करना चाहिये। कहते हैं, एक राजपुत्र पढ़ने के लिये पाठशाला को जा रहा था। रास्ते में एक दुष्ट मिला, वह उसके लिये अनेकों दुर्वचन कहने लगा। राजकुमार के साथ जो सेवक था वह क्रोधित होकर उसे मारने को तैयार हुआ। तब राजकुमार ने उसे रोका और उस दुष्ट से कहा, "भाई! हमारे में तो ऐसे-ऐसे दोष हैं जिन्हें तुम जानते ही नहीं हो। हाँ, तुम्हारा कोई काम हो तो मुझसे स्पष्ट कहो।" यह सुनकर वह बहुत लज्जित हुआ। फिर राजकुमार ने अपने गले का वस्त्र और एक हजार रुपया उसे दिया। उन्हें लेकर वह बोला, "निःसन्देह आप महापुरुष की सतान हैं।" एक बार इसी राजकुमार ने अपने एक सेवक को दो बार पुकारा, किन्तु वह चुप साधकर रह गया। तब इसने पास जाकर कहा, "मैंने तुम्हें दो बार पुकारा, किन्तु तुमने सुना ही नहीं।"

सेवक ने कहा, "सुना तो था, किन्तु आपकी सहनशीलता ने इतना निर्भय कर दिया है। सोचा था, अवज्ञा करनेपर भी आप दण्ड तो देंगे नहीं।" राजपुत्र बोला, "यह भी हमारे ऊपर प्रभु का परम अनुग्रह ही है कि सेवक को भी हमारे क्रोध का भय नहीं रहा।' इसी प्रकार एक संत का भी प्रसङ्ग है। उनके सेवक ने उनके एक पशु का पैर तोड़ डाला। तब उन्होंने उससे कहा, "भाई तूने इस बेचारे को यह कष्ट क्यों दिया ?" सेवक बोला, "मैंने आपके धैर्य और क्रोध की परीक्षा करने के लिये यह अवज्ञा की है।" तब सत बोले, "भाई! मै तो सहनशील होकर क्रोध ही को लज्जित करूँगा।" ऐसा कहकर उन्होंने उस क्रीतदास को दासत्व से मुक्त कर दिया। इसी प्रकार एक बार इन्हीं संत से किसी दुष्ट ने अनेकों दुर्वचन कहे। तब सत बोले, "भाई मेरे और भगवान् के बीच में अनेकों कठिन घाटियाँ हैं यदि मैंने उन्हें पार कर लिया तो फिर मुझे तुम्हारे दुर्वचनों का कोई भय नहीं है। और यदि वे मुझसे न लाँघी गयीं तब तो तुम जैसा कहते हो मैं उससे भी गया-गुजरा हूँ।" इसी पर महापुरुष ने भी कहा है कि बहुत लोग क्षमा और सहनशीलता के द्वारा अत्यन्त गम्भीर पद प्राप्त कर लेते हैं। वे यद्यपि गृहस्थधर्म का पालन करते है तो भी बड़े शूरवीर और विरक्तचित होते है। इसके सिवा यह भी कहा है कि जो विचार की मर्यादा त्यागकर क्रोध के वशीभूत होते है वे निःसन्देह नरकगामी होते है और जो समर्थ होनेपर भी अपने क्रोध का दमन कर लेते है उनके हृदय को भगवान् आनन्द से भर देते है।

तात्पर्य यह कि जिस राजा की बुद्धि धर्म में स्थित है उसके लिये तो मैंने जितने वचन और युक्तियाँ कहीं है वे ही पर्याप्त है। और जिसका हृदय ये सब उपदेशवाक्य पढ़कर भी कोमल न हो, समझना चाहिये, उसे तो भगवान् पर कुछ भी विश्वास नहीं है। वाणी से भगवान् को सत्य कहना दूसरी बात है और हृदय से

भगवान् को सत्य जानना दूसरी। जो पुरुष छल और हिंसा करके धन उत्पन्न करे और पापों में निःशंक होकर बर्ते उसके विषय में यह कैसे समझ सकते है कि वह भगवान् को प्रत्यक्ष सत्य जानता है। अतः धर्मात्मा पुरुष तो वही है जो सर्वदा विचार की मर्यादा से स्थित रहता है।

---

(७)

सप्तम उल्लास

(चित्त के मलिन स्वभावों का शोधन)

पहली किरण

शुभ स्वभावों की प्राप्ति और मलिन स्वभावों की निवृत्ति के उपायों का वर्णन

(१–शुभ स्वभाव की स्तुति)

याद रखो, प्रभु ने जो महापुरुष की प्रशंसा की है वह उनके सुन्दर स्वभावों के कारण ही है, तथा महापुरुष ने भी कहा है कि भगवान् ने मुझे भले स्वभावों को पूर्ण करने के लिये ही इस जगत् में भेजा है। फिर यह भी कहा है कि परलोक में सुन्दर स्वभाव ही सब से श्रेष्ठ पदार्थ गिना जायगा। एक बार किसी पुरुष ने महापुरुष से पूछा था कि धर्म क्या है ? महापुरुष ने कहा कि भला स्वभाव ही धर्म है। ऐसे ही एक और पुरुष ने पूछा कि उत्तम आचरण क्या है ? तब भी उन्होंने यही कहा कि भला स्वभाव ही सबसे उत्तम आचरण है। एक अन्य पुरुष ने उनसे प्रार्थना की कि मुझे कुछ उपदेश कीजिये। तब उन्होने कहा कि जिस स्थान पर तुम हो वहीं भगवान् के भय के सहित रहो और यदि कोई तुम्हारे साथ बुराई भी करे तो भी तुम उसके साथ भलाई ही करो तथा सब जीवों के साथ सुन्दर स्वभाव को लेकर मिलो। महापुरुष ने यह भी कहा है कि जिसको भगवान् ने अच्छा स्वभाव दिया है और जिसका मस्तिष्क प्रसन्नता के सहित खुला हुआ है वह नरकों की अग्नि में नहीं जल सकता। एक बार किसी ने महापुरुष से कहा कि अमुक स्त्री दिन को व्रत रखती है और रात्रि में जागरण

करती है तथा सर्वदा भजन में ही लगी रहती है, किन्तु उसका स्वभाव अच्छा नहीं है, वह पड़ौसियों को दुर्वचन कहकर दुःख पहुँचाती है। तब महापुरुष ने कहा, "फिर तो वह निःसन्देह नरकों को प्राप्त होगी।" ऐसा भी कहा है कि बुरा स्वभाव भजन को इसी प्रकार नष्ट कर देता है जैसे मधु को खटाई। महापुरुष तो भगवान् से यही प्रार्थना करते थे कि प्रभो! जिस प्रकार आपने कृपा करके मेरा शरीर सुन्दर बनाया है उसी प्रकार मेरा स्वभाव भी सुन्दर कीजिये। कभी-कभी वे ऐसा भी कहते थे कि मुझे सुन्दर स्वभाव और नीरोगता दीजिये।

एक बार किसी ने महापुरुष से पूछा कि भगवान् जो कुछ इस जीव को देते हैं उसमें भला क्या है? तब उन्होने कहा कि भला स्वभाव सब पदार्थों से बढ़कर है। एक और सन्त ने भी कहा है कि एक बार मैं महापुरुष के साथ था। तब उन्होंने कहा कि मैंने एक बड़ा आश्चर्य देखा। एक बार मुझे एक पुरुष गिरा हुआ दिखाई दिया। उसके और भगवान् के बीच में बड़ा पर्दा था। किन्तु जब भला स्वभाव उसके हृदय में आया तो उसने वह सारा पर्दा हटा दिया और उस पुरुष ने भगवान् को प्राप्त कर लिया। ऐसा भी कहा है कि यह पुरुष भले स्वभावों के द्वारा बिना कष्ट ही ऐसी अवस्था प्राप्त कर लेता है कि जिसे बड़ी भारी तपस्या और जागरण आदि के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। किन्तु इस भले स्वभाव की पूर्णता महापुरुष में ही पायी जाती है। कहते है, एक स्थान पर महापुरुष बैठे थे। तब वहाँ कुछ स्त्रियाँ निःसंकोच होकर उच्च स्वर से बोलने लगीं। इतने ही में वहाँ उनके साथी हजरत उमर आये। उन्हें देखते ही वे चञ्चलता छोड़कर मौन हो गयीं। तब उमर ने कहा, "बहिनों, तुमने महापुरुष से तो कुछ भी भय नहीं किया और मुझे देखकर मौन हो गयीं?" वे बोलीं, "महापुरुष का स्वभाव तो अत्यन्त कोमल है; आप उनकी अपेक्षा कुछ

कठोर स्वभाव के हैं। अतः आपसे हम डरती हैं।" फिर महापुरुष ने उमर से कहा, "उमर ! तुम्हारे पास तो माया भी नहीं फटक सकती। वह भी तुम्हारे तेज को सहन न कर सकने के कारण भाग जाती है, फिर औरों की तो बात ही क्या है ?" ऐसा कह कर उन्होंने उनका मान बढ़ाया और उन्हें प्रसन्न किया।

एक और सन्त थे। सयोग से मार्ग में उनका किसी पुरुष से साथ हो गया। जब वे उससे बिछुड़े तो रोने लगे। तब लोगों ने पूछा कि आप क्यों रोते है ? वे वोले, "यह पुरुष जो मुझसे बिछुड़ा है, इसका बुरा स्वभाव इसके साथ ही रहा, वह इससे दूर न हुआ इससे मै रोता हूँ।" इसके सिवा अबूबक्र किताई ने भी कहा है कि फ़कीरी भले स्वभाव का ही नाम है। अतः जिनका स्वभाव अच्छा है वही उत्तम फकीर है। एक अन्य सन्त ने भी कहा है कि कठोर स्वभाव ऐसा पाप है कि इसके होते हुए कोई भी शुभ गुण लाभदायक नहीं होता और कोमल स्वभाव इतना उत्तम भजन है कि इससे सम्पूर्ण पापों का नाश हो जाता है तथा किसी भी अवगुण का खटका नहीं रहता।

(२—शुभ स्वभाव का वर्णन)

अब विचारणीय यह है कि भले स्वभाव क्या है ? इनका वर्णन करने के लिये अनेकों वचन प्रसिद्ध है। किन्तु किसी ने भी इनका पूर्णतया वर्णन नहीं किया। किसी ने कहा, "मस्तिष्क को प्रसन्न रखना ही भला स्वभाव है।" और कोई कहता है, "सहनशीलता ही भला स्वभाव है।" इसी प्रकार और भी अनेकों वचन है। पर ये सब तो भले स्वभाव के अंग ही हैं, इन्हें ही पूर्ण भला स्वभाव नहीं कह सकते। अतः अब मै इस बात का विवेचन करता हूँ कि पूर्ण भला स्वभाव क्या है ?

स्मरण रखो, इस मनुष्य को दो पदार्थों से संयुक्त रचा गया है।

उनमें एक तो शरीर है, जो स्थूल नेत्रों से दिखायी देता है और दूसरा जीव है, जो बुद्धि से पहचाना जा सकता है। इन शरीर और जीव, दोनों की सुन्दरता भी है और कुरूपता भी। किन्तु शरीर की सुन्दरता तो उसका स्थूल रूप-रंग आदि है और जीव की सुन्दरता भला स्वभाव है। स्थूल रूपवान् भी उसी शरीर को कहते हैं जिसके नेत्र, मस्तक, नाक, कान, मुख तथा अन्यान्य अंग समान हों, इसी प्रकार जीव की सुन्दरता भी तभी समझी जाती है जब इस पुरुष में चार गुण समान रूपसे पाये जायँ। वे गुण है—विद्या, संयम, अक्रोध और विचार। इनमे से विचार शेष तीन गुणों में भी अनुगत रहता है। प्रथम गुण जो विद्या कहा है उसका अर्थ है समझ। इसकी विशेषता यह है कि इसके द्वारा मनुष्य सहज ही में सत्य और असत्य को पहचान सकता है, वचन और आचरण की भलाई और बुराई के भेद को समझ सकता है तथा यह भी जान सकता है कि अमुक विश्वास सत्य है या मिथ्या। इस प्रकार जब वचन, आचरण और निश्चय को यथावत् रीति से जान लेता है तो इसके हृदय में अनुभव उत्पन्न होता है और यह अनुभव ही सम्पूर्ण गुणों का मूल है। श्री भगवान् ने भी कहा है कि जिस पुरुष को अनुभव प्राप्त हुआ है उसे सभी गुण प्राप्त हो जाते है। दूसरा गुण है संयम अर्थात् भोगों को अपने अधीन रखना। इसका तात्पर्य यह है कि भोगों का इस पर आधिपत्य न हो, यह बुद्धि के अनुसार बर्ते और विचार का आदेश मानना इसके लिये सुगम हो जाय। तीसरा गुण है अक्रोध अर्थात् क्रोध पर अधिकार प्राप्त करना। जिसे यह गुण प्राप्त हो जाता है उसका क्रोध भी विचार के आदेशानुसार ही होता है, वह विचार के विपरीत क्रोध करके किसी को कष्ट नहीं पहुँचाता।

चौथा गुण विचार है। यह उपर्युक्त तीनों गुणों में भी रहना चाहिये। इसका तात्पर्य यह है कि भोग और क्रोध तो विचार के

आदेशानुसार इसके अधीन रहने चाहिये और विद्या में सामञ्जस्य (समतोलता) रहना चाहिये, जिससे यह शास्त्राज्ञा के अनुसार वर्त सके। क्रोध शिकारी कुत्ते की तरह है और लोभ घोड़े के समान है, जिस पर बुद्धिरूपी सवार है। कभी ऐसा होता है कि घोड़ा सवार से भी प्रबल हो जाता है और कभी उसके संकेत के अनुसार चलता रहता है। इसी प्रकार कुत्ता भी कभी मालिक की आज्ञा में रहता है और कभी उससे उल्टा चलने लगता है। किन्तु जब तक घोड़ा और कुत्ता सवार की आज्ञा में न हों तब तक शिकार उसके हाथ नहीं आ सकता। सवार को भी यह डर रहता है कि कहीं घोड़ा प्रबल होकर मुझे गिरा न दे अथवा कुत्ता मुझे फाड़ न डाले। अतः विचार का काम यह है कि इनको अपने अधीन रखे और इन्हें बुद्धि एवं धर्म की आज्ञा में चलावे। कभी भोगों को क्रोध से प्रबल करके क्रोध के वेग को अपमान के द्वारा निवृत्त करे और कभी क्रोध को भोगों से प्रबल करके मान का लालच देकर भोगों की अभिलाषा के वेग को शान्त करे। इस प्रकार इन दोनों को अपने अधीन रखे।

इस प्रकार जिस मनुष्य में ये चारो लक्षण समान रूप से होते है उसी को सम्पूर्ण भले स्वभाववाला कहा जाता है। और जिस में इनमें से कोई लक्षण हो और कोई न हो उसे सम्पूर्ण भले स्वभाववाला नहीं कह सकते। जैसे कोई पुरुष रूपवान् तो हो, किन्तु उसकी आँख, नाक अथवा कोई अन्य अङ्ग कुरूप हो तो उसे पूर्णतया सुन्दर नही कह सकते। इसी प्रकार निश्चय जानो, इन गुणों की सुन्दरता भी है और असुन्दरता भी। सो, सुन्दरता तो इनकी समानता में है और असुन्दरता दो प्रकार है—एक तो मर्यादा से अधिक होने में और दूसरी मर्यादा से न्यून होने में। इसके सिवा यह भी कहा है कि जिस मनुष्य में एक बुरा स्वभाव होता है उसमें और भी अनेकों बुराइयाँ आ जाती है। किन्तु यहाँ

जो इनकी मर्यादा की बात कही गयी है वह इस प्रकार है—सबसे पहले विद्या का ही विचार करें। यदि विद्या मर्यादा से अधिक होती है तो उसका तरह-तरह की मलिनताओं में भी प्रसार हो जाता है। उसके कारण मनुष्य में चञ्चलता और चालाकी आ जाती है तथा वह अभिमानी भी हो जाता है। और यदि वह मर्यादा से न्यून होती है तो मनुष्य में मूर्खता और जड़ता के दोष आ जाते है। किन्तु यदि विद्या मर्यादा के अनुसार हो तो उससे विचार, सुमति, शुद्ध संकल्प एवं उत्तम समझ आदि गुण उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार जब क्रोध का बल अधिक होता है तब अभिमान, कटुभाषण, बड़प्पन, आत्मश्लाघा, निःशंकता और साहस आदि अनेकों दोष पैदा हो जाते है। तथा जब क्रोध मर्यादा से न्यून होता है तो दीनता, पराधीनता एवं कपट आदि बुरे स्वभाव आ जाते है। किन्तु जब क्रोध का बल मर्यादा के अनुसार होता है तो इसका चित्त दृढ़ हो जाता है और इसमें पुरुषार्थ, बल, सहनशीलता, नम्रता एवं इसी प्रकार के अनेकों शुभ गुण आ जाते है। इसी तरह जब भोगों का बल मर्यादा से अधिक होता है तो तृष्णा, अशुद्धता, कृपणता और ईर्ष्या उपजाती है। तथा लोभ के कारण यह धनवानों से अपमान सहन करता है और निर्धन का निरादर करने लगता है। इसके विपरीत जब इसे भोग बिलकुल नहीं मिलते तब इसमें आलस्य, कायरता और अस्थिरता आदि दोष आ जाते है। किन्तु जब भोगों का बल मर्यादा के अनुसार होता है तब संयम, धैर्य और सन्तोष आदि गुणों की प्राप्ति होती है। इस प्रकार पहले जो विद्या, क्रोध और भोग बताये गये है, इनके दो-दो किनारे हैं—एक अधिकता और दूसरा न्यूनता। ये दोनों ही निन्द्य हैं, इनका मर्यादा में रहना ही श्रेष्ठ कहा गया है।

किन्तु इनकी मर्यादा बाल से भी सूक्ष्म और कठिन है।

तथापि यही उत्तम मार्ग भी है। वैसे परलोक में पुल सरात× को पार करना कठिन कहा गया है, उसी प्रकार इनकी मर्यादा में बर्तना भी बहुत कठिन है। अतः जो पुरुष इस लोक में इनकी मर्यादा अर्थात् समानता में बर्तता है वह परलोक में पुल सरात से निर्भय रहता है, इसी से प्रभु ने भी सब स्वभावों में समानता से बर्तना ही श्रेष्ठ कहा है और उन पुरुषों की प्रशंसा की है जो कृपणता और विपुलता से रहित है। महापुरुष ने भी कहा है कि न तो ऐसी कृपणता करनी चाहिये कि किसी को कुछ दे ही नहीं और न इतनी विपुलता (अति) ही हो कि एक ही बार में सब कुछ लुटा दिया जाय और फिर स्वयं कंगाली का दुःख भोगता रहे। अतः निश्चय जानो कि हृदय की सम्पूर्ण सुन्दरता तभी होती है जब ये गुण मर्यादा के अनुसार रहते है, जिस प्रकार कि शारीरिक सुन्दरता तभी पूर्ण होती है जब सब अङ्ग सुन्दर और समान हों।

परन्तु इस हृदय की सुन्दरता और कुरूपता की दृष्टि से भी चार प्रकार के मनुष्य होते है। उनका विवरण इस प्रकार है—

१—वे मनुष्य जिनमें सम्पूर्ण शुभ गुण पाये जायँ। उन्हें सम्पूर्ण सुन्दर कहा जा सकता है। ऐसे महापुरुष की आज्ञा में सभी जीवों को बर्तना चाहिये। ऐसी पूर्ण सुन्दरता किन्हीं महापुरुष या सन्त में ही पायी जाती है। जिस प्रकार शारीरिक दृष्टि से एक यूसुफ ही पूर्ण सुन्दर हुए है, उसी प्रकार हृदय से पूर्ण सुन्दर भी कोई विरले ही होते है।

२—वे पुरुष जिनमें सब स्वभाव बुरे ही पाये जाते है, उनका हृदय अत्यन्त कुरूप और कठोर होता है। ऐसे लोगों

× हिन्दू शास्त्रो मे जैसे परलोकगामी जीव को वैतरणी नदी पार करने की बात आयी है, मुसलिम शास्त्रो मे वैसा ही पुल सरात है।

का तो संसार में न होना ही अच्छा है, क्योंकि वे मन-मुखी असुरों के समान होते हैं। असुरों को भी जो कुरूप कहा गया है वह केवल शरीर की दृष्टि से ही नहीं बल्कि उनके स्वभावों की बुराई के कारण ही कहा गया है।

३—वे मनुष्य जिनके हृदय उक्त दोनों प्रकार के मनुष्यों के मध्यवर्ती हैं, फिर भी उनमें कुछ उत्तम गुणों की अधिकता है।

४—वे पुरुष जो दोनों के मध्यवर्ती होने पर भी बुराई की ओर विशेष झुके हुए है।

इस प्रकार जैसे शरीरदृष्टि से पूर्ण सुन्दर और पूर्ण कुरूप विरले ही लोग होते हैं, अधिक संख्या तो मध्यवर्तियों की ही होती है, उसी प्रकार हृदय की सुन्दरता और कुरूपता की दृष्टि से भी अधिक संख्या अन्तिम दो प्रकार के पुरुषों की ही होती है। अतः सब को यही प्रयत्न करना चाहिये कि यदि पूर्ण सुन्दरता न भी प्राप्त हो तो भी जो उसका समीपवर्ती पद है उसी को प्राप्त कर सके। तात्पर्य यह कि यदि सम्पूर्ण शुभ गुण प्राप्त न हो सके तो भी कुछ शुभ गुण तो प्राप्त कर ही ले। जिस प्रकार शारीरिक सुन्दरता और कुरूपता की कोई सीमा नहीं है, उसी प्रकार हृदय की सुन्दरता और कुरूपता भी असीम ही है, क्योंकि शुभ गुणों की सुन्दरता किसी एक गुण का नाम नहीं है। तथापि इनके मूल विद्या, (संयम भोगों को जीतना), अक्रोध (क्रोध को अपने अधीन रखना) और विचार ही हैं। शेष सब गुण इन्हीं की शाखाएँ है।

(३—पुरुषार्थ द्वारा शुभ स्वभावों की प्राप्ति)

कोई पुरुष ऐसा कहते है कि जिस प्रकार शरीर का स्वरूप नहीं बदला जा सकता उसी प्रकार हृदय का स्वभाव भी बदलना असम्भव है। अर्थात् शरीर जैसा आरम्भ में होता है वैसा ही

अन्त तक रहता है। लम्बा शरीर छोटा नहीं हो सकता और छोटा लम्बा नही हो सकता। इसी प्रकार जिसका स्वभाव आरम्भ से बुरा है वह यत्न करके भला नही हो सकता। सो उनका यह कथन ठीक नहीं, यह उनकी भूल है, क्योंकि यदि ऐसा माना जाय तो सन्तजनो का उपदेश करना अथवा सिखाना-समझाना सब व्यर्थ होगा। तथा महापुरुष ने भी कहा है कि अपने स्वभावों को भला करो। इससे जाना जाता है कि स्वभावों का बदलना असम्भव नही है। देखो, जो बड़ी कठोर प्रकृति के पशु होते है, यत्न करने पर वे भी कोमल हो जाते हैं। जो मृग मनुष्य को देखते ही भयभीत होकर भागने लगते थे वे ही प्यार करने पर बिना पकड़े मनुष्य के पीछे-पीछे चलने लगते है। अतः स्वभाव का बदलना शरीर के बदलने के समान असम्भव नहीं है।

वस्तुतः सब कार्य दो प्रकार के होते है—एक तो ऐसे होते हैं जो मनुष्य के यत्न करने पर भी सिद्ध नहीं हो सकते, जैसे खजूर के बीज से यत्न करने पर भी सेव का वृक्ष उत्पन्न नहीं हो सकता, किन्तु खजूर के बीज से खजूर का वृक्ष मनुष्य के प्रयत्न से भी उत्पन्न हो सकता है। इसी प्रकार यह बात तो मनुष्य के अधीन नहीं है कि वह खाने–पीने आदि शरीर के भोगों से सर्वथा मुक्त हो जाय, किन्तु इतना कार्य वह कर सकता है कि प्रयत्न करके भोग और क्रोध को मर्यादा के अनुसार कर ले। इसमें किसी भी प्रकार का सन्देह नहीं है। तथापि इतना भेद अवश्य है कि कोई मनुष्य तो ऐसे होते है जिनका स्वभाव बदलना कठिन होता है और कोई सुगमता से ही उसे बदल सकते हैं। सो, इस कठिनता के भी दो कारण है—एक तो यह कि जो स्वभाव जन्म से ही होता है उसका बदलना कठिन है और दूसरा जो स्वभाव चिरकाल तक बर्तने से पुष्ट हो जाता है उसका बदलना भी सुगम नहीं होता। वह भी धीरे–धीरे पक्का हो जाता है।

स्वभाव बदलने की योग्यता की दृष्टि से भी सब मनुष्य चार प्रकार के होते है। उनका विवरण इस प्रकार है—

१—कोई लोग जन्म से ही कोरे कागज की तरह होते हैं। वे सत्य-असत्य कुछ नहीं जानते और न किसी प्रकार के भले या बुरे स्वभाव में ही वर्तमान होते है। ऐसे मनुष्य उपदेश के उत्तम अधिकारी है। ये सुगमता से ही भले स्वभावों को अगीकार कर लेते है। ऐसे पुरुषों को यदि कोई उपदेश करे और उन्हें बुरे स्वभावों के दोष समझावे तो ये सहज ही में सीधे मार्ग से चलने लगते है। जीवन की आरम्भिक अवस्था में सब बालक ऐसे ही होते है, पर माता-पिता उन्हें उल्टे रास्ते पर डाल देते है। इससे उन्हें भी माया की तृष्णा लग जाती है। वे उन्हें भली बुद्धि नहीं सिखाते; इसलिये वे निःशङ्क होकर खेलने और खाने की वासना में ही बर्तने लगते हैं। इस प्रकार वे जो धर्मभ्रष्ट होते है उसका पाप उनके माता-पिता को ही लगता है। इसी से प्रभु ने भी कहा है कि जो लोग अपने मन और सम्बन्धियों को पाप कर्मो से रोकते है और उन्हें नरकों की आग से बचाते है, वे धन्य है।

२—कुछ लोग ऐसे होते हैं जिन्होंने यद्यपि अभी भले-बुरे का निश्चय कुछ भी नही किया, तथापि कुछ काल भोग और क्रोध की अधीनता में बिताया है। अतः इतना वे समझते है कि ये स्वभाव अच्छे नहीं हैं। ऐसे पुरुषों का कार्य कठिनता से होता है, क्योंकि इनके लिये दो प्रकार के प्रयत्नों की आवश्यकता होती है—एक तो बुरे स्वभावों को दूर करना और दूसरे अच्छे स्वभावों का बीज आरोपित करना। ऐसे लोग यदि श्रद्धा और

पुरुषार्थयुक्त हों तो तुरन्त ही भलाई को प्राप्त हो सकते है और उनके बुरे स्वभाव निवृत्त हो सकते हैं।

३—कुछ लोग ऐसे होते है जिनमें बुरे स्वभाव बद्धमूल हो गये हैं और वे यह भी नहीं समझते कि ये बुरे है। उन्हें पाप कर्म ही सुन्दर होकर भासते हैं। ऐसे पुरुषों के स्वभावों का बदलना अत्यन्त कठिन है। इनमें ऐसा कोई विरला ही होता है जो अपने-आप स्वभावों को त्याग सके।

४—ये लोग ऐसे होते है कि पापकर्म करके अपनी बड़ाई करते हैं और पाप करना ही अच्छा मानते है। ये बड़े अभिमान से कहते है कि देखो, हम इतनी मदिरा पी जाते है और ऐसे-ऐसे भोग भोगते है। हममें कितना बल है? ऐसे पुरुष भलाई का उपदेश स्वीकार नहीं करते। यह दूसरी बात है कि किसी पर अकस्मात् भगवत्कृपा हो जाय और उसका बुरा स्वभाव एक दम बदल जाय। ऐसी भगवत्कृपा में मनुष्य का बल तो कुछ काम कर नहीं सकता।

(४—शुभ स्वभावों की प्राप्ति के उपाय)

तथापि जो पुरुष अपने बुरे स्वभाव को दूर करना चाहे उसे अपने स्वभाव के अनुसार बर्तना बन्द कर देना चाहिये। क्योंकि बिना विपरीत आचरण किये भोगों से छुटकारा नहीं मिल सकता। विरोधी स्वभाव तो अपने विरोधी आचरण से ही बदल सकता है। जैसे क्रोधरूपी रोग को औषध सहनशीलता है, अभिमान की औषध नम्रता है, तथा कृपणता की औषध उदारता है। इसी प्रकार सब रोगों की दवा उनकी विरोधी वस्तु ही होती है। अतः जो पुरुष अपने को शुभ आचरण की साधना में लगाता है उसका

स्वभाव सहज ही सुधर सकता है। धर्मशास्त्रों में भी जो शुभ कर्म करने की आज्ञा है उसका उद्देश्य भी यही है कि शुभ कर्म करने से हृदय का स्वभाव भी शुभ हो जाता है। सो, यह पुरुष जो कुछ पहले प्रयत्नपूर्वक करता है उसी के अनुसार इसका स्वभाव भी बन जाता है। देखो, बालक आरम्भ में तो अध्यापक और पाठशाला से डरकर भागता है, किन्तु जब उसे दण्डादि देकर भी पढ़ने में लगाते रहते है तो फिर वही उसका स्वभाव बन जाता है। यहाँ तक कि बड़ा होनेपर तो वह विद्या को ही सबका सार समझने लगता है। और उसके रस को छोड़ भी नही सकता। इसी प्रकार जब किसी पुरुष को कबूतर पालने अथवा शतरंज या जुआ खेलने का स्वभाव पड़ जाता है तब उसमें इतना रस आने लगता है कि उसके लिये अपनी सारी संगृहीत सम्पत्ति खर्च कर डालता है, किन्तु उसे नहीं छोड़ सकता। इसी प्रकार ऐसे अनेकों विपरीत स्वभाव है कि जिनमें दृढ़ता हो जाने पर उनके लिये तरह-तरह के दुःख और दण्ड सहन करने में भी इसे कोई कठिनता नहीं मालूम होती, जैसे जिस व्यक्ति को चोरी का दृढ़ अभ्यास हो जाता है वह उसके लिये कारावास तथा तरह-तरह की यन्त्रणाएँ सहन करने पर भी चोरी करना नही छोड़ सकता। यहाँ तक कि उन कष्टों को सहन करने में भी वह अपनी विशेषता समझता है। इसी प्रकार नपुंसक निर्लज्जतापूर्वक अपनी अशक्ति की विशेषता में ही बड़ाई समझते है। यदि ध्यान-पूर्वक देखा जाय तो नाई, भङ्गी आदि छोटी जाति के लोग भी अपनी-अपनी स्थिति का ऐसा ही गौरव मानते है जैसे बड़े-बड़े विद्वान् और गुणी लोग अपनी-अपनी स्थिति का। यह सब अपने-अपने स्वभाव में वर्तने का ही फल है कि उनमें ऐसी दृढ़ता आ जाती है। जैसे किसी को जब मिट्टी खाने की आदत पड़ जाती है तो उसके कारण मृत्यु होने की सम्भावना होने पर भी

वह उसे छोड़ नहीं सकता। इससे निश्चय होता है कि यदि चिर-काल तक अपने स्वभाव के विपरीत आचरण किया जाय तो उसमें भी उतनी ही दृढ़ता आ जायगी।

यह तो रही आगन्तुक स्वभावों की बात। जब अभ्यास से इनमें इतनी दृढ़ता आ जाती है तो जो स्वभाव इसके हृदय की प्रकृति के अनुसार है उसके विषय में तो कहना ही क्या है? वह तो एक प्रकार से इसका जीवन ही है; जैसे जल और आहार शरीर के जीवन है। अतः जब यह पुरुष शुद्ध स्वभावों को ग्रहण करता है तब तो वे सुगमता से ही दृढ़ हो जाते है। श्री भगवान् को पहचानना, काम और क्रोध को अपने अधीन करना और भजन में तत्पर रहना—ये सब मनुष्य के हृदय के निजी स्वभाव है, क्योंकि मनुष्य भी देवताओं के समान ही उत्पन्न हुआ है। अतः जैसे भगवत्तत्त्व का परिचय और ज्ञान देवताओं का आहार है उसी प्रकार यह मानव हृदय का आहार और जीवन है।

किन्तु चिरकाल तक भोगों का सेवन करने से उन्हीं में मानव-स्वभाव की दृढ़ता हो गयी है और उस भोगासक्ति के कारण रोगी हो जाने से इस मानवहृदय की रुचि भगवद्भजन से हट गयी है। रोगी का तो स्वभाव होता ही है कि उसकी रुचि विपरीत वस्तुओं में हुआ करती है और हितकारी वस्तुओ से उसकी अरुचि हो जाती है। अतः निश्चय हुआ कि जो पुरुष भगवद्भजन और भगवत्परिचय के सिवा अन्य पदार्थों से प्रेम रखता है वह रोगी है। भगवान् ने भी यही कहा है कि मनमुखों का हृदय रोगी है और जो मेरी ओर आया है वह नीरोग है। जिस प्रकार शारीरिक रोग होने पर मृत्यु का भय रहता है, वैसे ही हृदय के रोगी के लिये भी परलोक में बुद्धि नष्ट होने का भय लगा हुआ है। और जैसे शारीरिक रोग से तभी छुटकारा मिलता है जब

अपनी रुचि के विपरीत कटु औषधि का सेवन करे तथा वैद्य की आज्ञा के अनुसार आचरण रखे, उसी प्रकार हृदय के रोग की निवृत्ति का उपाय भी यही है कि अपने मन और वासनाओं से विपरीत होकर रहे। यही बात शास्त्र और सन्तजनों ने भी कही है। और सन्तजन ही वास्तव में हृदय के वैद्य हैं। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार शरीर के रोगों के लिये वैद्यक शास्त्र है वैसे ही हृदय के रोगों का भी एक वैद्यक है और इन दोनों में एक ही नियम लागू होता है। शारीरिक वैद्यक के अनुसार जैसे गर्मी की औषध शीत है वैसे ही जिस हृदय में अभिमान का रोग हो उसे प्रयत्नपूर्वक दीनता के स्वभाव का अभ्यास डालना चाहिये, यही उसकी चिकित्सा है। इसी प्रकार जिसमें अत्यन्त दीनता हो उसे यत्न करके गम्भीरता को बढ़ाना चाहिये।

मनुष्य को सब प्रकार के शुभ गुण तीन प्रकार से प्राप्त होते हैं। उनका विवरण इस प्रकार है—

१—कुछ व्यक्ति तो ऐसे होते है जो जन्म से ही शुभगुण-सम्पन्न होते हैं। किन्तु यह बात तो भगवत्कृपा से ही प्राप्त होती है, भगवान् कृपा करके किसी-किसी पुरुष को जन्म से ही उदार और नम्र प्रकृति का बनाते है। इस कोटि में आने वाले भी अनेकों पुरुष है।

२—कोई पुरुष प्रयत्न करने पर शुभ कर्मो के आचरण में दृढ़ होते है। अभ्यास के द्वारा उनका स्वभाव भी सहज रूप से शुभ हो जाता है।

३—कुछ व्यक्ति ऐसे होते है कि जब वे भले स्वभाव और शुभ आचरण वाले पुरुषों को देखते हैं और उनका सङ्ग करते है तो उनका स्वभाव भी शुभ हो जाता है। ऐसी स्थिति में विशेष समझ न होने पर भी अन्त में उनका कल्याण हो जाता है।

४—कुछ ऐसे पुरुष भी होते है जिन्हें ये तीनों परिस्थितियाँ एक साथ मिल जाती हैं। वे जन्म से भी शुभगुणसम्पन्न होते हैं, उनका आचरण भी अच्छा होता है और उन्हें सङ्गति भी अच्छी मिल जाती है। ऐसा पुरुष पूरा भाग्यवान् होता है।

किन्तु जिसमें ये तीनो गुण न हों, अर्थात् जो न तो जन्म से शुभगुणसम्पन्न हो, न जिसका आचरण ही शुभ हो और न जिसका सङ्ग ही अच्छा हो वह तो पूरा भाग्यहीन है। इन भाग्यहीन और भाग्यवान् पुरुषों के भी अनेक भेद हैं, सो जिसमें जितने शुभगुण हों वह उतना ही भाग्यवान् है और जिसमें जितने अवगुण हों वह उतना ही भाग्यहीन है। भगवान् ने भी कहा है कि जो पुरुष थोड़ा भी शुभ कर्म करता है उसको अवश्य ही उसका फल प्राप्त होता है और जो थोड़ी भी बुराई करता है उसे उतना ही दुःख भी भोगना पड़ता है। सो यद्यपि सब प्रकार के आचरण इन्द्रियों के द्वारा ही होते है, किन्तु उनका प्रयोजन यही होता है कि हृदय का स्वभाव बुराई से बदल कर भलाई में लगे, क्योंकि परलोक में तो जीव ही जाता है, शरीर तो यहीं रह जाता है। अतः उचित यही है कि जब जीव स्वर्ग में जाय तो निर्मल और सुन्दर होकर ही जाय। तभी वह भगवद्दर्शन का अधिकारी हो सकता है। और स्वच्छ दर्पण की भाँति निरावरण हो अपने हृदय में भगवान् की सुन्दरता को देख सकता है। प्रभु की वह सुन्दरता ऐसी है कि जिसे देखकर स्वर्ग के सुख भी तुच्छ और रूखे जान पड़ते है। परलोक में यद्यपि शरीर के साथ सम्बन्ध रहता है, तो भी कर्त्ता और भोक्ता तो जीव ही है, शरीर तो उसके अधीन है।

अतः तुम निश्चय जानो कि शरीर और जीव भिन्न-भिन्न है, क्योंकि शरीर तो आधिभौतिक है और जीव सूक्ष्म एवं नीरूप है। इस प्रकार यद्यपि ये भिन्न-भिन्न हैं तो भी इनका परस्पर सम्बन्ध

है। इसलिये शरीर के द्वारा जो शुभ आचरण होता है उसका प्रकाश हृदय में पहुँच जाता है और वही प्रकाश इसकी उत्तमपद प्राप्ति का कारण होता है। इसी प्रकार इस शरीर के द्वारा जो अशुभ आचरण होता है उसका अन्धकार हृदय में पहुँच जाता है और वही अन्धकार इसकी अधोगति का बीज होता है। इस सम्बन्ध को लेकर ही जीव को इस जगत् में उत्पन्न किया गया है। यह शरीर इस जीव के पास फन्दे के समान है। इसके द्वारा यह सम्पूर्ण भले स्वभावों का शिकार करे। इस बात को एक दृष्टान्त द्वारा समझ सकते है। अक्षरों की रचना, यह बुद्धि का कौशल है, किन्तु यह क्रिया हाथों के द्वारा ही निष्पन्न होती है। अतः जो चाहे कि मेरे अक्षर सुन्दर हों, उसे प्रयत्नपूर्वक सुन्दर अक्षर लिखने चाहिये और अपने हाथों को उनकी रचना के लिये अभ्यस्त करना चाहिये। ऐसा करते-करते उसके हृदय में सुन्दर अक्षरों की मूर्ति समा जायगी और फिर उसी के अनुसार अँगुलियाँ अक्षर लिखने लगेगी। इसी प्रकार पहले तो इस पुरुष का आचरण शुभ होना चाहिये, उससे इसके हृदय में भले स्वभावों की दृढ़ता होगी और फिर उन भले स्वभावों के अनुसार इसके आचरण भी स्वाभाविक शुभ हो जायँगे।

इससे निश्चय हुआ, सब प्रकार की भलाई का बीज यही है कि पहले प्रयत्नपूर्वक शुभ कर्म करे। उनका फल यह होगा कि इस के हृदय में भले स्वभावों की दृढ़ता होगी, फिर उस शुभ हृदय के स्वभाव का प्रकाश इसके शरीर में फैल जायगा और उससे स्वाभाविक ही इसके द्वारा प्रीतिपूर्वक शुभ आचरण होने लगेगे। इस प्रकार जीव और शरीर के सम्बन्ध का रहस्य यही है कि शरीर के द्वारा जो आचरण होता है उसका गुण हृदय में प्रविष्ट हो जाता है और हृदय के स्वभाव का गुण शरीर में उतर आता है। इसी से जो आचरण असावधानी और अज्ञान के साथ होता है वह निष्फल

और व्यर्थ होता है, क्योंकि उसके गुण या दोष का हृदय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

अतः इस विषय में तुम्हें इस दृष्टान्त पर ध्यान रखना चाहिये। यदि किसी मनुष्य को सर्दी का रोग हो और उसे गर्म दवा खाने से लाभ होता हो तो भी उसे निरन्तर गर्म दवा ही नहीं खाते रहना चाहिये। ऐसा करने पर तो उसके द्वारा गर्मी बढ़ कर वही रोग-रूप हो जायगी। औषध की भी एक मर्यादा होती है और मर्यादानुसार होने पर ही उससे लाभ होता है। औषध का प्रयोजन तो यही होता है कि शरीर का स्वभाव समान हो और उससे गर्मी या सर्दी अधिक न बढ़ने पावे। इसीलिये जब मालूम हो कि शरीर की प्रकृति समान हो गयी है तब आगे उसका सेवन नहीं करना चाहिये। प्रकृति को समान रखने के लिये आहार भी पथ्य और समान ही होना चाहिये तथा इस समानता को ही स्वास्थ्य समझना चाहिये। शरीर के समान हृदय के भी दो किनारे हैं—एक अधिकता और दूसरा न्यूनता। ये दोनों ही निन्द्य है, इनका प्रयोजन तो समानता ही है। जैसे जो व्यक्ति कृपण हो उसे परामर्थ के लिये खूब धन खर्च करना चाहिये। और जब तक उसके हृदय के लिये वह अर्थ-व्यय स्वाभाविक न हो जाय तब तक यत्नपूर्वक खर्च करता रहे। किन्तु जब अधिकारी को धन देना उसके लिये स्वाभाविक हो जाय तब इसकी आवश्यकता भी नहीं है कि व्यर्थ अर्थव्यय किये ही जाय। फिर तो व्यर्थ धन लुटाना निन्दनीय ही होगा। जैसे शरीर के स्वभावो को मर्यादित करने के लिये उनके विपरीत आचरण करना आवश्यक माना जाता है, वैसे ही हृदय के स्वभावो की मर्यादा भी सन्तो के वचनों द्वारा जानी जा सकती है। अतः मनुष्य को सन्तों की आज्ञा के अनुसार वर्तना चाहिये। उन्होंने जिस पदार्थ का संग्रह करने के लिये कहा हो उसका संग्रह करना चाहिये और जिसे देने के लिये कहा हो उसे खुले हृदय से देना

चाहिये। ऐसा करने पर ही मनुष्य समानता को प्राप्त हो सकता है।

किन्तु जब तक इस मनुष्य की शुभ कर्मों में स्वाभाविकी रुचि न हो तब तक यही समझना चाहिये कि यह रोगी है। तथापि यह अच्छी बात है कि प्रयत्नपूर्वक औषधिसेवन कर रहा है, इस लिये एक दिन इसका रोग दूर होकर ही रहेगा। इसी से महापुरुष ने भी कहा कि भगवान् की आज्ञा को प्रीतिपूर्वक स्वीकार करो। उनको आज्ञा का पालन करने में हठ और साहस से काम लेना भी अच्छा ही है। अतः यह बात याद रखो कि जो पुरुष विचार-पूर्वक धनसंग्रह करता है वह भी कृपण नहीं कहा जा सकता। कृपण तो वही कहा जाता है जिसकी प्रीति स्वभाव से ही अर्थसंग्रह में अधिक हो। इसी प्रकार जो पुरुष प्रयत्नपूर्वक अर्थव्यय करता है उसे उदार नहीं कह सकते। वास्तव में सम्पूर्ण उदार तो वही है जिसे धन का देना स्वाभाविक ही सुगम हो। अतः इस पुरुष को यही प्रयत्न करना चाहिये कि इसके सब स्वभाव स्वाभाविक ही शुभ हो जाँय तथा इसका हठ और प्रयत्न दूर हो जाय। इसके स्वभाव की सम्पूर्णता भी यही है कि इसके सब आचरण और स्वभाव सन्तजनों की आज्ञा के अनुसार हों। इसे अपनी अभिलाषा कोई भी न रहे और सन्तों की आज्ञा का पालन इसके लिये सर्वथा सुगम हो जाय। तभी समझना चाहिये कि इसका रोग दूर हुआ है। भगवान् ने भी महापुरुष से यही कहा है कि इन पुरुषों का धर्म तभी सम्पूर्ण होगा जब ये तुम्हारी आज्ञा में प्रसन्नतापूर्वक स्वभाविक ही चलेंगे।

अब आगे जो बात कही जाती है उसमें एक गुप्त भेद है, पर इस ग्रन्थ में उसे पूर्णतया स्पष्ट नहीं किया जायगा, केवल कुछ सूचनामात्र कहेंगे।

यह निश्चय जानो कि यह पुरुष भाग्यवान् तब होता है जब इसका स्वभाव देवताओं के समान निर्मल हो जाता है, क्योंकि

मनुष्य की उत्पत्ति भी देवताओं की भाँति ही शुद्धरूप है। वह इस जगत् में परदेशी की तरह है, इसका अपना स्थान तो देवलोक ही है। इसलिये यदि यह अपने साथ इस लोक का कोई स्थूल स्वभाव ले जाता है तो उसके कारण देवताओं के साथ इसका सम्बन्ध नहीं हो पाता। अब, जब यह पुरुष देवलोक में जाय तो उसे देवताओं के स्वभाव से सम्पन्न होकर जाना चाहिये। इसमें कोई संसारी स्वभाव नही होना चाहिये। जगत् का स्वभाव इस प्रकार समझना चाहिये कि यदि किसी मनुष्य को धनसञ्चय करने की तृष्णा है तो वह धन में रचा-पचा है और यदि धन खर्च करने की विशेष प्रीति है तो भी वह धन में रचा-पचा है। इसी प्रकार जिसे मान की इच्छा है वह लोगों के साथ सश्लिष्ट है और जिसमे दीनता एवं नम्रता का विशेष आग्रह है वह भी लोगों के साथ विशेष रूप से सश्लिष्ट रहता है। किन्तु देवता लोग किसी भी प्रकार धन या लोगों में आसक्त नही होते। वे भगवत्प्रेम मे ऐसे मग्न रहते है कि किसी ओर उनकी दृष्टि ही नहीं जाती। अतः मनुष्य के हृदय का सम्बन्ध भी धन और लोगों की ओर से टूटा हुआ रहना चाहिये। वह इन सभी सांसरिक सम्बन्धों से निर्लिप्त रहना चाहिये। यद्यपि मनुष्य शरीरधारी होने पर उसका इन शरीरसम्बन्धी स्वभावों से सर्वथा मुक्त रहना सम्भव नहीं है, तो भी उसे इनकी मर्यादा और समानता में तो स्थित रहना ही चाहिये। जब यह पुरुष समानता में स्थित होता है तब सभी प्रकार के स्वभावों के बन्धन से मुक्त हो जाता है, किसी भी प्रकार के स्वभाव की इसमें प्रबलता नहीं रहती जैसे कोई भी पुरुष शीत और उष्ण के प्रभाव से सर्वथा मुक्त नहीं रह सकता, किन्तु जब वह समान–भाव में रहता है तब उसके लिये शीत अथवा उष्ण की अधिकता नहीं रहती। तब वह मानों दोनों प्रकार के स्वभावों से मुक्त हो जाता है। देखो, जल यद्यपि गर्मी और सर्दी दोनों से मुक्त कभी नहीं होता तो भी उसे शीतल

या उष्ण कुछ नहीं कह सकते। अतः सन्तजनों ने भी स्वभाव के बन्धन से छूटने के लिये ही स्वभावों की मर्यादा और समानता में रहने का उपदेश दिया है। इसीलिये मनुष्य को चाहिये कि सर्वदा समानता में स्थित रहे और स्वभावों के सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त हो जाय। तभी इसका चित्त निरन्तर श्री भगवान् में लीन रह सकता है। प्रभु ने कहा है कि एकमात्र मेरा स्मरण करो और सब भूल जाओ। बस यही इस सबका बीजमन्त्र है।

किन्तु इस पुरुष का यद्यपि शुद्ध परमपद में स्थित होना कठिन है तथापि इस प्रकार के जप, तप और भजन के अभ्यास का प्रयोजन यही है कि श्री भगवान् के अद्वितीय स्वरूप को पहचाने, सम्पूर्ण पदार्थों में उन्हीं को देखे, उन्हीं को चाहे और उन्हीं का दास हो, और कोई भी इच्छा इसके हृदय में न रहे। जब इस पुरुष की ऐसी स्थिति हो तब समझना चाहिये कि इसे पूर्णतया अच्छे स्वभाव की प्राप्ति हुई है, यह मानुषी स्वभावों से मुक्त हो कर स्व-स्वरूप को प्राप्त हुआ है और इसे प्रभु की भी प्राप्ति होगयी है। यद्यपि इस स्थिति के लिये बड़े प्रबल प्रयत्न और पुरुषार्थ की आवश्यकता है तथा इसका साधन अत्यन्त कठिन है, तो भी यदि इसे सद्गुरुरूप सद्वैद्य प्राप्त हो जाय और वह अच्छी तरह इसका उपचार करे तो इसके लिये भजन में यत्न और पुरुषार्थ करना सुगम हो जाता है। गुरुदेव का अच्छी तरह उपचार करना यही है कि वे जिज्ञासु को आरम्भ में ही तत्त्वज्ञान का उपदेश न करें' क्योंकि उस समय उसमें इतना बल नहीं होता; देखो, जब बालक को आरम्भ में ही पाठशाला भेजा जाता है, उस समय यदि उससे कहा जाय कि विद्या पढ़ने से तुझे महत्ता और मान की प्राप्ति होगी तो वह महत्ता और मान के सुख को कुछ भी नहीं समझ सकता। वह तो जानता ही नहीं कि महत्ता और मान कहते किन्हें है। उससे तो उस समय यही कहना चाहिये कि तू पाठशाला जा,

जब तू वहाँ से लौटकर आयेगा तो तुझे गेंद-बल्ला देंगे अथवा एक बुलबुल चिड़िया देंगे; उनसे तू खूब आनन्द से खेलना। इस लोभ से वह बालक पाठशाला जा सकता है। फिर जब वह कुछ बड़ा हो तब उससे कहे कि यदि तू खेलना छोड़ दे और विद्या पढ़े तो तुझे सुन्दर-सुन्दर वस्त्र देंगे। और जब उससे भी बड़ा हो जाय तब कहना चाहिये कि विद्या पढ़ने से तो तुझे संसार में महत्ता और मान प्राप्त होंगे, सुन्दर वस्त्रों की तू क्यों इच्छा करता है? ऐसे भड़कीले वस्त्र पहनना तो स्त्रियों का स्वभाव है। फिर जब वह पूर्णतया विद्याध्ययन करले और उसकी बुद्धि भी विकसित हो जाय तब उससे कहना चाहिये कि इस जगत् के मान-बड़ाई तो निर्मूल है मृत्यु के साथ ही उनका उच्छेद हो जाता है। इस प्रकार मान-प्रतिष्ठा की ओर से उसका चित्त हटाकर उसे उस अविनाशी और अमरपद का, जो सच्ची बादशाही है, उपदेश करे।

इसी प्रकार जिज्ञासु को भी आरम्भ में शुद्ध निष्कामता का बल नही होता। इसलिये पहले तो गुरुदेव उसे यही उपदेश करे कि तू शुद्ध आचरण रख, आचरण की शुद्धि से तुझे ससार में प्रतिष्ठा प्राप्त होगी और लोग तुझे भजनानन्दी समझेंगे। इस प्रकार प्रतिष्ठा के लोभ से उसे धन और भोगों की तृष्णा से निवृत्त करे। जब उसके हृदय से धन और भोगों की तृष्णा निवृत्त हो जाय और वैराग्य का अभिमान स्फुरित होने लगे तब सद्गुरु उसे भिक्षाटन की आज्ञा देकर उसके इस अभिमान को निवृत्त करे। फिर जब भिक्षाटन के कारण भी संसार उसका मान करने लगे तब गुरुदेव उसे निम्नकोटि की सेवा में लगावे अर्थात् उससे टट्टी या मोरी आदि की सफाई का काम करावे। इस प्रकार जिज्ञासु मे जैसा-जैसा रोग हो वैसी ही उसकी चिकित्सा करे तथा धीरे-धीरे उसके सभी रोगों को निवृत्त कर दे। जब तक जिज्ञासु में त्याग का पूरा बल नहीं होता तब तक वह मान और प्रतिष्ठा के

लोभ से ही भजन-साधन स्वीकार करता है। किन्तु बुरे स्वभाव यदि बिच्छू के समान है तो मान-प्रतिष्ठा की इच्छा साक्षात् अजगर है। वह मान-प्रतिष्ठारूप अजगर सब प्रकार के बुरे स्वभावों को भक्षण कर सकता है और स्वय सबसे पीछे निवृत्त होता है।

(५—मानसी रोग और उनकी चिकित्सा)

शरीर और इन्द्रियों का आरोग्य इस प्रकार जाना जाता है कि जिस कार्य के लिये जो-जो इन्द्रिय रची गयी है। उसी कार्य को वह सावधान होकर निष्पन्न करे, जैसे नेत्र भली प्रकार देखे तथा चरण ठीक तरह से चले, तब समझना चाहिये कि नेत्र और चरण नीरोग है। इसी प्रकार हृदय की नीरोगता तब समझी जाती है जब इस का जो निज–स्वभाव है और जिस निमित्त से जीव को उत्पन्न किया गया है उसी कार्य में यह अनायास सावधान रहे और अपने निज–स्वभाव में दृढ़ता से स्थिर रहे। यह सावधानी दो प्रकार से प्रकट होती है(१)श्रद्धा से और (२)बल से। इसमें ऐसी श्रद्धा होनी चाहिये कि भगवान् के सिवा और किसी में इसकी प्रीति न हो। शरीर का आहार जैसे अन्न है उसी प्रकार भगवान् की प्रीति और पहचान हृदय का आहार होना चाहिये। जिस पुरुष की क्षुधा मन्द होती है वह रोगी माना जाता है। इसी प्रकार जिस मनुष्य के हृदय में भगवान् की प्रीति न हो उसका हृदय रोगी और निर्बल समझना चाहिये। इसी से महाराज ने भी कहा है कि जब तक पुत्र, पिता, धन, व्यवहार और सम्बन्धियों के साथ तुम्हारी प्रीति है तब तक तुम यह जानो कि जब मेरी आज्ञा होगी और तुम्हारी मृत्यु का समय समीप आ जायगा तब तुम बहुत दुःखी होगे। इसके सिवा बल से प्रकट होने वाली नीरोगता यह है कि भगवान् ने इस मनुष्य के लिये जो भी शुभ कर्म कर्तव्यरूप से कहे है उन्हें यह सुगमता से कर सके, उन्हें करने-

में इसे विशेष प्रयास न करना पड़े तथा शुभ कर्मों को करने में ही इसे विशेष रस का अनुभव हो। महापुरुष ने कहा है कि प्रभु का भजन मेरे नेत्रों की पुतली है और मुझे अत्यन्त प्रिय है। इस प्रकार जो पुरुष अपने में श्रद्धा और बल का अभाव देखे उसे समझना चाहिये कि मेरा हृदय रोगी है और जिसने अपने रोग को पहिचाना है उसे उसके उपचार में भी सावधान होना ही चाहिये।

किन्तु बहुत लोग ऐसे भी होते है जिनका हृदय तो रोगी होता है, किन्तु वे अपने को नीरोग ही समझते है। इसका कारण यह है कि यह मनुष्य अपने अवगुणों को देखने में अन्धा होता है, अर्थात यह स्वयं अपने दोषों को नहीं देख सकता। पर जो अपने दोषों को देखना चाहे उसके लिये ये चार उपाय है—

१—उसे ऐसे सद्गुरु के समीप रहना चाहिये जो सब धर्मों के ज्ञाता हों और अपनी कृपा करके उसे उसके दोष दिखा सकते हों। किन्तु ऐसे सद्गुरु इस समय दुर्लभ ही है।

२—अपनी रक्षा के लिये कोई ऐसा मित्र बनावे जो इसके दोषों को छिपावे नहीं और ईर्ष्या करके बढ़ाकर भी न कहे। वास्तव में, ऐसा मित्र भी कोई विरला ही होता है। एक बार दाऊद ताई सत से किसी ने कहा था कि तुम हमारे समीप बैठते क्यों नही हो? तब उन्होंने कहा कि मै ऐसे पुरुषों के पास कैसे बैठूँ जो मेरे अवगुणों को स्पष्ट कह नहीं सकते और उन्हें छिपा लेते है।

३—अपना जो शत्रु हो उसकी बात सुनो, क्योंकि शत्रु की दृष्टि यद्यपि प्रधानतया दोषों पर ही होती है और वह द्वेषवश उन्हें कुछ बढ़ाकर भी कहता है, तथापि उसके कथन में कुछ सत्यता भी रहती है।

४—जब किसी व्यक्ति में कोई दोष दिखायी दे और वह दोष

अपने को बुरा मालूम पड़े तो स्वय उसका त्याग करे और ऐसा समझे कि इस कुलक्षण के कारण जैसे यह पुरुष बुरा जान पड़ता है उसी प्रकार यदि मेरे में यह दोष होगा तो मै भी बुरा दिखायी दूँगा। अतः उसका त्याग ही करना चाहिये। एक बार लोगों ने एक नामी संत से पूछा था कि आपको ऐसा अच्छा स्वभाव कैसे प्राप्त हुआ ? तब उन्होंने कहा कि मुझे ऐसा स्वभाव इस प्रकार प्राप्त हुआ कि जब मै किसी व्यक्ति में कोई दोष देखता था और वह मुझे बुरा मालूम होता था तो मै स्वयं उस दोष को त्याग देता था।

याद रखो, जो पुरुष अत्यन्त मूढ़ होता है वही अपने को विशेष समझता है। बुद्धिमान् पुरुष तो अपने को बुरा ही देखता है। एक बार उमर से एक सन्त ने पूछा था कि महापुरुष ने आप को जो कपटियों के लक्षण बताये है उन्हें तो आप अच्छी तरह जानते ही है। अतः मुझसे स्पष्ट कहिये कि मुझ में उनमें से कौन लक्षण पाये जाते है, जिससे मै अपने दोषों को पहिचान सकूँ। अतः सब लोगों को अपने अवगुणों के पहिचानने का प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि जब तक अपने रोग को नहीं पहचाना जाता तब तक उसका उपचार भी नहीं हो सकता। तथा सम्पूर्ण ओषधियों का मूल तो अपनी वासनाओं से विपरीत होना ही है। प्रभु ने भी आज्ञा की है कि अपने मन को अपनी वासनाओं से विपरीत करो तब उत्तम सुखस्थान में तुम्हारा निवास होगा। महापुरुष ने भी जब युद्ध में मनमुखी लोगों को परास्त किया तो अपने साथियों से कहा था, "अब हम छोटी लड़ाई तो जीत आये, किन्तु एक बड़ी लड़ाई हमारे सामने उपस्थित है।" साथियों ने पूछा, "वह बड़ी लड़ाई क्या है?" तब वे बोले, "मन के साथ युद्ध करना बड़ी लड़ाई है।" साथ ही यह भी कहा कि अपने मन को दुःख से

बचाओ। अर्थात् प्रभु की आज्ञा का उल्लंघन करके मन को उसकी वासना के अनुकूल आहार मत दो, क्योंकि परलोक में यह मन ही तुम्हारा शत्रु होगा और उस समय सब इन्द्रियाँ तुम्हें धिक्कार करेंगी।

सन्त हसन बसरी ने भी कहा है कि बिना जीते हुए मन के समान कोई पशु भी कठोर नहीं है। तथा सन्त सिरींसक्ती भी कहते है कि चालीस वर्ष से मेरा मन मधु के साथ रोटी खाने की इच्छा करता है, पर मैंने अभी तक इसकी बात नहीं मानी। इब्राहीम खवास का कथन है कि मैं एक पहाड़ पर चला जा रहा था। वहाँ मुझे अनार खाने की इच्छा हुई। तब मै अनार तोड़ कर खाने लगा। वह खट्टा निकाला, अतः उसे छोड़ कर मै आगे बढ़ा। कुछ चलने पर मुझे एक मनुष्य पड़ा हुआ मिला, उसे अनेकों मक्खियाँ काट रही थीं। मैंने उसे नमस्कार किया। तब उसने मेरा नाम लेकर मुझे बुलाया। मैंने पूछा कि आपने मुझे कैसे पहचाना ? उन्होंने कहा, "जिसने भगवान् को पहचाना है उससे कुछ भी छिपा नहीं रहता।" तब मैंने उनसे कहा कि मुझे मालूम होता है आप तो भगवान् से मिले हुए है, फिर उनसे ऐसी प्रार्थना क्यों नहीं करते कि ये मक्खियाँ आपको कष्ट न दे, आपसे दूर ही रहें ? वे बोले, "तुम भी तो भगवान् से मिले हुए हो, फिर उनसे ऐसी प्रार्थना क्यों नहीं करते कि यह अनार की अभिलाषा तुमसे दूर ही रहे, क्योंकि इससे तो हृदय को कष्ट पहुँचता है और मक्खियों के कारण केवल शरीर को ही दुःख होता है।"

अतः याद रखो यद्यपि अनार खाना कोई पाप नहीं है, तथापि वासना का भोग चाहे पवित्र हो चाहे अपवित्र समान रूप से निन्दनीय है, क्योंकि यदि मन को पापरहित भोगों से न रोका जाय तो भोगवासना की प्रबलता होने पर यह पाप में भी प्रवृत्त होने लगेगा। इसी से बुद्धिमान् पुरुषों ने पाप रहित भोगों का भी

त्याग किया है। ऐसा प्रयत्न करने पर ही वे वासनाओं से मुक्त हुए है। यही बात सत उमर ने भी कही है कि मैने सत्तर बार पाप-रहित भोगों का त्याग किया है, क्योंकि मुझे भय था कि मेरा मन कहीं पापमय भोगों में प्रवत्त न हो जाय। इसके सिवा यह बात भी है कि जब इस मन की राजसी भोगों में प्रीति होती है तो यह इस संसार को ही स्वर्ग मानने लगता है और मरना इसके लिये अत्यन्त दुःखरूप हो जाता है। इससे इसकी बुद्धि अचेत हो जाती है और यह कुछ भजन-प्रार्थना आदि भी करता है तो भी उसमें इसे कोई रस या आनन्द नहीं आता। अतः इस मन को पापरहित भोगों से भी रोक कर रखा जाय तभी यह निर्बल और अपने अधीन होता है तथा तभी यह इस लोक के सुखों से दूर रह कर परलोक के सुख में श्रद्धा रखता है। जिस समय यह मन दुःख और अधीनता-युक्त होकर भगवान् का नाम लेता है उस समय यह इतना सफल और सरस होता है कि सुख के समय किया हुआ उससे सौ-गुना नामस्मरण भी इसकी बराबरी नहीं कर सकता। यह मन बाज पक्षी के समान है। जब बाज को पकड़ा जाता है तो पहले उसे नेत्र बाँध कर घर में रखते है और प्रयत्न करके उसका उड़ने का स्वभाव छुड़ा देते है। फिर उसे थोड़ा-थोड़ा आहार देते हैं और जब वह पालनेवाले से मेल-मिलाप करने लगता है और उसकी आज्ञा का पालन करता है तो उसे उड़ने का भी अवसर देते है, फिर तो वह प्रेमवश पुनः पालनेवाले के पास ही लौट आता है। इसी प्रकार जब तक मन को सब प्रकार की वासनाओं से दूर न किया जाय तब तक भगवान् में इसका प्रेम नहीं होता। जब तक नेत्र, श्रवण और रसना आदि सभी इन्द्रियों को न रोका जाय तथा भूख, एकान्त-सेवन, जागरण और मौन-व्रत आदि तपस्याओं के द्वारा मन का दमन न किया जाय तब तक भगवान् में इसका प्रेम होना कठिन है। इस प्रकार का प्रयत्न आरम्भ में

मन को बहुत कठिन जान पड़ता है। जैसे कि बालक को माता का दूध त्यागना कठिन होता है, किन्तु जब माता एक बार प्रयत्न करके बालक का दूध छुड़ा देती है तब तो उसका ऐसा स्वभाव हो जाता है कि फिर वह देने पर भी दूध ग्रहण नहीं करता।

तप का लक्षण यही है कि जिस पदार्थ में पुरुष की विशेष प्रीति हो और जिसके मिलने पर इसे अधिक प्रसन्नता होती हो उसी वस्तु को यह त्याग दे तथा जिस स्वभाव की इसमें प्रबलता हो उसी के विपरीत आचरण करे। यही उत्तम प्रकार का तप है। अतः जिस मनुष्य का मान-बड़ाई में विशेष प्रेम हो वह मान का त्याग करे और जिसका धनसंग्रह में विशेष प्रेम हो वह मान का त्याग करे। इसी प्रकार जो व्यक्ति भगवान के सिवा और जिस वस्तु को भी सुख का स्थान समझता हो उसे उसी का त्याग कर देना चाहिये। इसे तो उसी वस्तु से सम्बन्ध जोड़ना चाहिये जो इससे कभी दूर होनेवाली न हो, जो पदार्थ मरने के समय दूर हो जानेवाले है उनका सग तो प्रयत्न करके पहले ही छोड़ देना चाहिये। सो, इसके सर्वदा साथ रहने वाले तो केवल भगवान् ही है और कोई नहीं। ऐसी ही महात्मा दाऊद को आकाशवाणी भी हुई थी कि ऐ दाऊद ! तेरा सङ्गी तो एकमात्र मै ही हूँ। अतः तू मेरे ही साथ मेल कर। तथा महापुरुष ने भी कहा है कि मुझसे भगवान् के एक मुख्य पार्षद ने कहा था कि माया के जिस पदार्थ के साथ तू प्रीति करता है वह निःसन्देह तुझसे दूर हो जायगा।

(६—भले स्वभावों के लक्षण)

भगवान् ने भले स्वभावों का लक्षण करते हुए कहा है कि संसार में ऐसे जिज्ञासु निःसन्देह मुक्त हुए है जिनमें त्याग, भजन और कृतज्ञता आदि गुण थे। साथ ही वे यह भी कहते हैं कि मेरी प्रीतिवाले पुरुष ऐसे होते है जो सब प्रकार के व्यवहारों में धैर्य

के साथ बर्तते हैं। जितने बुरे स्वभाव हैं वे सब कपटियों के ही लक्षण हैं। महापुरुष ने भी कहा है कि प्रीतिमानों की श्रद्धा तो भजन और तप में होती है तथा मनमुखों का लगाव आहार और भोगों में ही दृढ़ होता है। हातिम नाम के संत का कथन है कि गुरुमुख व्यक्ति का हृदय तो विचार और कुतूहल में ही रहता है, किन्तु मनमुखी लोग आशा और तृष्णा में ही फँसे रहते हैं। गुरुमुख सारे संसार की ओर से निराश रहता है, उसे केवल भगवान् की ही आशा रहती है, किन्तु मनमुख सबसे आशा रखता है, वह केवल भगवान् से ही निराश रहता है। गुरुमुख धर्म पर धन को निछावर कर देता है और मनमुख धर्म ही को धन पर वार देता है। गुरुमुख भजन करता है और भगवान् के भय से संयुक्त रहता है, जब कि मनमुख पाप करता है और निर्भय होकर हँसता है। गुरुमुख का प्रेम एकान्त में होता है और मनमुख की प्रीति जगत् के मिल-मिलाप में रहती है। गुरुमुख सुकृत के बीज बोता है फिर भी डरता रहता है कि किसी विघ्न से मेरी खेती नष्ट न हो जाय, तथा मनमुख शुभ बीज बोता ही नहीं तो भी शुभ फल की आशा रखता है। इसके सिवा सन्तजनों ने भले स्वभाव के लक्षण इस प्रकार भी कहे हैं कि मनुष्य को लज्जाशील, निर्दोष और शुभ-चित्तवाला होना चाहिये, वह सत्य बोले, थोड़ा कहे और भजन अधिक करे, निष्पाप और संयमी हो, सबका भला चाहे, सबको सुख दे, दयावान्, गम्भीर, धीर, सन्तोषी, कृतज्ञ, सहनशील और निर्लोभ हो, किसी के प्रति भी दुर्वचन या धिक्कार न कहे, किसी की निन्दा न करे, किसी की बात में छिद्र न ढूढ़े, शुभ वचन बोले, किसी भी कार्य में उतावली न करे, हृदय में क्रोधाग्नि को स्थान न दे, किसी से ईर्ष्या न करे, मस्तक प्रसन्न रखे तथा केवल धर्म के निमित्त से ही मित्रता या शत्रुता अथवा प्रसन्नता या क्रोध करे। याद रखो, स्वभाव की श्रेष्ठता

सहनःशीलता में ही है। देखो, जब महापुरुष को मनमुखों ने दुःख दिया और उनके दाँत तोड़े तब भी उन्होने भगवान् से यही प्रार्थना कि प्रभो ! आप इन पर दया करे, क्योंकि ये मुझे जानते नहीं है।

एक वार इब्राहीम अदहम नाम के संत एक वन में जा रहे थे रास्ते में उन्हे एक सिपाही मिला। उसने पूछा, "तुम कौन हो ?" संत बोले, "मै गुलाम हूँ।" सिपाही ने पूछा, "बस्ती किधर है ?" तब इन्होने एक श्मशान की ओर संकेत कर दिया। सिपाही ने कहा कि मै तो बस्ती पूछता हूँ। फिर भी इन्होंने कहा कि बस्ती तो यही है। इस पर सिपाही ने इनके सिर में लाठी मारी। इससे इनके रुधिर बहने लगा और वह इन्हें घसीटकर बस्ती में ले गया। लोगों ने इन्हें देखकर सिपाही से कहा, "तू मूर्ख है। जानता नहीं, ये संत इब्राहीम अदहम हैं।" तब तो सिपाही घोड़े से उतर कर इनके चरणों में गिर पड़ा और बोला कि मैने भूल से यह अपराध किया, कृपया क्षमा करे। लोगों ने सिपाही से पूछा कि तूने इन्हें क्यों मारा ? वह बोला, "मैने इनसे पूछा था कि तुम कौन हो ? तो ये बोले कि मै गुलाम हूँ।" इब्राहीम ने कहा, "मैने सत्य ही तो कहा था, क्योंकि मै भगवान् का गुलाम हूँ, इसमें कोई सन्देह नहीं।" फिर सिपाही बोला कि जब मैने आपसे पूछा कि बस्ती किधर है तो आपने श्मशान को ही बस्ती क्यों बताया ? इब्राहीम बोले, "यह भी मैने ठीक ही कहा था, क्योंकि लोग नित्यप्रति श्मशान में जाते है, नगर उजड़ते रहते है और श्मशान बसता जाता है। इसलिये यही बस्ती है।" सिपाही ने कहा कि मैने जब आपको मारा था तो आपने हृदय में मेरे प्रति क्रोध किया होगा। इब्राहीम बोले, "मैने तो भगवान् से प्रार्थना करके तुम्हारा हित और कल्याण चाहा था, तुम्हारे प्रति क्रोध नहीं किया।" सिपाही ने पूछा, "आपने मेरा हित क्यों चाहा था ?" सन्त बोले, "मुझे

दृढ़ निश्चय है कि सहनशीलता का बड़ा भारी फल है। अतः जब मैंने समझा कि तुम्हारा दण्ड सहने से मुझे तो फल मिलेगा, परन्तु तुम्हें इस पाप का दुष्परिणाम भोगना होगा तो मैंने तुम्हारे हित के लिये भी प्रार्थना की।"

एक उसमान हैरी नाम के सन्त थे। वे एक बार एक गली से जा रहे थे। इसी समय किसी ने अचानक ऊपर से एक थाल राख उनपर डाल दी। संत अपने वस्त्र झाड़कर प्रभु का धन्यवाद करने लगे। लोगो ने पूछा कि इस समय धन्यवाद का क्या प्रसङ्ग था? वे बोले, "मैं तो अग्नि में जलाये जाने योग्य था, किन्तु प्रभु ने दया करके राख से ही निर्वाह कर दिया। इसी से मैं उनका धन्यवाद करता हूँ।" इन्हीं उसमान हैरी का एक दूसरा प्रसङ्ग इस प्रकार है कि किसी पुरुष ने इन्हें भोजन के लिये निमन्त्रित किया। किन्तु, जब ये उसके घर गये तो उसने परीक्षा करने के लिये इन्हें घर में न घुसने दिया। ये लौट चले तो उसने इन्हें पुकारा और ये तुरन्त लौट आये। उसने इन्हें फिर भीतर जाने से रोका तो ये पुनः लौट चले। इसी प्रकार उसने कई बार इनका निरादर किया। किन्तु जब वह बुलाता तो ये तुरन्त लौट आते थे और जब रोकता तो चल देते थे। अन्त में वह बोला, "महात्मन्! मैं आपकी परीक्षा कर रहा था। आप निःसन्देह बड़े उत्तम संत है।" ये बोले, "भाई! तुमने मेरा जो स्वभाव देखा है वह तो कुत्ते में भी होता है। उसे भी जब बुलाओ तब वह आ जाता है और जब रोको तो चल देता है। अतः इससे मुझ में ऐसी क्या विशेषता हुई?"

एक और सन्त थे। उनका वर्ण अत्यन्त श्याम था। किन्तु वे बड़े महिमाशाली माने जाते थे। जब वे हम्माम पर स्नान के लिये जाते थे तो वहाँ जो सेवक रहता था वह और सब लोगों को अलग कर देता था। इस प्रकार सबसे अलग करके इन्हें

अकेले ही स्नान कराता था। एक दिन जब ये गये तो वह सब लोगों को हटा कर किसी काम से चला गया। इतने ही में एक जङ्गली पुरुष वहाँ आया। उसने इन्हें ही हम्माम का सेवक समझा। वह इनसे तरह-तरह की सेवाएँ कराते हुए वहाँ स्नान करने लगा। ये भी उसके आदेशानुसार सब काम करते रहे। इतने ही में सेवक लौट आया। उसने जब उस जंगली आदमी की आवाज सुनी तो वह सहम गया और भयभीत होकर वहाँ से भागने लगा। सन्त ने उसे ढाढस बँधाते हुए रोका और कहा कि तुम डरो मत, यह आदमी तुमसे कुछ नही कहता, यह तो इस शरीर को ही फटकार रहा है, क्योंकि इसका रग भी तो दासों के समान साँवला ही है।

एक अन्य संत थे, वे सिलाई का काम करके अपना निर्वाह करते थे। एक मनमुखी आदमी उनसे अपने कपड़े सिलवाता और मजदूरी में सर्वदा खोटा रुपया ही देता था। वे उसे लेकर रख लेते थे। एक दिन जब ये किसी काम से बाहर गये हुए थे उसने इनके सेवक को सदा की भाँति खोटा रुपया दिया, किन्तु उसने उसे स्वीकार न किया। जब ये लौटे और उसने इनसे सब हाल कहा तो ये बोले, "तूने रुपया लिया क्यों नहीं, वह तो मुझे सर्वदा ही खोटा रुपया देता है। किन्तु मैंने उससे यह कभी नहीं कहा कि तू मुझे ऐसा सिक्का क्यों देता है? मै तो उसे ले कर धरती मे गाड़ देता हूँ, जिससे कोई दूसरा आदमी उसके कारण ठगा न जाय।"

एक आविस करनी नाम के सन्त थे। वे जब नगर में जाते थे तो बालक उन्हें पत्थर मारते थे। वे इनसे कहते, "भाई, छोटे-छोटे पत्थर मारो, क्योंकि यदि मेरी टाँगों से विशेष रुधिर निकला तो मैं नमाज के समय खड़ा नहीं हो सकूँगा।" इसी प्रकार एक सन्त मार्ग में जा रहे थे। उस समय कोई मूर्ख उन्हें दुर्वचन कहने

लगा। वे चुपचाप चलते रहे और वह भी दुर्वचन कहता उनके साथ-साथ चलता रहा। जब उनके सम्बन्धियों का स्थान समीप आया तो वे खड़े हो गये और बोले, "भाई, तुम्हें जो कुछ कहना है वह यहीं कह लो, क्योंकि आगे मेरे सम्बन्धी रहते हैं। वे तुम्हारी बातें सुनेंगे तो तुम्हें दुःख देंगे।" मलिक दीनार नाम के एक सन्त थे। उनसे एक स्त्री ने कहा, "तुम कपटी हो।" तब वे बोले, "मेरा नाम यही था, पर इस नगर के लोगों को इसका पता नहीं था, अब तुमने इसे प्रसिद्ध कर दिया।"

इस प्रकार यहाँ जो सन्तों के आचरणों का दिग्दर्शन कराया है यही भले स्वभावों का लक्षण है। ये स्वभाव उन्हीं को प्राप्त होते हैं जिन्होंने प्रयत्न करके अपने मन की उच्छृंखल प्रवृत्तियों को रोका है और अपने हृदय को शुद्ध किया है। अतः वे भगवान् के सिवा और कुछ नहीं देखते तथा उन्हें जो कुछ दिखायी देता है उसके प्रेरक वे भगवान् को ही समझते हैं। इसलिये जिस पुरुष को अपने में ऐसे लक्षण दिखाई न दें उसे ऐसा अभिमान नहीं करना चाहिये कि मुझे शुभ स्वभाव प्राप्त हुआ है।

(७—माता-पिता द्वारा बालकों की शिक्षा)

बालक भी माता-पिता के पास भगवान् की धरोहर है। पहले बालक का हृदय मणि के समान स्वच्छ और कोमल होता है। उसे जो कुछ सिखाया जाय उसी को वह ग्रहण कर लेता है। उसका हृदय शुद्ध उर्वरा भूमि के समान होता है। उसमें जो कुछ बोया जाय वही उग आता है। यदि उसमें शुभ बीज बोये जायँ तो इस लोक और परलोक में उसे शुभ की प्राप्ति होती है और माता, पिता तथा गुरु भी उसके पुण्य में भागी होते हैं। और यदि उसके हृदय में अशुभ बीज बोये जायँ तो उसका भाग्य तो विपरीत होता ही है, उसके पाप-कर्मों के कारण उसके माता,

पिता तथा शिक्षक को भी परलोक में उसका दुष्परिणाम भोगना पड़ता है। प्रभु ने भी कहा है कि अपने मन और सम्बन्धियों को नरक की आग से बचाओ। अतः बालकों को स्थूल अग्नि की अपेक्षा भी इस नरकाग्नि से बचाना अधिक आवश्यक है। सो यह तभी हो सकता है जब बच्चों को भगवान् के भय से सयुक्त रखे तथा उन्हें शुभ गुणों की शिक्षा दे। इसके सिवा उन्हें कुसङ्ग से बचावे, क्योंकि सब प्रकार के विघ्न कुसङ्ग से ही उत्पन्न होते है।

पहली बात यह है कि बालक को राजसी भोजन और वस्त्र का स्वभाव न डाले, क्योंकि ये राजसी स्वभाव है और जब इनका अभ्यास पड़ जाता है तो फिर भोगों के बिना रहना कठिन हो जाता है। अतः उचित यह है कि बालक का पालन करने वाली धात्री भी शुद्ध स्वभाववाली हो और वह उसे पवित्र आहार ही दे। बालक जैसा दूध पीता है वैसा ही गुण या अवगुण उसमें आ जाता है। जब बालक की जीभ खुले तो उसे पहले श्री भगवान् का ही नाम सिखावे। इस प्रकार यदि वह बालक बुरे कामों से सङ्कोच करने लगे तब समझना चाहिये कि वह अच्छा बनेगा और उसकी बुद्धि में भी प्रकाश रहेगा। उसके उस सङ्कोच को बढ़ाने का प्रयत्न करे और यदि वह कभी कोई बुराई करे तो उसे दण्ड दे तथा उसे वैसा करने से रोके। बालक में सबसे पहले खाने की ही तृष्णा उत्पन्न होती है, अतः उसे भोजन करने की युक्ति सिखावे। वह युक्ति यह है कि जब वह भोजन करने लगे तो पहले भगवान् का नाम स्मरण करे, धैर्यपूर्वक शान्ति से भोजन करे और किसी अन्य व्यक्ति के भोजन की ओर दृष्टि न डाले। बालक को कभी-कभी रूखी रोटी भी खिलानी चाहिये, जिससे उसका चित्त रसों में विशेष आसक्त न हो। साथ ही, अधिक भोजन के लिये भी निषेध करता रहे। उसे यह बताता

रहे कि अधिक खाना पशुओं और मूर्खों का स्वभाव है। जो बालक धर्मभीरु हों उनकी प्रशंसा करता रहे, जिससे इसके चित्त को भी वैसा ही बनने की प्रेरणा मिले। बालक को स्वच्छ और श्वेत वस्त्र पहनने के लिये ही प्रोत्साहित करे, रङ्गीन और रेशमी वस्त्रों की निन्दा करे और उसे समझावे कि ऐसे टीमटाम के वस्त्र पहनना तो स्त्रियो का काम है अथवा अभिमानी लोग ऐसे वस्त्र पहनते है। शरीर का विशेष शृङ्गार करना तो नाचने वालों या नपुंसकों को ही शोभा देता है, भले आदमी ऐसा कभी नहीं करते। जो बालक रेशमी वस्त्र पहननेवाले या राजसी स्वभाव के हों उनसे अपने बच्चे को दूर रखे, क्योंकि ऐसी सङ्गति से उसकी बुद्धि नष्ट हो जायगी तथा उसमें भोगो की वासना उत्पन्न होगी। जिस बालक की कुसङ्ग से रक्षा नहीं की जाती वह क्रोधी, निर्लज्ज, चोर, झूठा और निर्भीक हो जाता है तथा उसका वह स्वभाव चिरकाल तक दूर नही होता।

फिर जब वह बालक पाठशाला में जाने लगे तो सबसे पहले उसे भगवद्वाक्यों की ही शिक्षा दिलाये तथा उसे सन्तों की रहनी और सन्तो के आचरण का ही इतिहास सुनावे। जिन ग्रन्थो में स्त्रियों के शृङ्गार और स्त्री-पुरुषों के प्रेम की बाते हो उनसे दूर रखे। ऐसे किसी व्यक्ति की सङ्गति बालक को न करावे जो उसे यह समझावे कि इस प्रकार के साहित्य का अध्ययन करने से बुद्धि तीव्र होती है। ऐसा अध्यापक तो असुर के समान है, जो बालक के हृदय में पाप का बीज बोना चाहता है। यदि बालक कोई शुभ कार्य करे अथवा उसमें कोई शुभ गुण प्रकट हो तो उसकी प्रशसा करे और इसके लिये उसे कुछ पारितोषिक भी दे, जिससे उसका उत्साह बढ़े। और यदि उसमें कोई बुराई दिखायी दे तो एक-दो बार तो देखकर भी चुप हो जाय, जिससे वह ढीठ न हो। क्योंकि ढीठ हो जानेपर तो वह खुल्लम-खुल्ला बुराई

करने लगेगा। फिर जब देखे कि बुराई इसमें जड़ पकड़ रही है तो एकान्त में उसे ताड़ना दे और समझावे कि यदि तू फिर ऐसा करेगा और लोग देख लेंगे तो वे तेरा अपमान करेंगे, इसलिये अब ऐसा न करना। पिता को चाहिये कि बालक के चित्त से अपना भय न निकलने दे, अर्थात् पिता के सामने बालक कभी निर्लज्ज होकर न बर्ते। दिन के समय बालक को अधिक न सोने दे। इससे आलस्य की वृद्धि होती है। रात्रि में भी उसे विशेष कोमल शय्या पर न सुलावे। इससे उसका शरीर पुष्ट होगा। दिन के समय उसे दो घड़ी खेलने की भी छुट्टी दे जिससे उसका चित्त हर समय सङ्कोच में ही न रहे। सारे दिन परिश्रम और सङ्कोच में ही रहने से चित्त मूर्छित-सा हो जाता है। बालक को ऐसे स्वभाव की शिक्षा दे कि वह नम्रतासहित सभी को नमस्कार-प्रणामादि करे, किसी दूसरे बालक को व्यर्थ न दबावे तथा किसी से कुछ ले भी नहीं। उसे अपनी नाक और मुँह का मैल किसी के सामने नहीं डालना चाहिये, किसी की ओर पीठ करके नहीं बैठना चाहिये, अपने से बड़ों का भय मानना चाहिये तथा ठोड़ी के नीचे हाथ लगाकर नहीं बैठना चाहिये। यह भी आलसियों का लक्षण है। बालक को चाहिये कि अधिक न बोले, किसी कार्य में भगवान् की शपथ न करे, बिना बुलाये बोले नहीं, अपने से बड़ों का अनादर न करे, कभी उनके आगे न चले तथा दुर्वचन और धिक्कार से अपनी जिह्वा को रोके। यदि अध्यापक कभी दण्ड दे तो उसे सहन करे, किसी से उसका उलाहना न दे, क्योंकि सहन करना पुरुषों का काम है, उलाहना तो स्त्रियाँ दिया करती है।

जब बालक सात वर्ष का हो तो उसे बड़े प्यार से स्नान और भजन करना सिखाये। और जब दस वर्ष का हो तो नियम में व्यतिक्रम करने पर ताड़ना दे। साथ ही उसे चोरी, झूठ और

अशुद्ध आहार की बुराइयाँ भी समझावे। बालक को जब इस प्रकार शिक्षा दी जाती है तो वह किशोरावस्था में ही बड़ी सुगमता से अपनी बुद्धिद्वारा सब प्रकार के आचरणों का भेद समझने लगता है। इस अवस्था में उसे यह बताना चाहिये कि भोजन करने का मुख्य प्रयोजन यह है कि उसके द्वारा मनुष्य को भजन करने की शक्ति प्राप्त हो तथा इस संसारमें जीवित रहने का भी यही प्रयोजन है कि परलोक के मार्ग का तोशा तैयार कर लिया जाय। जीवन बहुत थोड़ा है और मृत्यु इसे अकस्मात् ग्रस लेती है, अतः बुद्धिमान् पुरुष वही है जो इस लोक में परलोक के लिये तोशा तैयार कर ले। इससे उसे उत्तम सुख और भगवान् की प्रसन्नता प्राप्त होती है। इसी प्रकार पुण्य और पाप के द्वारा जो स्वर्ग और नरक अथवा सुख और दुःख प्राप्त होते है उन्हें भी अच्छी तरह बालक की बुद्धि में बिठा दे। इस प्रकार जब आरम्भ से ही बालक को समझा दिया जाता है तो ये बाते उसके हृदय में मूर्त्तरूप धारण करके प्रतिष्ठित हो जाती है। यदि आरम्भ में इनकी शिक्षा नहीं मिलती तो पीछे ये उपदेश दृढ़ नहीं होते, जिस प्रकार कि लौनी मिट्टी की भीत पर किसी भी प्रकार का लेप नहीं ठहर सकता।

इस विषय में सुहेल तस्तरी नाम से एक संत का प्रसङ्ग यहाँ दिया जाता है। उन्होने कहा है कि जब मैं तीन वर्ष का था तो रात्रि मे अपने पिताजी को भजन करते देखता था। एक बार उन्होंने मुझसे कहा कि बेटा! जिस भगवान् ने तुझे उत्पन्न किया है उसका भजन तू क्यों नहीं करता? मैने पूछा कि किस प्रकार भजन करू? तब पिता ने कहा कि रात को सोने के समय तीन बार इस प्रकार कह लिया कर—'भगवान् मेरे साथ है, भगवान् मुझे देखते है और भगवान् मेरे अन्तर्यामी है।" बस, कई रात तक मै नित्यप्रति तीन बार ऐसा कह लिया करता था। फिर पिताजी ने कहा, "अब यही बात सात बार कहा करो।" मै

सात बार कहने लगा। फिर पिताजी ने ग्यारह बार कहने को कहा, तो मैं कुछ समय तक ग्यारह बार कहता रहा। ऐसा करने से मेरे चित्त में इस भजन का कुछ रस आने लगा। इस प्रकार जब एक वर्ष बीत गया तो पिताजी ने कहा कि मैंने तुम्हें जो बात सिखायी है उसे हृदय में खूब पक्का कर लो, इसे मृत्युपर्यन्त भूलना मत, यही भजन इस लोक परलोक में तुम्हारा सहायक होगा। बस, कितने ही वर्षों तक मैं इसी प्रकार कहता रहा। तब मेरे हृदय में इसका कुछ विशेष रहस्य प्रकट हुआ। फिर एक दिन पिताजी ने कहा, "बेटा! भगवान् जिस के साथ हो, जिसके साथ रह कर उसे निरन्तर देखते हों और उसके अन्तर्यामी भी हों वह पुरुष पाप कैसे कर सकता है? अतः तुझे भी पापकर्म कदापि नहीं करना चाहिये।" इसके पश्चात् मुझे पाठशाला भेजा गया। उसी समय मैंने सोचा कि पढ़ाई-लिखाई में पड़ कर मेरा चित्त कहीं बिखर न जाय। अतः मैंने अध्यापक जी से वचन कर लिया कि मैं तीन घड़ी तो पढ़ूगा और पीछे उसी भजन में समय व्यतीत करूँगा। इस प्रकार मैं अध्ययन करने लगा और मैंने सम्पूर्ण भगवद्वाक्य पढ़ लिये। सात वर्ष की आयु होनेपर मैं दिन में तो उपवास करता और केवल रात्रि को भोजन करता। फिर जब बारह वर्ष का हुआ तो मेरे हृदय में एक प्रश्न उठा। उसका उत्तर मुझे उस नगर में कोई न दे सका। तब मैं पिताजी की आज्ञा लेकर बसरा गया। वहाँ भी मुझे किसी से उसका उत्तर न मिला। फिर मैं एक दूसरे नगर में हबीब नाम के एक भजननिष्ठ सत के पास गया। उन्होंने उत्तर देकर मेरे सशय को निवृत्त किया। मैं कई वर्ष उनके समीप रहा और उनके सत्सङ्ग से मुझे बड़ा लाभ हुआ। तत्पश्चात् मैं अपने नगर तस्तर में लौट आया और एकान्त रह कर भजन करने लगा। मेरे भोजन का क्रम इस प्रकार था कि मैं एक दिरम के जौ मोल लेकर एक साल तक उन्हीं को

खाता था। बस, रात्रि के समय थोड़ा-सा भोजन कर लेता था। फिर तीसरे दिन खाने लगा। उसके पश्चात् सातवे दिन और फिर पच्चीसवे दिन भोजन करने लगा। इस अवस्था में मैंने बीस वर्ष व्यतीत किये। उन दिनों सारी रात मैं जागरण करता था।

इस सम्पूर्ण कथा का प्रयोजन यह है कि बाल्यावस्था में जैसा अभ्यास डाल दिया जाता है वही निःसन्देह पुष्ट हो जाता है।

(८—जिज्ञासु के अभ्यास और यत्न की युक्तियाँ)

स्मरण रखो, जिस व्यक्ति को भगवान् के दर्शन नहीं हुए, उसके इस दुर्भाग्य का कारण यही है कि आरम्भ से ही वह भगवत्प्राप्ति के मार्ग में नहीं चला। और उस के इस मार्ग में न चलने का कारण यह है कि उसके चित्त में इस की खोज नहीं हुई। तथा खोज न होने का कारण यह हुआ कि उसे ऐसी समझ ही नही थी और न ऐसा दृढ़ विश्वास ही था। परलोकमार्ग में तो उसी व्यक्ति की श्रद्धा होती है जिसने यह जाना हो कि इस लोक के सुख दुःखदायक एव नाशवान् है तथा परलोक का सुख ही नित्य और निर्मल है, क्योंकि मनुष्य के लिये निम्न कोटि के सुख को त्यागकर उत्तम कोटि के सुख की ओर प्रवृत्त होना कठिन नहीं होता है। अतः निश्चय हुआ कि मनुष्य जो परलोकमार्ग से विमुख है उसका कारण उसमें श्रद्धा-विश्वास की न्यूनता ही है। यह श्रद्धा-विश्वास की कमी इस लिये है कि इस समय सच्चे विचारवान् और विरक्त महात्मा बहुत दुर्लभ है, जिनके उपदेश और सत्संग से जीवों की धर्मपथ में प्रवृत्ति हो। इसी से संसारी जीव आत्मकल्याण से विमुख रहते है। आज-कल जो विद्वान् पुरुष मिलते है, उनके ऊपर भी माया का ही अधिकार रहता है और वे वैराग्य से रहित होते है। भला, जो पुरुष स्वय माया के चगुल में फँसा हुआ हो वह अन्य जीवों से माया का त्याग कैसे करा

सकता है तथा लोगों के चित्त पर उसके उपदेश का प्रभाव भी कैसे पड़ेगा, जिस से कि वे परलोक के मार्ग में प्रवृत्त हों ? परलोक और इस लोक के मार्गों में तो परस्पर ऐसा ही विरोध है जैसा पूर्व और पश्चिम दिशाओं में ।

अतः जिस पुरुष के चित्त में भगवान् की श्रद्धा प्रकट होती है उसकी तो वैसी ही अवस्था होती है जैसी ऊपर छठे विभाग में वर्णन की जा चुकी है । प्रभु ने भी कहा है कि वही पुरुष धर्मात्मा है जिस के हृदय में परलोक के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हुई है और जो उस के लिये प्रयत्न तथा आचरण करता है । यहाँ प्रभु ने जो यत्न करने की बात कही है, सो यह भी जानना चाहिये कि वह प्रयत्न क्या है । अब आगे नवे विभाग में हम उसी का वर्णन करते है ।

(९—धर्ममार्ग के प्रयत्न की युक्तियाँ)

धर्ममार्ग में चलने का उद्योग करना—यही धर्ममार्ग का प्रयत्न कहा जाता है । इस विषय में ऐसी कई युक्तियाँ है जिन्हें जान लेने पर जिज्ञासु धर्ममार्ग में चलने का अधिकारी होता है । यह सब करते हुए भी उसे अपनी रक्षा करनेवाले सद्गुरु देव का भरोसा रखना चाहिये और दृढ़तापूर्वक उनका अञ्चल पकड़ना चाहिये । सद्गुरु एक कोट (किले) के समान हैं, जिनकी ओट में जिज्ञासु को स्थित रहना चाहिये ।

ऊपर जो हमने कहा है कि धर्ममार्ग में चलने की अनेकों युक्तियाँ है, सो उनमें पहली युक्ति तो यह है कि भगवान् और इस जीव के बीच में जो पर्दे और आड़ है उन्हें दूर करे, जिससे उसकी गणना मनमुखी पुरुषों में न हो । भगवान् ने कहा है कि मैंने मनमुखों के आगे–पीछे पर्दे डाल दिये है, अर्थात् उन्हें अपने से अलग कर दिया है । ऐसे पर्दे चार है, जिनके कारण जीव भगवान् से बिछुड़ा हुआ है—(१) धन, (२) मान, (३) वेष और

(४) पाप। धन में चित्त आसक्त हो जाता है, इसलिये इसे पर्दा कहा है। जब तक चित्त असंग और निःसंकल्प न हो तब तक वह धर्ममार्ग में चल नहीं सकता। अतः उचित यही है कि विशेष धन-संग्रह त्यागकर केवल निर्वाहमात्र के लिये ही रखे और उसमें भी चित्त को आसक्त न करे। यदि यह पुरुष संग्रह न करे, आकाशी वृत्ति से ही अपनी जीविका चलावे तब तो यह सुगमता से ही धर्म-मार्ग में चलने लगता है। दूसरा पर्दा है मान का। उसे इस प्रकार दूर करे कि जहाँ इसका विशेष आदर या मान हो उस स्थान को त्याग दे और ऐसे स्थान में चला जाय जहाँ इसे कोई जानता ही न हो। इस पुरुष को जब संसार में मान प्राप्त होता है तो इसकी संसार में आसक्ति हो जाती है। और जिसे संसार मे मिलने-जुलने से सुख अनुभव होने लगता है वह भगवान् को कभी प्राप्त नहीं कर सकता। तीसरा पर्दा वेष का कहा गया है। इसका कारण यह है कि जो पुरुष देखा-देखी किसी मत या पन्थ को ग्रहण कर लेता है वह दूसरों के मत का खण्डन करने लगता है और अपने मत की पुष्टि। ऐसे पुरुष के चित्त में सच्ची बात प्रवेश नही कर सकती। अतः उचित यही है कि जितने मत और पन्थ है उन सभी को भूल जाय और भगवान् की अद्वितीयता में विश्वास करे तथा उस एकता में ही चित्त को दृढ़ करे। उस एकता की दृढ़ता का लक्षण यह है कि भगवान् के सिवा और किसी का भरोसा न करे और न किसी के अधीन हो। जो पुरुष अपने मन की वासना के अनुकूल चलता है वह तो वासना का ही दास है और वासना ही उसका भगवान् है। अतः जिस पुरुष ने जाना है कि भगवान् एक है और उसी की आज्ञा में चलना मुख्य कर्त्तव्य है वही पुरुष अपनी मुक्ति का प्रयत्न करता है और जगत् के वाद-विवादों से दूर रहता है। चौथा जो पाप का पर्दा कहा है वह जीव का बड़ा कठिन व्यवधान है, क्योंकि जिस पुरुष के स्वभाव में पाप कर्मों को

दृढ़ता हो जाती है उसका हृदय अन्धकार से मलिन हो जाता है और हृदय मलिन हो जाने पर भगवान् की प्रत्यक्षता नहीं भासती। अतः अशुद्ध जीविका भी पाप ही है। शुद्ध जीविका से चित्त ऐसा शुद्ध हो जाता है कि वैसा और किसी साधन से नहीं होता। अतः तप का मूल यही है कि अशुद्ध आहार का त्याग करे और अपनी जीविका शुद्ध रखे।

इसके विपरीत जो पुरुष यह चाहता है कि सन्तजनों का जसा सदाचार बताया गया है वैसा आचरण किये बिना ही मेरे सामने गुह्य भेद खुल जायँ वह तो उसी पुरुष के समान है जो बिना पढ़े लिखे ही शास्त्रों के अर्थ का ज्ञाता बनना चाहता हो। परन्तु ऐसा होना तो किसी प्रकार सम्भव नहीं है। अतः जिसने उपर्युक्त चार पर्दे दूर किये है वही भजन का अधिकारी होता है। इसके पश्चात् जिज्ञासु को गुरु की आवश्यकता होती है, क्योंकि गुरु के बिना जीवों को धर्म का मार्ग नहीं खुलता। भगवान् का मार्ग अत्यन्त गुह्य है और ससार का मार्ग सर्वदा प्रकट है। इसके सिवा सच्चा मार्ग एक है और झूठे पन्थ अनेक हैं। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि सद्गुरु के बिना सच्चा मार्ग प्राप्त नहीं होता। सो, जिज्ञासु को चाहिये कि यदि सद्गुरु का साथ प्राप्त हो जाय तो अपने सब कार्य उन्हीं को सौप दे और अपनी बल-बुद्धि का भरोसा न करे। जब सद्गुरु इसे कोई आज्ञा करे और इसे उसमें कोई सन्देह हो तो यही समझे कि यह मेरी ही बुद्धि की मलिनता है, मेरा कल्याण तो गुरुदेव की आज्ञा का पालन करने में ही है। यदि फिर भी इसके चित्त में सन्देह हो तो अपने पूर्ववर्ती जिज्ञासुओं की गुरुनिष्ठा का विचार करके जिस प्रकार उन्होंने अपने सन्देहों की निवृत्ति की थी उसी प्रकार स्वयं भी अपना समाधान करे। यह बात स्मरण रखे कि सन्तजनों ने उस भेद को समझा है जिसे जिज्ञासु अपनी बुद्धि के द्वारा

नहीं पा सकते । जैसे जालीनूस नाम का एक बड़ा वैद्य हुआ है। एक बार एक पुरुष के दाहिने हाथ की अँगुली में पीड़ा हुई। तब और सब वैद्यों ने तो उस अँगुली पर ही औषधि लगायी। किन्तु इससे वह पीड़ा दूर न हुई । वही रोगी जब जालीनूस के पास आया तो उसने बाये कन्धे पर औषधि लगायी । इससे अन्य वैद्यों ने तो उसका उपहास ही किया, किन्तु उसकी पीड़ा दूर हो गयी । जालीनूस ने विचार किया था कि इस अँगुली का रोग नाड़ी के मूल से उठा है और सब नाड़ियाँ पीठ एव मस्तक से निकल कर सारे शरीर में फैलती है तथा दायी ओर की नाड़ियाँ बायीं ओर और बायीं ओर की नाड़ियाँ दायीं ओर जाती है । इसी से दायीं अँगुली की पीड़ा निवृत्त करने के लिये उसने बाये कन्धे पर ओषधि लगायी । इस भेद को दूसरे वैद्य समझते नही थे, अतः वे असफल रहे । इस दृष्टान्त का तात्पर्य यही है कि किसी भी प्रकार जिज्ञासु को गुरुदेव की आज्ञा में ही चलना चाहिये, उसमें अपनी बात मिलाकर कोई सन्देह नही करना चाहिये ।

एक सन्त का कथन है कि जब मै सद्गुरुदेव के समीप रहता था तब मैने एक स्वप्न देखा और वह श्रीगुरु महाराज को सुनाया। उसे सुनकर वे चित्त में मुझसे रुष्ट हो गये और एक मास तक मेरे से बोले नहीं । मै इसका कोई कारण न समझ सका । एक दिन उन्होने कहा कि तूने मुझे जो स्वप्न सुनाया था उसमें मैने तेरे से कोई काम करने के लिये कहा था । उस पर तूने मुझसे यह शंका की थी कि आप मुझसे यह काम क्यों कराना चाहते है ? इससे मैने समझा कि जब जाग्रत में ही तू मेरी आज्ञा में सन्देह करता है तो स्वप्न में तुझे उसमें सन्देह क्यों न होगा ? अतः तेरे चित्त में यह भाव पुष्ट करने के लिये कि किसी भी अवस्था में तुझे मेरी आज्ञा में सन्देह नही करना चाहिये मै रुष्ट हो गया था । सो जब जिज्ञासु सब प्रकार गुरुदेव की आज्ञा मानने में

तत्पर रहता है तब वे उसे कोट में स्थित करते हैं, जिससे उसे किसी प्रकार के विघ्न से बाधा न हो। उस कोट की चार भीतें है–(१) मौन, (२) क्षुधा, (३) एकान्त और (४) जागरण। इनमें क्षुधा के द्वारा भोगों का बल क्षीण होता है, जागरण से हृदय उज्जवल होता है, मौन से वाद-विवादजनित विक्षेप की निवृत्ति होती है और एकान्त से जगत के संसर्ग का कुसग और अन्धकार दूर होता है तथा नेत्र और श्रवण इन्द्रियों का भी संयम होता है। इस विषय में सुहेल नामक सत का भी कथन है कि पहले जो संत हुए है वे इन चारों लक्षणों से सम्पन्न ही हुए हैं। जब जिज्ञासु स्थूल मार्ग में भटकने से रुक जाता है तो सूक्ष्म मार्ग में जाने से पहले उसे कुछ घाटियाँ पार करनी पड़ती है। चित्त में जितने मलिन स्वभाव हैं वे ही सब घाटियाँ है; जिस प्रकार धन और मान की तृष्णा, भोगो की वासना, दम्भ, अभिमान एवं ऐसे ही अन्य मलिन स्वभाव। ये सब अशुभ आचरणों के बीज हैं। अतः इन्हें दूर कर देना चाहिये, क्योंकि इन्हीं के कारण चित्त स्थूल पदार्थों में भटका करता है। जब इन्हें दूर कर दिया जायगा तो चित्त शुद्ध हो जायगा। अतः सम्पूर्ण अशुभ वासनाओं को नष्ट कर फिर जैसा गुरुदेव का आदेश हो उसी के अनुसार पुरुषार्थ करना चाहिये। सम्पूर्ण जीवों का अधिकार भिन्न-भिन्न होता है और यह जीव स्वयं अपने अधिकार को जान नहीं सकता, इसलिये सद्गुरु की आज्ञा का अनुसरण करने से ही इसका हृदय शुद्ध हो सकता है।

इस प्रकार जब हृदयभूमि शुद्ध हो जाय तब उसमें भगवान् का भजन-रूप बीज बोना चाहिये। पहले सब संकल्पों को त्याग कर एकान्त में बैठे और मन एव जिह्वा से निरन्तर भगवान् का नाम उच्चारण करे। फिर जब जिह्वा का बोलना बन्द हो जायगा तो मन ही मन नाम का स्फुरण होता रहेगा। इसके पश्चात् मन

भी स्थिर हो जायगा और नाम का अर्थ हृदय मे भासने लगेगा। उस अर्थ का स्वरूप यह कि उसमें वाणी की गति नहीं है। मन में स्मरण भी वाणी और अक्षरो के द्वारा ही होता है, अतः ये वाणी और अक्षर उस अर्थ–रूप फल को केवल त्वचा के समान ही है। अतः उचित यही है कि नाम का अर्थ ही हृदय मे स्थिर हो जाय और वह इतना स्वाभाविक हो कि उसमें मन को किसी प्रकार का प्रयत्न न करना पड़े। उस अर्थ–रूपी कमल का यह मन भ्रमर हो जाय। अर्थात् प्रयत्न करने पर भी यह उससे दूर न हो सके। शिवली नाम के सन्त ने अपने पास आनेवाले एक जिज्ञासु से कहा था कि यदि तुम मेरे पास आओ और तुम्हारे चित्त में भगवान् के सिवा कोई अन्य संकल्प भी रहे तो तुम्हारा यहाँ आना व्यर्थ होगा।

जिज्ञासु जब सकल्परूपी काँटो से हृदयभूमि को शुद्ध कर लेता है और उसमें नाम-रूपी बीज बो देता है तब आगे इसके प्रयत्न का बल काम नही देता। फिर तो इसे भगवत्कृपा का ही आश्रय लेना चाहिये और यह प्रतीक्षा करनी चाहिये कि देखे इस बीज का क्या फल होता है। अधिकतर तो यह बीज निष्फल नहीं होता। प्रभु ने भी कहा है कि जो पुरुष परलोक के लिये बीज बोता है उसे मै निःसन्देह बहुत फल देता हूँ। किन्तु जब जिज्ञासु इस अवस्था में पहुंचता है तो कभी–कभी ऐसा भी होता है कि उसके हृदय में मिथ्या संकल्प फुरने लगते है। हाँ, सबके साथ ऐसा नहीं होता। जिनका हृदय शुद्ध होता है उन्हें तो देवताओं और ईश्वर के रूप प्रत्यक्ष भासने लगते है। कभी उनके दिव्य रूप स्वप्न में प्रकट होते है और कभी प्रत्यक्ष भासते है। ऐसी–ऐसी अवस्थाएँ प्रकट होती है कि जिनका वर्णन नहीं किया जा सकता और न उनका वर्णन करने से कोई अर्थ ही सिद्ध होता है। कल्याण तो धर्ममार्ग में चलने से होता है,

उसकी बातें करने से तो लक्ष्य पर पहुँचा नहीं जा सकता। अतः जिज्ञासु की भलाई इसी में है कि इस अवस्था के ऐश्वर्यों को पहले ही न सुने, क्योंकि उनकी आशा से भी व्यर्थ विक्षेप ही होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि ऐसी अवस्था के विषय में जिज्ञासु को सन्देह नहीं होना चाहिये। यों तो अनेकों पण्डित भी ऐसे होते है कि इस अवस्था की प्राप्ति मे उन्हें विश्वास नहीं होता। अतः जिस अवस्था का मैने वर्णन किया है उसमें जिज्ञासु को सन्देह न करके श्रद्धा–विश्वास ही करने चाहिये।

दूसरी किरण

अति आहार और कामवासना का निषेध

(आहारसंयम की प्रशंसा और उसके लाभ)

यह उदर एक सरोवर की तरह है। अर्थात् जैसे सरोवर से अनेकों प्रवाह निकलते हैं उसी प्रकार उदर से ही समस्त इन्द्रियों को शक्ति प्राप्त होती है, जिससे कि वे अपने-अपने विषयों को ग्रहण करती है। इससे निश्चय होता है कि सभी जीवों पर आहार का बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। इसीसे जब उदर का पूर्णतया पोषण होता है तो काम (भोग) की अभिलाषा उत्पन्न होती है और उसकी पूर्ति तभी हो सकती है जब धन का संग्रह हो। धन-प्राप्ति के लिये ईर्ष्या, शत्रुता, क्रोध, कपट और अभिमान आदि अनेकों अवगुणों को आश्रय देना होता है। अतः आहार की अधिकता में आसक्त होना सब प्रकार के पापों का मूल है। तथा आहार का संयम करना सारे शुभ गुणों का कारण है। अतः अब मैं इस विषय का पृथक्-पृथक् विवेचन करूँगा।

महापुरुष ने कहा है कि भूख और प्यास को अङ्गीकार करके अपने मन के साथ युद्ध करो। इससे तुम्हें उत्तम फल प्राप्त होगा। भगवान् की दृष्टि में तो सयम से बढ़कर और कोई आचरण नहीं है। अतः जो पुरुष अपने उदर का विशेष पोषण करता है उसके लिये सूक्ष्म देश का मार्ग नहीं खुलता। एक बार किसी ने महापुरुष से पूछा था कि उत्तम पुरुष कौन है? तब उन्होंने

कहा था कि जिस पुरुष का आहार संयमित हो, वाणी भी संयत हो, जो केवल शरीर ढकने के उद्देश्य से वस्त्र धारण करता हो और इसी में सन्तुष्ट भी हो वही अति उत्तम पुरुष है। साथ ही यह भी कहा है कि आहार और वस्त्रों को संयमसहित स्वीकार करना भी महापुरुषों का ही लक्षण है। तथा ऐसा भी कहा है कि जिस पुरुप का आहार सयमसहित है और हृदय विचार के अभ्यास में तत्पर है वह भगवान् का अत्यन्त प्रिय होता है। इसके विपरीत जिसके आहार और निद्रा मर्यादा से अधिक होते है वह तो भगवान् से विमुख रहता है। महापुरुषों का कथन है कि अपने हृदव को मृतक न करो। सो, आहार की अधिकता से ही हृदय मृतक होता है, जैसे कि जल की अधिकता होनेपर खेती मर जाती है। अत. शरीर के निर्वाह के लिये स्वल्प आहार ही सुखदायक होता है। अधिक आहार की तृष्णा से तो अनेक प्रकार की मलिनता ही उत्पन्न होती है। इसलिये इतना ही आहार करना चाहिये जिसमें जल, श्वास और भजन के अवकाश में कोई बाधा न आवे। इसी पर ईसा नाम के महापुरुष ने भी कहा है कि यदि तुम अपने शरीर को भूखा और नंगा रखोगे तो निःसन्देह तुम्हें भगवान् के दर्शन प्राप्त होंगे। तथा महापुरुष ने भो कहा है कि जिस प्रकार शरीर में रुधिर भरपूर है उसी प्रकार उसमें सर्वत्र मन की चंचलता भी व्याप्त है। अतः भूख के द्वारा उस चपलता के वेग को रोको, इससे स्वाभाविक ही मन का निग्रह हो जायगा। जैल नामक सन्त कहते हैं कि तुम ऐसा भय कदापि न करो कि हम भूखे रहेगे। इस प्रकार का भय करना अत्यन्त अनुचित है, क्योकि भगवान भूख और अपमान तो अपने अत्यन्त प्रिय भक्तों को देते है। अथवा जो जिज्ञासु होते है उन्ही के लिये ऐसे दुःख भेजते हैं। तुम्हारे जैसे अभागे जीवों को भला इस पद की प्राप्ति कैसे हो सकती है? तात्पर्य यह है कि सब सन्तों ने विचार कर

यही निश्चय किया है कि इस लोक और परलोक में सुख देनेवाला संयम के समान और कोई साधन नहीं है तथा अधिक आहार के समान कोई दुःखदायी भी नहीं है।

परन्तु जैसे औषध की कटुता ही औषध का लाभ नहीं है, उसी प्रकार संयम के द्वारा जो शरीर को कष्ट होता है वही संयम का लाभ नहीं है। आहार के संयम से मनुष्य को दस लाभ होते हैं। उनका विवरण इस प्रकार है—

१. सयम के द्वारा हृदय शुद्ध और उज्ज्वल होता है तथा आहार की पुष्टि होने से हृदय मलिन हो जाता है। उस समय यदि वह कोई विचार करने लगता है तो ऐसा विक्षिप्त हो जाता है कि उसकी बुद्धि बिखर जाती है और कुछ का कुछ विचार करने लगती है। इसी पर महापुरुष ने कहा कि अपने हृदय को प्रीति और मौन से सजीव अर्थात् चैतन्य करो तथा सयम के द्वारा उसे शुद्ध करो। साथ ही, यह भी कहा है कि सयमी पुरुष का हृदय उज्ज्वल होता है तथा उसके विचार की वृद्धि होती है। इस विषय में शिवली नाम के सन्त का भी कथन है कि मै जिस दिन आहार का सयम करता हूँ उस दिन मेरे हृदय में नवीन विचार और अनुभव की युक्ति अवश्य ही खुलती है।

२. सयम के द्वारा मनुष्य भजन और प्रार्थना का रहस्य प्राप्त करता है और आहार की पुष्टि होने पर हृदय कठोर हो जाता है। ऐसी स्थिति में भजन करने पर भी उसमें कोई रस या आनन्द नहीं आता। इसी से जुनेद नाम के सन्त ने भी कहा है कि जिसका उदर आहार से भरपूर है उसको भजन और प्रार्थना का आनन्द प्राप्त नही होता।

३. सयम के द्वारा दीनता और नम्रता प्राप्त होती है तथा आहार की पुष्टि से असावधानी और प्रमाद बढ़ते है। यह प्रमाद ही नरक का द्वार है, क्योंकि जब तक यह पुरुष अपने को दीन और अधीन

नही देखता तब तक भगवान् की सामर्थ्य और पूर्णता को अनुभव नही कर सकता। इस विषय में यह बात प्रसिद्ध है कि जब महा-पुरुष को भगवान् की ओर से सारी पृथ्वी के खजाने समर्पित किये गये और यह आज्ञा हुई कि तुम इन्हें स्वीकार करो तब उन्होने प्रार्थना की कि मुझे इन पदार्थों की कोई अभिलाषा नही है, मैं तो यही चाहता हूँ कि कभी आहार मिल जाय और कभी भूखा ही रह जाऊँ तो अच्छा है, क्योंकि भूखा रहने पर धैर्य और सहनशीलता का अभ्यास होगा तथा आहार मिलने पर आपका उपकार सामने आयेगा।

४. जिसे क्षुधा रहती है उसे क्षुधापीडितों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न होती है। जो व्यक्ति खूब खाता-पीता है वह भूखो और अभावग्रस्तों को भूल जाता है तथा उसे परलोक के दुःखो का भी स्मरण नही रहता। किन्तु जो भूखा रहता है उसे परलोक के दुःखों का भी स्मरण रहता है और उनका स्मरण रहना तथा दुखियो पर दया करना ये परम सुख के साधन है। एक बार किसी ने यूसुफ नाम के महापुरुष से पूछा था कि भगवान् ने आपको सारे संसार के भण्डार सौंप रखे है, फिर भी आप भूखे क्यों रहते हैं? इस पर उन्होंने कहा था कि पेट भर जाने से यदि मैं भूखे याचकों को भूल जाऊँगा तो मेरी बड़ी हानि होगी। इसीसे मैंने संयम और भूख को अङ्गीकार किया है।

५. मन का निग्रह सम्पूर्ण शुभ गुणो का मूल है तथा मन के वशीभूत होना बड़ा भारी मन्द भाग्य है। जैसे कठोर प्रकृति का पशु बिना भूख कोमल नहीं होता वैसे ही मन भी संयम के बिना अपने अधीन नही होता। अतः मन को भोगों से वञ्चित कर देना ही परम लाभ है, क्योंकि पापों का मूल भोग है और भोगों का मूल आहार की पुष्टि है। जुलनून नामी सन्त ने कहा है कि जिस दिन मैंने अघाकर भोजन कर लिया उसी दिन निःसन्देह मुझसे

कोई पाप बना, अथवा पाप का संकल्प ही हो गया । यह बात प्रसिद्ध है कि आहार का संयम होने पर व्यर्थ वचन और काम की प्रबलता दूर हो जाती है और जो पुरुष आहार का संयम नहीं करता उस पर वाद-विवाद, निन्दा-स्तुति अथवा काम आदि दोषों का आक्रमण हो जाता है। यदि कोई प्रयत्न करके अन्य इन्द्रियो को विकार से रोक भी ले तो भी नेत्रों को तो नहीं रोक सकता। और यदि नेत्रों को भी रोक ले तो भी चित्त के संकल्पों को रोकना तो सर्वथा असम्भव ही है। किन्तु सयम करने पर स्वभाव से ही नेत्र तथा सम्पूर्ण इन्द्रियाँ निर्बल हो जाती है।

६. आहार का संयम होने पर निद्रा भी कम हो जातो है। रात्रि का जागरण ही भजन, ध्यान और विचार का बीज है। किन्तु जो पुरुष अपने उदर को पुष्ट करता है वह तो निद्रा के वेग से मृतक के समान हो जाता है। उसे स्वप्न भी अच्छे नहीं होते, सन्तों ने कहा है कि आयु ही मनुष्य की पूँजी है और एक–एक श्वास रत्न के समान है, क्योंकि आयु होने पर ही वह परलोक का परम सुख प्राप्त कर सकता है। किन्तु अधिक सोने से आयु क्षीण हो जाती है और संयम करने पर निद्रा का वेग क्षीण हो जाता है। अतः संयम ही उत्तम साधन है। आहार की पुष्टि होने-पर तो स्वप्न में भी कामादि विकार छल लेते है। उससे भी मन और शरीर मलिन हो जाते है, जिससे कि यह फिर भजन में तत्पर नही रह सकता।

७. सयमी पुरुष का समय कभी व्यर्थ नहीं बीतता तथा उसे व्यावहारिक विक्षेप भी बहुत कम होता है। जिस मनुष्य को खाने-पीने की विशेष तृष्णा होती है उसकी आयु का बहुत अधिक समय भोजन-सामग्री के जुटाने में ही बीत जाता है तथा वह सर्वदा अपने शरीर के पालन-पोषण की खटपट में ही लगा रहता है। आयु को ऐसी व्यर्थ चेष्टा में खोना बड़ी मूर्खता की बात है,

इसीसे अनेकों जिज्ञासु तो जौ के सत्तू खाकर सन्तोष कर लेते थे और सब प्रकार के जंजालों से मुक्त हो जाते थे। एक सन्त का कथन है कि अधिक आहार करने से छः गुणों का नाश होता है—(१) भजन का रहस्य अनुभव नहीं होता, (२) दूसरी बातों का स्मरण नहीं रहता, (३) दयाधर्म में कमी आ जाती है, (४) आलस्य बढ़ जाता है, (५) भोगों की आसक्ति बढ़ जाती है तथा (६) सर्वदा खाने और मल त्यागने की ही खटपट लगी रहती है।

८. जो संयम रखता है उसका शरीर नीरोग रहता है और वह वैद्यों की अधीनता तथा औषधियों की कटुता से मुक्त हो जाता है। आचार्यों और वैद्यों ने तो यही सिद्धान्त निश्चय किया है कि सम्पूर्ण रोगों का कारण आहार की अधिकता ही है और जिस क्रिया में सभी को लाभ है एवं किंचिन्मात्र भी दोष नहीं है वह आहार का संयम ही है। एक और बुद्धिमान् ने कहा है कि सब आहारों में अनार अत्यन्त पथ्य है और कठोर अन्न अत्यन्त कुपथ्य। परन्तु यदि कोई व्यक्ति अनार ही अधिक खाय तो वह कष्ट पायेगा और यदि कठोर अन्न भी स्वल्प मात्रा में ले तो स्वस्थ रहेगा।

९ संयमी पुरुष का निर्वाह थोड़ी जीविका से भी हो जाता है, वह धन की विशेष तृष्णा से मुक्त रहता है। ससार में सारे विध्न, पाप और विक्षेप तो तृष्णा से ही होते हैं क्योंकि जिसे तरह-तरह के रस और अधिक भोजन की अभिलाषा होती है उस की सारी आयु धनोपार्जन में ही बीतती है और धन का उपार्जन पाप के बिना होना कठिन है। इस विषय में एक बुद्धिमान् का कथन है कि मैं तो अपनी अभिलाषाओं को इस प्रकार पूर्ण करता हूँ कि मैं पहले ही उनकी वासना को त्याग देता हूँ। इसी से मैं तो निश्चिन्त और बड़े आनन्द में रहता हूँ।

१०. संयमी पुरुष का हृदय बड़ा उदार होता है, क्योंकि उसका

ऐसा निश्चय रहता है कि जिस पदार्थ से भी उदर–पूर्ति की जाती है वह तो मलिनता को ही प्राप्त होता है और भगवान् के लिये दान कर दिया जाता है वह निःसन्देह प्रभु के कर-कमलों में पहुँच जाता है। कहते है, एक बार महापुरुष ने किसी धनवान् को देखा, उसका शरीर बहुत स्थूल था। उसे देखकर वे कहने लगे कि जितना पदार्थ तूने पेट में डाला है वह यदि भगवान् को दे देता तो बहुत अच्छा होता।

(आहारसंयम की युक्ति)

जिज्ञासु को चाहिये कि पाप से रहित आहार ग्रहण करे तथा जैसे आहार की अधिकता दोषावह है वैसे ही अकस्मात् आहार कम कर देना भी अच्छा नहीं। उचित यह है कि धीरे-धीरे आहार को घटावे। क्रम से आहार को कम किया जायगा तो शरीर भी सुखी रहेगा। उत्तम पुरुषों की अवस्था तो यह है कि वे प्राणो के निर्वाह के लिये ही आहार ग्रहण करते है। किन्तु आहार की न्यूनाधिकता के विषय में भी भिन्न-भिन्न शरीरों का उनके समय और कार्य के अनुसार भिन्न-भिन्न ही अधिकार होता है। अतः सब बातों का तात्पर्य यही है कि बहुत डटकर भोजन न करे, थोड़ी क्षुधा शेष रहने दे। इस क्षुधा का लक्षण यह है कि भोजन कर चुकने पर भी इतनी भूख रह जाय कि रूखा भोजन भी ग्रहण किया जा सके। इसी से सुहेल नामी संत ने कहा है कि यदि सारा संसार पापमय हो जाय तो भी भगवत्प्रेमियों को शुद्ध जीविका ही प्राप्त होती है। तात्पर्य यह कि भगवत्प्रेमी शरीर-निर्वाह से अधिक स्वीकार ही नही करता। अतः जिन पुरुषों को परम-पद की प्रीति उत्पन्न हुई है उन्होने सब प्रकार के रसो का त्याग किया है और जो–जो मन की वासनाएँ है उनसे विपरीत होकर बर्ते है, क्योंकि जब यह मन अपनी वासना के अनुकूल भोगों को प्राप्त करता है

तो प्रमादवश मोहान्ध हो जाता है तथा इस संसार में जीवित रहना ही उसे अच्छा जान पड़ता है। अतः इस मन को संसार के भोगों से दूर रख कर अपने अधीन करे तथा वैराग्य को बढ़ाते हुए इस संसार को बन्दीगृह के समान समझे एवं शरीर छूटने में ही अपना छुटकारा माने। महापुरुष भी कहते हैं कि सबसे बुरे पुरुष वे ही है जिनका चित्त भोगो में आसक्त है और जो तरह-तरह के रसों और वस्त्रों की अभिलाषा करते हैं। इसी विषय में मूसा नामी महात्मा को आकाशवाणी हुई थी कि अन्त में तेरी स्थिति का स्थान श्मशान होगा, अतः तुझे अपने शरीर को भोगों से दूर रखना चाहिये। इसी से जिन पुरुषों को अपनी वासनाओं के अनुसार भोग प्राप्त होते है उन्हे महात्मा लोग मन्दभाग्य मानते है। एक सन्त का कथन है कि मैने दो देवता आकाश से उतरते देखे। उनमें से एक ने कहा कि एक मनमुखी पुरुष ने मछली को फँसाने के लिये जाल डाला है, मै उसके लिये मछली फँसाने के उद्देश्य से जा रहा हूँ। तथा दूसरे ने कहा कि एक भगवत्प्रेमी को घृत खाने की इच्छा हुई है। मै उसके हाथ से घृत का पात्र गिराने के लिये जा रहा हूँ। इसी प्रकार उमर नामक सन्त को किसी ने मिश्री और शीतल जल दिया था। तब उन्होंने उसे अङ्गीकार नहीं किया। वे कहने लगे कि इन चीजो को मुझसे दूर रखो, नही तो परलोक में मुझे इनके लिये दण्ड भोगना होगा। एक सन्त के विषय में कहा जाता है कि वे आटा घोल कर खा लेते थे और जल के घड़े को धूप से उठा कर छाया में नही रखते थे। इसी प्रकार एक अन्य भगवत्प्रेमी को किसी वस्तु की इच्छा हुई। किन्तु जब विशेष प्रयत्न करने पर वह प्राप्त हुई तो उन्होंने कहा कि इसे भगवान् के लिये उठा दो। लोगों ने उनसे पूछा कि आपको तो इसे पाने की बड़ी अभिलाषा थी। अब मिलने पर इसे स्वीकार क्यों नही करते ? तब वे बोले कि मैने महापुरुषों के मुख से ऐसा सुना

है कि जब इस मनुष्य को कोई भोगवासना उठे तो वह वस्तु प्राप्त होने पर उसे भगवान् के लिये उठा दे। ऐसा करने से प्रभु उस पर दया करते है। इसी तरह एक जिज्ञासु को दूध पीने की इच्छा हुई, तो उन्होंने चालीस वर्ष तक उसे अङ्गीकार नहीं किया। तात्पर्य यह है कि परमार्थ मार्ग में चलने वाले जिज्ञासुओं का आचरण तो इसी प्रकार का रहा है। यदि कोई इस स्थिति को प्राप्त न कर सके तो भी कुछ भोगों का त्याग तो उसे करना ही चाहिये। अधिक स्निग्ध, अधिक मीठे और मांसादि रजोगुणी पदार्थों को तो त्याग ही दे। कहते है, इन मांसादि का सेवन करने से तो हृदय कठोर हो जाता है।

(प्रयत्न का रहस्य और गुरु—शिष्य का अधिकार)

याद रखो, सयम और प्रयत्न का तात्पर्य यही है कि मन कोमल और अपने अधीन हो। जब मन विचार की मर्यादा में स्थित हो जाय तब हठ या प्रयत्न करने की अपेक्षा नहीं रहती। इसीसे सद्गुरु शिष्य को यत्न और हठ करने का उपदेश करते है और स्वय सहज वृत्ति में रहते है, क्योंकि उनका मन वास्तव में भोगासक्ति से मुक्त रहता है। विशेष यत्न करने का भी प्रयोजन यही होता है कि संयम करके सुखी रहे। ऐसी भूख भी न रखे कि वृत्ति अन्न की ओर ही खिची रहे और भजन में भी विक्षेप हो तथा इतना डटकर भी न खाय कि आलस्य और प्रमाद बढ़ जाय। इस मनुष्य की पूर्णता तो इसी में है कि इसका स्वभाव देवताओं के समान हो। देवताओं का स्वभाव ऐसा होता है कि उन्हें न तो भूख का ही खेद होता है और न अधिक आहार का बोझा ही। किन्तु आरम्भ में इस मन का ऐसी साम्य स्थिति में रहना कठिन है, इसी से इसे हठ और प्रयत्न करते हुए संयत करना आवश्यक होता है। इस प्रकार यत्न करने पर जब इसका मलिन

स्वभाव निवृत्त हो जाता है तभी यह समता को प्राप्त होता है। इसी से जिज्ञासु जनों ने सर्वदा अपने मन पर दोषदृष्टि रखी है और उसे वैराग्यरूपी पाश में फँसाया है। वे सर्वदा मन के स्वभाव को विचारसहित देखते रहते है; और जब पूर्ण—पद को प्राप्त होते है तब समभाव में स्थित हो जाते है। इस विषय में यह दृष्टान्त है कि जब मारूफ करखी नामक सन्त के पास लोग अच्छा भोजन ले जाते थे तो वे उसे स्वीकार कर लेते थे और जब बशर-हाफ़ी सन्त के पास ऐसी कोई चीज ले जाते थे तो वे उसे कभी अङ्गीकार नहीं करते थे। एक बार लोगों ने मारूफ़ करखी साहब से पूछा कि आपका स्वभाव ऐसा खुला हुआ किस कारण से है और बशर-हाफ़ी इतने सकोची स्वभाव के क्यों है ? तब उन्होने कहा कि बशर-हाफी वैराग्यवश विधि-निषेध का विचार करते है, इसीसे ये विहित को ग्रहण करते है और निषिद्ध को त्याग देते हैं, किन्तु मै ज्ञानप्रधान होने से ग्रहण-त्याग के बन्धन से मुक्त हूँ। मै तो अपने को प्रभु के घर में अभ्यागत के समान समझता हूँ। यह सारा विश्व उनका घर ही है। अतः यहाँ जो कोई जो भी वस्तु देता है वह उनकी ओर से और उन्हीं की प्रेरणा से आती है। इसलिये प्रभु मुझे जो कुछ देते है वही मै स्वीकार कर लेता हूँ और जब वे कुछ भी नही देते तब भी प्रसन्न रहता हूँ। इसी से मै न तो कोई पदार्थ चाहता हूँ और न किसी के लिये निषेध करता हूँ।

किन्तु यह अवस्था अत्यन्त उत्कृष्ट और दुर्लभ है। यही मूर्खों के लिये पतन का स्थान भी है। मूर्ख लोग इस बात को सुनकर अपने को ज्ञानी मान लेते है और कहते हैं कि हमें ग्रहण-त्याग का कोई बन्धन नहीं है। किन्तु उनमें वैराग्य का बल तो रञ्चकमात्र भी नहीं होता, वे तो सर्वदा विषयों में ही आसक्त रहते है। इससे निश्चय तो यही होता है कि जिनका मन सब प्रकार के बन्धनों से

मुक्त है उन ज्ञानवानों से भी सहज ही में साधना होती रहती है। और ये महामूढ तो व्यर्थ ही अपने को ज्ञानी मानकर साधन और यत्न को छोड़ बैठते है। यहाँ जो मारूफ़ करखी की बात कही गयी है, सो उनकी तो ऐसी ऊँची स्थिति थी कि यदि कोई उनके हाथो को कष्ट देता था तो उसे भी वे भगवान् की ओर से ही समझ कर सर्वथा शीतलचित्त और खेदरहित रहते थे। तात्पर्य यह है कि जिनके चित्त इतने गम्भीर है उन्हीं को इस प्रकार भजन करना शोभा देता है। बशर-हाफी आदि जो सन्त हुए हैं उन्होने अपने मन को प्रयत्न से कभी दूर नहीं किया, वे मन के स्वभावों से कभी निर्भय नहीं होते थे। यह बात वस्तुतः अत्यन्त कठिन है कि मन के अनुकूल रहे और ज्ञानवान् भी हो। तथा वैराग्य और अभ्यास को छोड़ बैठना तो अत्यन्त मूर्खता ही है।

(स्थूल भोगों के त्याग मे विघ्न और उनकी निवृत्ति के उपाय)

अल्पबुद्धि जीवों को भोगो का त्याग करने में दो विघ्न उपस्थित होते है—पहला तो यह कि जब यह मनुष्य भोगो को त्यागने लगता है और उनके त्याग में अपने को असमर्थ पाता है तो उन्हे एकान्त मे भोग लेता है और ऐसा प्रयत्न करता है कि लोग उसे भोगते हुए न देखे। इस प्रकार वह एकान्त मे भोगलम्पट रहता है। तथा दूसरा विघ्न यह है कि वह अपने को वैराग्यवान् प्रकट करता है। यह भी केवल लम्पटता ही है। ये दोनो प्रकार के लोग ऐसा समझते है कि यदि हम इस प्रकार लोगो से छिपाकर भोगो का सेवन करेंगे तो इससे अन्य लोगो का तोभला ही होगा। ऐसा करने से हम तो निन्दा से बच जाएँगे और दूसरे लोग धृष्टतापूर्वक आचरण नही करेगे। यद्यपि उनका मन उन्हें ऐसा ही सिखाता है तथापि यदि विचार किया जाय तो यह है कोरा दम्भ ही। वास्तव में जिन लोगो का हृदय वैराग्य और सन्तोष के द्वारा शुद्ध है उनके तो ऐसे लक्षण देखे गये है कि वे लोगों के देखते हुए

ही खान-पान आदि की सामग्री अपने घर ले आते थे और उसे गुप्त रूप से भगवान् के लिये दूसरों को दे डालते थे। यही सच्चे हृदयवालों की स्थिति होती है। ऐसा आचरण करना यद्यपि अत्यन्त कठिन है, तथापि यही तो निष्कामता की परीक्षा है कि ऐसा करने में किसी प्रकार की सकोच न हो। जब तक ऐसी अवस्था प्राप्त न हो, अर्थात मन को इस प्रकार बर्तना सुगम, अत्यन्त साध्य एव स्वाभाविक न जान पड़े तब तक समझिये कि मान और कपट से छुटकारा नहीं मिला। और जिस मनुष्य के हृदय में मान की कामना रहती है उसके तो सब काम और भजन मान ही के लिये होते है तथा वह मान ही का दास है।

किन्तु जो मनुष्य आहारादि का सयम करके भी मान की वासना में आसक्त हो वह तो ऐसा ही है जैसे कोई मेघ की बूँदों से बचने के लिये भागकर पतनाले के नीचे बैठ जाय। ऐसा पुरुष तो मूर्ख ही कहलाता है। अतः जिज्ञासु को जब अपने में मान की वासना दिखायी दे तो दूसरे लोगों के देखते हुए थोड़ा सरस भोजन भी स्वीकार कर ले। परन्तु तष्णापूर्वक अधिक न खाय। ऐसा करने से मान का क्षय होगा और भोगों से भी मुक्त रहेगा।

(कामादि विघ्न और उनकी निवृत्ति)

भगवान् ने मनुष्य में कामादि की वासना जगत् की उत्पत्ति को चालू रखने के लिये रखी है। किन्तु यह वासना जितनी ही प्रबल होती है उतनी ही अधिक विघ्न करनेवाली है। वे विघ्न साधक के चित्त को अत्यन्त आवृत कर लेते है। कहते है, एक बार मूसा नामक महापुरुष ने कलियुग से पूछा कि तेरा अधिक निवास किस स्थान में रहता है। उसने कहा, "जहाँ स्त्री और पुरुष एकान्त में मिलकर बैठते हैं वही मेरा सबसे अधिक निवास है। अतः आपको एकान्त में स्त्रियों के साथ नहीं मिलना चाहिये।

ऐसे स्थान में मैं निःशङ्क होकर उत्पात और विघ्न उपस्थित कर देता हूँ।" परन्तु कुछ लोग तो ऐसे मूर्ख होते हैं कि कामोद्दीपन के लिये बलदायक ओषधियाँ सेवन करते है। यह ऐसी ही बात है जैसे कोई बर्र और ततैयों के छत्ते को उनका तमाशा देखने के लिये हिलावे। ऐसा मनुष्य अत्यन्त बुद्धिहीन माना जायगा। इसी प्रकार जो पुरुष ऐसे विकारों को उत्पन्न करके दुःख मोल लेता है वह महा मूर्ख है। ऐसे विकारों के उत्पन्न होनेपर तो स्वभाव से ही मनुष्य दुराचारादि अपकर्मों में प्रवृत्त हो जाता है। ऐसा होने पर उससे और भी अनेकों पाप बनने लगते है।

अतः जिज्ञासु को आरम्भ में ही काम का मार्ग रोक देना चाहिये। यदि वह ऐसा नहीं करेगा तो निःसन्देह विकारों की प्रबलता होगी। वह काम की उत्पत्ति का मार्ग है नेत्रों की दृष्टि। यदि अकस्मात् नेत्रों की दृष्टि किसी आकर्षक रूप पर पड़ जाय तो फिर उसे प्रयत्नपूर्वक रोक लेना चाहिये। इससे कामविकार को रोकना सुगम हो जायगा। यदि इस प्रकार नेत्रों को नहीं रोका जायगा तो पीछे मन को रोकना कठिन होगा, क्योंकि यह मन हठी घोड़े के समान है। यदि घोड़ा दूसरी ओर जाना चाहता है तो उसे सावधानी से आरम्भ में रोक लेना तो सुगम है, किन्तु जब वह जोर लगाकर हाथ से निकल जाता है तब फिर पकड़ में नहीं आता। इसी प्रकार मन को रोकने का मार्ग भी नेत्र ही है। एक सन्त का कथन है कि महात्मा दाऊदजी भी नेत्रोंद्वारा ही छले गये थे। इसी से उन्होंने अपने पुत्रो को यह उपदेश दिया था कि एक बार विशाल अजगर और सिंह के सम्मुख जाने में कोई हानि नहीं, किन्तु स्त्री के सामने कभी नहीं जाना चाहिये। इसी से महापुरुष ने भी कहा है कि स्त्रियों का रूप देखना ऐसा है कि जैसे किसी के शरीर मे विष मे बुझा हुआ बाण लग जाय। अतः जो पुरुष अपने नेत्रों को रोके रहता है उसी के हृदय में भजन का रहस्य

प्रकट होता है। इसके सिवा ऐसा भी कहा है जो उपस्थेन्द्रिय के द्वारा काम का भोग होता है वैसे ही नेत्रेन्द्रिय भी कामोपभोग का साधन है। पर जो पुरुष नेत्रों को न रोक सके उसे तप और व्रतों के द्वारा अपने शरीर के बल का ह्रास करना चाहिये। और यदि ऐसा करने में भी समर्थ न हो तो विवाह करके गृहस्थाश्रम का पालन करे। इसी में उसकी भलाई है।

पर यह सब तो मैंने स्त्रियों के संग की निन्दा के विषय में कहा। इसके सिवा रूपवान् लड़कों की ओर देखना भी बड़ा विघ्न है। जिसके चित्त में उन्हें देखने की अभिलाषा बढ़ने लगती है वह पुरुष भी पापों के समुद्र की ओर बह जाता है और किसी प्रकार निर्दोष नही रह सकता। निर्दोष तो वही रह सकता है जो पुरुष रूप को देखकर स्पर्श के विकार से विरक्त रहे, जिस प्रकार कि पुष्पादि या चित्रकारी की सुन्दरता को देखकर ही चित्त प्रसन्न हो जाता है, उसमें किसी प्रकार का कामविकार नहीं फुरता, सो स्त्री या बालक के रूप को देखनेपर भी इसी प्रकार निर्विकार रहना किसी बिरले पुरुष का ही काम है। इसी से किसी सन्त ने कहा है कि जिज्ञासुजन जिस प्रकार रूपवान् लड़कों से भय मानते है वैसा गरजते हुए सिंह से भी नहीं डरते।

(कामवेग को रोकने की महिमा)

याद रखो, जिस भोग की जितनी प्रबलता होती है उतनी ही उसके वेग को तोड़ने की विशेषता भी मानी जाती है। यह बात तो प्रसिद्ध ही है कि काम की वासना बड़ी प्रबल होती है। तथा इसमें प्रवृत्त होना बहुत बुरा है। जो लोग कामचेष्टाओं से बचे है उनमें अधिकांश तो ऐसे लोग है जो लोकलाज, राजदण्ड, अथवा असमर्थता के कारण अपने को रोके रहते है। अतः उन्हें इसका विशेष फल प्राप्त नही होता, क्योंकि वे तो लोगों के भय से ही संकोच करते है, उनके चित्त में भगवान् का भय नहीं होता

तथापि यदि कोई असमर्थता अथवा लज्जावश भी पाप से बचा रहे तो अच्छा ही है, क्योंकि इससे परलोक में दुःख भोगने से बच हो जाता है। किन्तु जो किसी और हेतु से नहीं, बल्कि भगवान् से भय मानकर ही पापकर्मों को त्यागता है उसे उसका विशेष फल प्राप्त होता है। इस विषय में एक कथा प्रसिद्ध है। कहते है, यूसुफ नाम के एक सन्त अत्यन्त सुन्दर थे। उनको जुलेखा नाम की एक स्त्री ने मोहित करना चाहा। परन्तु उन्होने कामवेग को परास्त करके उसका प्रयत्न व्यर्थ कर दिया। इससे उन्हें बहुत उत्तम पद प्राप्त हुआ। इसके सिवा एक कथा और भी है। एक बार दो भगवत्प्रेमी किसी देश को जा रहे थे। मार्ग में उनमें से एक किसी कार्य से नगर में गया और दूसरा आसन पर बैठा रहा। दैवयोग से वहाँ एक सुन्दरी स्त्री आयी और उसे अपनी चपलता दिखाने लगी। इससे वह भगवत्प्रेमी सिर नीचा करके रोने लगा। अतः वह स्त्री लज्जित होकर चली गयी। जब दूसरा साथी नगर से आया तो उसने उसके रोने का कारण पूछा। उसने पहले तो यह बात प्रकट न की। किन्तु जब उसने विशेष आग्रह किया तो सब बात स्पष्ट बता दी। सुनने पर वह भी रोने लगा। तब पहले प्रेमी ने पूछा कि भाई, क्यो रोते हो? उसने कहा, "भाई, जिस प्रकार तुमने अपने को स्त्री के छल से बचा लिया है, उस प्रकार मै अपने को बचाने में असमर्थ हूँ, इसी से रोता हूँ।" रात्रि को जब वे सो गये तो स्वप्न में उन्हे आकाशवाणी हुई कि तुमने अपने को यूसुफ की तरह बचा लिया है, अतः तुम धन्य हो।

एक प्रसङ्ग और भी है। एक बार तीन मनुष्य मार्ग में जा रहे थे। रात्रि के समय वर्षा से बचने के लिये वे एक पहाड़ की कन्दरा में घुस गये। दैवयोग से पहाड़ के शिखर से एक बहुत बड़ा पत्थर गिरा और उसने कन्दरा के द्वार को बन्द कर दिया। अब, वे तीनो बड़े व्याकुल हुए और अपने-अपने पुण्यों को याद

करके भगवान् से प्रार्थना करने लगे। एक ने कहा, "प्रभो! आपकी आज्ञानुसार मैं अपने माता-पिता की बहुत सेवा करता था। एक बार मैं माता जी के लिये दूध से भरा कटोरा ले गया। किन्तु वे सो चुकी थीं। तब मैं कटोरा लिये उनके जागने की प्रतीक्षा में खड़ा रहा और मैंने भोजन भी नहीं किया। अन्तर्यामिन्! आप यह सब जानते ही है। अतः आप हमें इस गुफा में से निकलने का मार्ग दीजिये।" इस पर कन्दरा के द्वार से वह पत्थर कुछ खिसक गया। किन्तु इतना मार्ग नहीं हुआ कि वे उससे निकल सके। तब दूसरे ने कहा, "भगवन्! आप यह जानते है कि एक बार मेरे पास एक मजदूर की मजदूरी रह गयी थी। तब मैंने उसकी एक बकरी ली। उसका इतना परिवार बढ़ा कि उसी को बेचकर मैंने बहुत से पशु खरीद लिये। पीछे बहुत दिनों पश्चात् जब वह मजदूर आया तो मैंने सब पशु उसी को दे दिये। उस पुण्य के प्रताप से आप हमें इस गुफा से निकलने का मार्ग दीजिये।" इस पर वह पत्थर कुछ और खिसक गया। किन्तु उनके बाहर आने योग्य मार्ग अब भी नहीं खुला। तब तीसरे ने कहा "प्रभो! आप जानते है कि अमुक स्त्री के प्रति मेरा बड़ा राग था। किन्तु वह मुझे प्राप्त नहीं होती थी। एक बार जब दुर्भिक्ष पड़ा और उसके कुटुम्बी भूख से व्याकुल हो गये तब मैंने उसे धन का लोभ देकर अपने अनुकुल किया। किन्तु जब मैं उसके समीप गया तो वह बोली कि तुम्हें क्या भगवान् का कुछ भी भय नहीं है? इससे मुझे आपका बड़ा त्रास हुआ और आपको सर्वव्यापक एवं समदर्शी जानकर मैंने उसे त्याग दिया। प्रभो! इस पुण्य के प्रताप से आप हमें मार्ग दीजिये।" बस, अबकी बार वह पत्थर कन्दरा से दूर हट गया और तीनो व्यक्ति बाहर निकल आये।

(स्त्री और बालकों को कुदृष्टि से देखने का निषेध)

यह कामवासना जब प्रबल हो जाती है तो इसे तोड़ना बहुत

कठिन हो जाता है। अतः आरम्भ से ही अपनी दृष्टि का संयम करना चाहिये। एक सन्त का कथन है कि स्त्रियों के तो वस्त्र देखने से ही काम उत्पन्न हो जाता है। अतः जिज्ञासु को उनके वस्त्र भी नहीं देखने चाहिये। इसके सिवा स्त्रियों के साथ बोलना, उनकी वाणी सुनना, उनके निवासस्थान पर जाना और उनके साथ हँसी करना इत्यादि सारे व्यवहार तो अत्यन्त निन्दनीय हैं। तात्पर्य यह है कि काम का मूल रूप है, अतः रूप से आकर्षित होकर किसी की ओर देखना उचित नहीं। हाँ, यदि बिना संकल्प किये मार्ग में अथवा किसी अन्य स्थान पर अकस्मात् किसी पर दृष्टि पड़ जाय तो उसमें दोष नहो। परन्तु फिर दूसरी बार उसे राग-पूर्वक देखना निःसन्देह पाप है। इसी पर महापुरुष ने भी कहा है कि पहली बार तो दृष्टि स्वभावतः पड़ती है, किन्तु दूसरी बार देखना दण्ड का कारण है। तात्पर्य यह है कि स्त्री-पुरुषो का संसर्ग सब प्रकार विघ्नों का ही बीज है। किन्तु कुछ स्थान तो ऐसे होते है कि जहाँ निश्चय ही स्त्रियाँ मिलती है, जैसे नृत्य या गान के स्थान, विवाह की जगह अथवा मेले और खेल-तमाशे के स्थान। वहाँ जिज्ञासु को नहीं जाना चाहिये। ये स्थान उसके लिये निन्दनीय है। इसके सिवा स्त्रियों के वस्त्र, हार अथवा माला आदि भी धारण न करे और न उन्हें सूँघे ही। स्त्रियों की कोई भी वस्तु स्वीकार न करे और न प्रीतिवश उन्हें कुछ दे ही। महापुरुष ने भी कहा कि स्त्रियों के साथ कभी मीठी-मीठी बाते न बनावे क्योंकि यदि रास्ते में भी किसी स्त्री या बालक से मिलाप हो जाता है तो मन में यही संकल्प होता है कि इसे देखना ही चाहिये। उस समय जिज्ञासु को यही पुरुषार्थ करना उचित है कि मन के साथ युद्ध करे और उसे समझावे कि इसकी ओर देखने से मुझे पाप लगेगा और म भगवान् से विमुख हो जाऊँगा। इस प्रकार विचार करके यदि मन को रोक ले तो अच्छा ही है।

तीसरी किरण

मौन की महिमा तथा अधिक बोलने के विघ्नों का वर्णन

भगवान् ने यह जिह्वा भी अत्यन्त आश्चर्यरूप बनायी है। यह देखने में तो एक मांस का टुकड़ा है, किन्तु पृथ्वी और आकाश में जो कुछ सृष्टि है उस सभी में इसका प्रवेश है। यही नहीं, जो पदार्थ अरूप और अदृश्य हैं उनका भी यह वर्णन करती है। अतः जिह्वा को बुद्धि की मन्त्री कहा है। तात्पर्य यह कि जैसे कोई भी पदार्थ बुद्धि की पहिचान से बाहर नहीं है वैसे ही जिह्वा भी सभी पदार्थों का वर्णन करती है। इसके सिवा अन्य इन्द्रियों की ऐसी योग्यता नहीं है जो सभी कार्यों में प्रवेश पा सके। जैसे नेत्र केवल आकार को देख सकते है, कर्ण केवल शब्द सुन सकते है, तथा अन्य इन्द्रियाँ भी केवल एक-एक कार्य ही कर सकती है, किन्तु यह जिह्वा ऐसी है जो नेत्र श्रवण आदि सभी अङ्गों के भेदों का वर्णन कर सकती है। जिस प्रकार जीव की चेतनता सब अङ्गों में व्याप्त है वैसे ही यह जिह्वा जीव के सभी सङ्कल्पों को प्रकट करती है। यह जैसे वचनों का उच्चारण करती है वैसा ही भाव हृदय में प्रवेश कर जाता है। जब यह अधीनता और वियोग की बाते करती है तो हृदय कोमल हो जाता है और नेत्रों से आँसू झरने लगते है। और जब यह प्रसन्नता प्रकट करती है अथवा किसी की प्रशंसा करने लगती है तो स्वाभाविक ही उसके प्रति रुचि

हो जाती है। इसी प्रकार जब जिह्वा से झूठ और अश्लील शब्दों का उच्चारण होता है तो हृदय मलिन हो जाता है और जब शुभ वचनों का उच्चारण होता है तो हृदय में सात्त्विकी भाव का उदय होने लगता है। इसी पर महापुरुष ने भी कहा है कि जब तक मनुष्य का हृदय शुद्ध नहीं होता तब तक उसका धर्म भी दृढ़ नहीं होता और जब तक जिह्वा (वाणी) सरल एव सच्ची नहीं होती तब तक हृदय भी शुद्ध नहीं होता। अतः वाणी के पाप और विघ्नों से भय मानना धर्म की दृढ़ता का कारण है। इसी से अब आगे हम पहले तो मौन की विशेषता कहेगे और फिर वाणी के पाप जो झूठ, निन्दा, विवाद और दुर्वचन आदि है उनका वर्णन करेगे तथा इनसे बचने के उपायों का भी पृथक-पृथक् निरूपण किया जायगा।

निश्चय जानो, इस बोलने में इतने पाप हैं कि उनसे अपनी रक्षा करना बहुत ही कठिन है। अतः उनसे बचने का सबसे अच्छा उपाय मौन ही है। अतः मनुष्य को चाहिये कि बिना आवश्यकता कोई बात न बोले। इसी से सन्तों ने कहा है कि जिनके आहार, परदोषवर्णन और भाषण सयमसहित होते है वे निःसन्देह सिद्ध-पदवी प्राप्त करते है। प्रभु का भी कथन है कि अधिक बोलने से कभी भलाई नहीं होती। अतः केवल किसी का उपकार करने, दान देने अथवा विरोध निवृत्त करने के लिये ही बोलना अच्छा है। तथा महापुरुष ने भी कहा है कि जिसे भगवान् ने वाणी, उदर और कर्मेन्द्रियों की बाधाओ से बचाया है वह मुक्तरूप ही है। एक बार किसी भगवत्प्रेमी ने महापुरुष से पूछा था कि सर्व-श्रेष्ठ आचरण क्या है ? तब उन्होंने सकेतद्वारा बताया कि मौन ही सब से श्रेष्ठ आचरण है। इसके सिवा यह भी कहा है कि मौन और कोमल स्वभाव सुखपूर्वक होनेवाला भजन है। तथा ऐसा भी कहते है कि कोई अधिक बोलता है तो उसका हृदय कठोर हो जाता

है और यह पापरूप ही है, तथा जो पापरूप हो वह तो अग्नि में जलानेयोग्य होता है। इस विषय में एक बात प्रसिद्ध है। कहते हैं, किसी सभा में कुछ वाग्विलास हो रहा था। वहाँ एक भगवत्प्रेमी मौन हुए बैठे थे। जब और सबने उनसे पूछा कि आप क्यों नहीं बोलते तो उन्होंने कहा, "मै यदि झूठ बोलूँ तब तो भगवान् से डरता हूँ और यदि सच कहूँ तो आप लोगों से भय है, इसलिये मौन हूँ।"

अतः मौन की विशेषता इसी से कही है कि बोलने से अनेकों पाप उत्पन्न हो जाते हैं और जिह्वा सर्वदा व्यर्थ भाषण में आसक्त रहने लगती है। इसके सिवा न बोलने में किसी प्रकार के प्रयत्न की भी अपेक्षा नहीं होती और मन को भी प्रसन्नता प्राप्त होती है। तथा वाणी के गुण-दोषो का विवेचन करना भी कठिन ही है। इसी से कहा कि मौन रहनेपर मनुष्य सब प्रकार के क्लेशों से छुटकारा पा लेता है तथा इससे पुरुषार्थ और एकाग्रता में भी वृद्धि होती है एव सुगमता से भजन में स्थिति हो जाती है।

याद रखो, वचन चार प्रकार का होता है—(१) जो विघ्नरूप है, जैसे निन्दा और झूठ (२) जिसमें गुण और दोष मिले हुए है जैसे बिना प्रयोजन किसी को बात पूछना। (३) जो गुण और दोष से रहित है, जैसे व्यर्थ बात-चीत करना। इसमें सबसे बड़ी हानि यही है कि समय व्यर्थ नष्ट होता है। और (४) जो सब प्रकार गुणरूप है, जैसे किसी को सुख पहुँचाने के लिये कोई बात कहना। इन चार प्रकार के वचनों में पहले तीन विघ्न है। अतः जिज्ञासु को केवल चौथे प्रकार का वचन बोलना चाहिये, किन्तु जो पुरुष मौन है वह तो सभी प्रकार के विघ्नों से छूटा हुआ है।

मनुष्य स्वभाव से वाणी के सब विघ्नों को नहीं पहचान सकता इसलिये मै उनका पृथक्-पृथक् रूप से प्रतिपादन करता हूँ। वे सब विघ्न पन्द्रह हैं। उनका विवेचन इस प्रकार है—

१. जिस बात में तुम्हें कुछ भी प्रयोजन न हो उसे करना अत्यन्त निन्दनीय है। तात्पर्य यह है कि जिस बात से तुम्हारा व्यवहार या परमार्थ कुछ भी सिद्ध न होता हो उसे बोलने से सत्त्वगुण का सुख नष्ट हो जाता है। जैसे कोई व्यक्ति किसी सभा में जाय और वहाँ सुनाने लगे कि मै अमुक देश में गया था और वहाँ ऐसे-ऐसे नगर, पर्वत और खान-पान आदि देखे तो यद्यपि उसका कथन सत्य ही होगा तथापि इससे उसका या किसी दूसरे का कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इसलिये यह व्यर्थ वचन कहलाता है। अतः इसे त्यागना चाहिये। अथवा यदि किसी से बिना ही प्रयोजन कोई प्रश्न करे तब वह भी व्यर्थ ही होता है। व्यर्थ उसे कहते है जिससे कोई दोष भी न हो और कोई कार्य भी सिद्ध न होता हो। इसी प्रकार यदि कोई पूछे कि तुमने व्रत रखा है या नहीं ? तो उसका उत्तर देनेवाला 'मै व्रती हूँ।' ऐसा कहने पर तो अभिमान का दोषी होगा और यदि कहे कि मैंने व्रत नहीं रखा तो मिथ्याभाषी होगा। अथवा व्रत न रखनेपर भी यदि सकोचवश कह दे कि मैंने व्रत रखा है तो उसे पाप ही लगेगा। ये सारे दोष उसे पूछनेवाले के प्रश्न के कारण ही लगेगे; अतः ऐसी बात किसी से पूछनी ही नहीं चाहिये। इसी प्रकार यदि किसी से पूछा जाय कि तुम कहाँ से आते हो, कहाँ जाते हो अथवा क्या करते हो ? और वह ये बाते स्पष्ट बताना न चाहता हो तो उस समय वह जो झूठ बोलेगा उसका पाप उसे तुम्हारे ही कारण लगेगा। कहते है, एक बार हकीम लुकमान दाऊद नामक महापुरुष के पास गये थे। वे उस समय लोहे का कवच बना रहे थे। लुकमान के मन में यह पूछने का सकल्प हुआ कि आप यह क्या बना रहे है। किन्तु शील-सकोचवश उन्होंने यह बात पूछी नहीं। जब उन्होने कवच बना लिया तो उसे गले में डाल कर बोले, 'यह युद्ध के समय का अच्छा पहरावा है।' तब लुकमान ने निश्चय

किया कि मौन बहुत अच्छी चीज है, इसके कारण किसी में आसक्ति नहीं होती। इसके विपरीत जब मनुष्य बिना प्रयोजन ही किसी से प्रश्न करता है और यह सोचता है कि इसका भेद जान कर मै इसके साथ मेल-जोल बढ़ाऊँ तो यह सब उसकी बुद्धि-हीनता ही है। मनुष्यों को ऐसी व्यर्थ प्रवृत्ति से बचने के लिये काल को सर्वदा अपने सिर पर देखना चाहिये और यह समझना चाहिये कि इस लोक में एक बार भगवान् का नाम लेना ही बड़ा भारी लाभ है। उस खजाने को मैं व्यर्थ वाद-विवाद में समय खोकर क्यों नष्ट करूँ ? ऐसा करने से तो मेरी बड़ी भारी हानि होगी। किन्तु यह उपाय यथार्थ बुद्धि प्राप्त होने पर ही होता है। इसके लिये जिज्ञासु को उचित है कि एकान्त में जाकर रहे। ऐसा करने से भी वाद-विवाद से छुटकारा मिल जाता है। तात्पर्य यह है कि यदि एक वचन से निर्वाह हो सकता हो तो दो वचन न बोले। इस विषय में एक भगवत्प्रेमी का कथन है कि मेरे हृदय में यदि कोई अत्यन्त मधुर विषय फुरता है तो भी मै बोलता नहीं, क्योंकि मुझे यह शङ्का रहती है कि कहीं अधिक न बोल जाऊँ। महापुरुष ने भी कहा है कि श्रेष्ठ पुरुष वह है जो धन की थैली की गाँठ तो खोले रखता है किन्तु वाणी को बन्धन में रखे हुए है।

२. मिथ्या और पापमय वचन बोलना दूसरा विघ्न है। लड़ाई-झगड़े की चर्चा अथवा दुराचारी पुरुषों के व्यवहार की बात-चीत, ये सब पापमय वचन ही है, क्योंकि पहले जो हमने व्यर्थ विवाद के विषय में निर्णय किया है, ये बाते इसकी कोटि में नहीं गिनी जा सकतीं, ये तो उससे बहुत नीची कोटि की हैं। इस विषय में महापुरुष ने कहा कि जब यह पुरुष निःशङ्क होकर बोलता है और उस वचन की बुराई को नहीं समझता तब उस बोलने के कारण ही नरकगामी हो जाता है और जब भगवान् का

भय रखकर बोलता तथा विचारपूर्वक इस रहस्य को भी जान लेता है तो निःसन्देह परमानन्द प्राप्त करता है।

३. किसी मनुष्य के कोई बात कहने पर उसे काट देना तीसरा विघ्न है। यह स्वभाव बहुत निन्दनीय है। किन्तु बहुत मनुष्यों की ऐसी आदत होती है कि जब कोई कुछ बोलता है तो झट कह उठते है कि यह बात ऐसी नहीं है। विचार किया जाय तो उनके इस कथन का यही अर्थ हुआ कि तुम मूर्ख और मिथ्यावादी हो तथा मैं बड़ा बुद्धिमान् और सत्यवक्ता हूँ। अतः ऐसा कहने से क्रोध और अहङ्कार जो अत्यन्त मलिन स्वभाव है, उन्ही की वृद्धि होती है। इस विषय में महापुरुष का कथन है कि जो पुरुष किसी की बात को नहीं काटता और कभी व्यर्थ वचन भी नहीं बोलता वह परम सुख प्राप्त करता है। ऐसे स्वभाव की विशेषता इसलिये बतायी गयी है कि किसी अच्छे या बुरे शब्द को धैर्यपूर्वक सह लेना बड़ा कठिन काम है। साथ ही, यह भी कहा है कि इस पुरुष का धर्म तभी दृढ़ होता है जब स्वयं सच्चा होने पर भी किसी की बात को काटे नहीं। बात काटने का तात्पर्य यह है कि जब कोई कहे कि यह अनार खट्टा है और तुम कहने लगो, नही, यह तो मीठा है।' और जब कोई कहे कि अमुक गाँव पाँच कोश है और तुम कहने लगो, 'नहीं, छः कोश है।' ऐसा करना बड़ा भारी पाप है, क्योंकि किसी की बात का खण्डन करना उसका दोष प्रकट करने के समान होता है और इससे वचनद्वारा उसे दुःख पहुँचता है। अतः जिज्ञासु को तो सब प्रकार मौन ही रहना चाहिये। इस प्रकार एक-दूसरे का खण्डन करने से तो परस्पर झगड़ा हो जाता है। यदि अपने प्रति तुम्हें किसी की श्रद्धा जान पड़े तो उसे एकान्त मे समझा सकते हो। और यदि श्रद्धा न हो तब तो मौन रहना ही अच्छा है। इस विषय में महापुरुष का कथन है कि जब यह पुरुष मतों और पन्थो के वाद-विवाद में पड़

जाता है तब तत्काल अपने धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह है कि उचित अथवा अनुचित कैसी भी बात सुनकर मौन रहना बड़ा भारी पुरुषार्थ है। इस विषय में एक प्रसङ्ग है कि कोई जिज्ञासु संसार को त्यागकर एकान्त में रहने लगा। तब किसी ने उससे पूछा कि तू लोगों के पास क्यों नहीं आता? उसने कहा, "मैं अपने को ससार के झंझटों से बचाये रखना चाहता हूँ।" इस पर उस बुद्धिमान् ने कहा कि यदि तू लोगों के पास जाय और उनकी अनुकूल-प्रतिकूल बाते सुनकर धैर्यपूर्वक मौन रहे तो यह तेरा विशेष पुरुषार्थ होगा। इसके सिवा कई लोग तो ऐसे होते है कि वे अपना मान बढ़ाने के लिये ही दूसरे के मत का खण्डन करते है और कहते है कि यह हमारी सुदृढ़ धर्मनिष्ठा है। किन्तु वास्तव में यह है बड़ी मूर्खता की बात।

४. धन के लिये किसी से झगड़ा करना और फिर राज-दरबार में जाकर अभियोग चलाना—यह चौथा विघ्न है। सन्तों का कथन है कि धन के लोभ से किसी के साथ झगड़ा करने में मनुष्य को जैसा विक्षेप होता है वैसा और किसी कारण से नहीं होता, क्योंकि इस प्रकार के झगड़े का निर्वाह कटु वचन और वैर भाव के बिना नहीं होता। अतः जिज्ञासुजन प्रयत्न करके आरम्भ से ही ऐसे व्यवहार त्याग देते हैं।

५. मुख से दुर्वचन बोलना—यह पाँचवाँ विघ्न है। इस विषय में महापुरुष ने कहा है कि कुछ लोग नरक में अत्यन्त दुःखी होंगे और पुकार करेंगे। तब नारकी जीव पूछेंगे कि ये कौन महापापी है? उस समय देवता लोग कहेंगे कि ये मनुष्य सर्वदा दुर्वचन ही बोलते थे और अश्लील वाक्यों में ही इनकी विशेष रुचि थी। एक अन्य स्थान पर महापुरुष ने कहा है कि अपने माता-पिता को गाली मत दो। तब किसी ने पूछा कि अपने माता-पिता को कौन गाली देता है? इस पर महापुरुष ने कहा कि

जब कोई पुरुष किसी दूसरे व्यक्ति के माता-पिता के लिये दुर्वचन कहता है तो बदले में वह भी इसके माता-पिता के लिये दुर्वचन बोलता है। यहाँ विचार करके देखा जाय तो यही अपने माता-पिता के लिये गाली दे रहा है। अतः उचित यह है कि जब अवश्य ही कोई बुरी बात बतानी हो तो उसे खुले शब्दों में न कहे, केवल संकेत से ही सूचित कर दे।

६ किसी को धिक्कारना—यह छठा विघ्न है। यह भी अत्यन्त निन्दनीय है। मनुष्य का, किसी पशु या जड़ पदार्थ को भी धिक्कारना बुरी बात है। महापुरुष का कथन है कि भगवत्प्रेमी कभी किसी को नहीं धिक्कारते। एक भगवत्प्रेमी ने कहा है कि जब यह मनुष्य पृथ्वी या किसी भी पदार्थ को धिक्कारता है तो वह यही कहता है कि हम दोनों में जो भगवान् से विशेष विमुख और अधिक पापी हो उसी को धिक्कार है। हाँ, जब ऐसा कहे कि जो अपकर्मी और दूसरों को दुःख देनेवाले है उन्हें धिक्कार है, तथा किसी जाति-पाँति या पन्थ का नाम न ले, तो ऐसा कहने में आपत्ति नहीं। किन्तु फिर भी विचार करके देखा जाय तो अपकर्मियों को धिक्कारने की अपेक्षा भी भगवान् का नाम लेना ही अच्छा है।

७. रूप और शृङ्गारसम्बन्धी कविता करना—यह सातवाँ विघ्न है। रूपवानों की स्तुति करना भी अच्छी बात नहीं, क्यों कि ऐसी कविता में झूठ ही अधिक होता है। इसके सिवा ऐसा कहने और सुननेवाले का चित्त भी चञ्चल होता है। हाँ, यदि निर्मान होकर भगवान् और संतजनों की स्तुति करे तो अच्छा ही है।

८. आठवाँ विघ्न है हँसी। महापुरुष ने जिज्ञासुजनों को हँसी करने के लिये मना किया है। किन्तु यदि अकस्मात किसी को प्रसन्न करने के लिये हँसी की बात कही जाय तो कोई बुराई नहीं।

पर ऐसा करना भी तभी उचित है जब हँसी करने का स्वभाव न पड़े और मिथ्या भाषण भी न हो तथा ऐसा करने से किसी के चित्त को खेद भी न हो। जब मनुष्य को हँसी करने का विशेष स्वभाव पड़ जाता है तो उसकी आयु व्यर्थ ही बीत जाती है, उस का हृदय अन्धकारमय हो जाता है, उसकी गम्भीरता नष्ट हो जाती है तथा हँसी-हँसी में कभी अकस्मात् तमोगुण भी उत्पन्न हो जाता है। इसीसे सन्तजनों ने अधिक हँसी करने का निषेध किया है। महापुरुष ने भी कहा है कि जिस प्रकार मै भगवान् की महिमा और निरपेक्षता को जानता हूँ उसी प्रकार यदि तुम भी जान जाओ तो हँसी छोड़कर रोते ही रहोगे। एक भगवत्प्रेमी ने किसी अन्य प्रेमी से पूछा था कि क्या तुम्हें नरक के दुःखों का निःसन्देह पता है? उसने कहा, "हाँ, मुझे पता है।" फिर उसने पूछा कि क्या तुम ऐसा समझते हो कि मैं उनसे छूट जाऊँगा? उसने कहा, "यह तो मैं नहीं जानता।" इस पर वह बोला, "जब ऐसी बात है तो तुम्हें प्रसन्नता और हँसी कैसे आती है?" इसी निमित्त से एक जिज्ञासु चालीस वर्ष तक नहीं हँसा और परलोक के भय को ही स्मरण करता रहा। एक सन्त का कथन है कि जो पुरुष पाप करके भी इस लोक में हँसता है वह निःसन्देह नरक में बहुत रोवेगा। एक सन्त ने ऐसा भी कहा है कि जैसे स्वर्ग में रोना आश्चर्य है वैसे ही संसार में हँसना आश्चर्य है, क्योंकि यह मनुष्य तो इतना भी नहीं जानता कि मै परलोक में स्वर्ग को प्राप्त होऊँगा या नरक को। इसी पर एक सन्त ने कहा है कि भगवान् का भय करके हँसी से दूर रहो, क्योंकि हँसी से क्रोध उत्पन्न होता है और क्रोध से अनेकों अवगुण उत्पन्न हो जाते है। इसी से महापुरुष की सारी आयु में जीवों की प्रसन्नता के लिये बहुत थोड़ी हँसी की बात आयी है। जैसे एक बार उन्होंने किसी वृद्धा स्त्री से कहा कि कोई बूढ़ा आदमी स्वर्ग में नहीं जा सकेगा। इस

पर वह रोने लगी, तब उसे समझाते हुए कहा, "तू रोवे मत, क्यों कि जब कोई मनुष्य स्वर्ग में जाता है तो पहले उसे युवा बना लिया जाता है।" इसी प्रकार एक बार एक स्त्री ने महापुरुष से कहा कि आपको मेरे पतिदेव प्रसाद पाने के लिए बुलाते है। तब महापुरुष ने कहा, "तेरा पति वही है न, जिसकी आँखों में सफेदी है?" स्त्री ने कहा, "नहीं उनकी आँखों में तो सफेदी नहीं है।" तब आप हँसकर बोले, "ऐसे तो किसी के नेत्र नहीं होते जिनमें सफेदी न हो।" इसके सिवा एक बार मार्ग में जा रहे थे। तब एक वृद्धा स्त्री ने कहा कि मुझे ऊँट पर चढ़ा दीजिये। आप बोले, "तुझे ऊँट के पुत्र पर चढ़ा दे?" वह बोली, नहीं ऊँट के पुत्र पर तो मै नहीं चढ़ूँगी, वह तो मुझे गिरा देगा।" तब हँस कर कहने लगे, "ऐसा ऊँट तो कोई नहीं होता जो ऊँट का पुत्र न हो।" तात्पर्य यह है कि महापुरुषों का बोलना और हँसना सब विचार के अनुसार ही होता है तथा वह गुणरहित नहीं होता। किन्तु यदि कोई सामान्य पुरुष उन्हें देखकर स्वय भी ऐसा स्वभाव बनाले और उनके भेद को न समझ सके तो निःसन्देह पापी होता है।

९. किसी की हँसी करके उसे दुःख पहुँचाना और उसकी क्रियाओं के दोष प्रकट करके लोगों को हँसाना—यह नवाँ विघ्न है। यह भी अत्यन्त निन्दनीय है। इसी पर प्रभु ने कहा कि किसी के छिद्र को देखकर हँसो मत, क्योंकि सम्भव है, वह तुम से अच्छा ही हो और तुम उसकी अपेक्षा नीच गति को प्राप्त हो जाओ। महापुरुष भी कहते है कि जब कोई अभिमानपूर्वक किसी के अवगुण देखकर हँसता है तब मरने से पहले ही उसमें वह अवगुण अवश्य आ जाता है।

१०. अपने वचन को न निभाना—यह दसवाँ अवगुण है। यह भी बड़ा भारी पाप है। इस विषय में महापुरुष कहते है कि जो पुरुष मिथ्या भाषण करता है, अपने वचन का निर्वाह नहीं

करता अथवा किसी की चीज चुरा लेता है, वह कपटी है। ऐसा पुरुष यदि जप, तप एवं व्रत आदि भी करता है तो भी भगवान् से विमुख ही होता है। सन्तजन कहते हैं कि किसी के साथ वचनबद्ध होना एक प्रकार का ऋण ही है। अतः उससे विपरीत न होना ही अच्छा है। धर्मशास्त्र में भी कहा है कि जैसे किसी को कुछ देकर फिर लौटा लेना अनुचित है उसी प्रकार वचन देकर उसे न निभाना भी अनुचित ही है।

११. झूठ बोलना और झूठी गवाही देना—यह ग्यारहवाँ विघ्न है। यह तो बड़ा भारी पाप है। इस विषय मे महापुरुष का कथन है कि झूठ से मनुष्य का पुण्य घट जाता है। ऐसा भी कहा है कि व्यवसाय में झूठ बोलना या झुठी गवाही देना बड़ी नीचता की बात है। इसी पाप के कारण व्यापारी और दूकानदारों को नरक में जाना पड़ेगा। यही नही, ऐसा भी कहा है कि झूठा आदमी तो व्यभिचारी से भी बुरा है, क्योंकि मनुष्य से व्यभिचार तो अकस्मात् धोखे में भी हो जाता है, किन्तु झूठ तो जान-बूझ कर उद्देश्य को मलिनता के कारण ही बोला जाता है। याद रखो, झूठ का निषेध इसलिये किया है कि इसके कारण हृदय अन्धा हो जाता है। हाँ, यदि झूठ बोलने का कोई विचार न हो, किन्तु किसी विशेष प्रयोजन से अकस्मात् निकल जाय तो ऐसा मिथ्या-भाषण क्षम्य भी हो सकता है। तात्पर्य यह है कि मिथ्याभाषण का कोई विचार न होनेपर भी यदि किसी की भलाई अथवा रक्षा करने के लिये झूठ बोला जाय तो उससे हृदय अन्धा नहीं होता। जैसे मान लो, कोई असहाय पुरुष किसी अत्याचारी के भय से कही छिपा हुआ है और तुम्हें उसका पता है। ऐसी स्थिति में यदि वह अत्याचारी उसके विषय में तुमसे पूछे कि अमुक मनुष्य कहाँ है तो उस समय झूठ बोल देना ही अच्छा है। अथवा यदि दो मनुष्यों में परस्पर विरोध हो और तुम्हारे मिथ्याभाषण करने

से उनका विरोध निवृत्त हो जाय तो ऐसी स्थिति में झूठ बोलना बुरा नहीं। या तुम्हें किसी का कोई अवगुण मालूम हो और कोई व्यक्ति उसके अवगुण के विषय में तुमसे पूछे उस समय भी उसे स्पष्ट न कहकर छिपा लेना ही अच्छा है। अथवा कोई दुष्ट पुरुष किसी के धन आदि के विषय में पूछे तो भी स्पष्ट न बताना ही उचित है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि झूठ बोलना अनुचित ही है तो भी विचार करने पर यदि मालूम हो कि इस समय झूठ बोलने से किसी की रक्षा होती है अथवा कोई बड़ा विघ्न निवृत्त होता है तो उस समय झठ बोल देने में कोई दोष नहीं है। किन्तु यदि अपने मान या धन के लिये मिथ्या भाषण किया जाय तो वह निन्दनीय ही है। यहाँ एक बात और ध्यान देने की है कि जब जिज्ञासुओं ने देखा है कि इस समय झूठ बोले बिना निर्वाह नहीं होगा तो उन्होने ऐसा यत्न किया है जिसमें कोई झूठा शब्द भी न बोला जाय और सामनेवाला व्यक्ति कुछ का कुछ समझ ले। जैसे एक बार एक भगवत्प्रेमी बहुत दिनों पश्चात् राजा से मिलने के लिये गया। तब राजा ने पूछा तुम इतने दिनों पश्चात् कैसे आये? इस पर उसने कहा, "जिस दिन से मै आपके पास से गया हूँ उस दिन से मैने अपना शरीर पृथ्वो से तभी उठाया हैं जब भगवान् ने मुझे शक्ति दी हैं।" इससे राजा तो समझा कि इन्हें सम्भवतः कोई रोग हुआ होगा, अब रोगमुक्त होकर शक्ति प्राप्त होने पर यहाँ आये है। किन्तु उनका कथन इस दृष्टि से भी ठीक ही है कि सामान्य रूप से भी जब-जब भगवान् शक्ति देते है तभी-तभी यह शरीर चलने-फिरने में समर्थ होता है। इसी प्रकार एक और भगवत्प्रेमी थे। उन्होने अपने शिष्य को समझा दिया कि जब मै भगवद्भजन में बैठ जाऊँ उस समय यदि कोई मेरे विषय में पूछे तो पृथ्वी पर रेखा खींचते हुए कह देना कि यहाँ तो है नही। फिर यदि वह पूछे कि कहाँ

गये है तो कह देना, "किसी पूजागृह में होंगे।" घर के भीतर ही उन्होंने पूजागृह भी बना रखा था। एक और भी भगवत्प्रेमी थे। वे एक राजा के प्रधान होकर किसी देश के शासन के लिये गये हुए थे। जब घर लौटकर आये तो उनकी स्त्री ने पूछा कि हमारे लिये आप क्या लाये है? उन्होंने कहा, "मेरे साथ एक चौकीदार और था, इसलिये मै कोई चीज ला नहीं सका।" इससे उनका तात्पर्य तो यही था कि अन्तर्यामी भगवान् मेरे साथ थे, किन्तु स्त्री ने समझा कोई राजकर्मचारी साथ होगा, इसलिये कोई चीज नहीं लाये। किन्तु याद रखो, ऐसी बात भी तभी कहनी उचित है जब ऐसा किये बिना निर्वाह न हो। यदि कोई सर्वथा ऐसा ही स्वभाव बना ले तो यह उचित नहीं, क्योंकि यद्यपि ऐसे शब्द सत्य ही होते है, तथापि इनका उद्देश्य तो दूसरे को धोखा देना ही होता है। इसलिये इन्हें निर्दोष नहीं कह सकते। एक महापुरुष का ऐसा भी कथन है कि भगवान् की शपथ करना भी महापाप है। अथवा यदि कोई पुरुष कहे कि भगवान् जानते है, यह बात ऐसी ही है, किन्तु वास्तव में वह वैसी हो नहीं, तब वह कथन भी महापापरूप है।

१२. वाणी का बारहवाँ विघ्न है निन्दा। यह ऐसा प्रबल विघ्न है कि प्रायः सभी से हो जाता है। इससे तो जिसकी भगवान् ही रक्षा करे, ऐसा कोई विरला पुरुष ही मुक्त रहता है। भगवान् कहते है कि निन्दा ऐसी बुरी चीज है कि जैसे कोई अपने बन्धु ही का माँस भक्षण करे। महापुरुष का भी कथन है कि निन्दा व्यभिचार से भी बुरी है, क्योंकि व्यभिचार का त्याग करने पर तो भगवान् तत्काल उसे शुद्ध कर देते है किन्तु निन्दा के पाप से तो तभी छुटकारा मिलता है जब उस व्यक्ति से क्षमा करा ले जिसकी कि निन्दा की हो। एक भगवत्प्रेमी ने कहा है कि एक बार मैंने महापुरुष से सर्वोत्तम सदुपदेश पूछा था। उस समय उन्होंने कहा

कि छोटे से छोटे शुभ कर्म को भी अल्प न समझे। यदि किसी प्यासे को एक कटोरा जल देने का अवसर प्राप्त हो जाय तो उसे भी भगवान् का उपकार माने। सब पुरुषों के प्रति प्रसन्नता का भाव रखे तथा किसी की भी निन्दा न करे। निन्दा का लक्षण यह है कि बात भले ही सच्ची हो, किन्तु यदि उससे किसी के हृदय को खेद पहुँचता है तो उसे कहना निन्दा के ही अन्तर्गत है। जैसे किसी लम्बे से 'लम्बा', काले से 'काला' अथवा अन्धे से 'अन्धा' कहा जाय तो यह निन्दा ही मानी जायगी। अथवा किसी छोटी जाति के पुरुष से उसकी जाति का नाम लेकर बोलना, दासीपुत्र से 'दासीपुत्र' कहना, बहुत बोलनेवाले से 'वाचाल' कहना, चोर को 'चोर' कहकर पुकारना तथा किसी को नास्तिक, मूर्ख, अपवित्र, कृपण, बेईमान, असंयमी, आलसी, गन्दा या चञ्चल कहना भी निन्दा के ही अन्तर्गत है। तात्पर्य यह कि बात चाहे ठीक ही हो तथापि जिसे सुनकर उसके चित्त में ताप हो वह उस व्यक्ति की निन्दा ही होगी। इस विषय मे महापुरुष की सहधर्मिणी का कथन है कि एक बार मैने एक स्त्री के विषय में कहा था कि वह बौनी है। इस पर महापुरुष ने कहा कि ऐसा कहकर तुमने उसकी निन्दा की है, तुम तुरन्त थूक दो। किन्तु जब मैने थूका तो मेरे मुख से खून निकला।

फिर भी कुछ स्थूलबुद्धि पुरुषों का आग्रह है कि दुष्कर्मियों की बुराई करना निन्दा नहीं है, क्योंकि ऐसा करने से धर्म की वृद्धि होती है। किन्तु उनका यह कथन ठीक नहीं। अथवा यदि कोई ऐसा ही अवसर आ जाय कि वहाँ किसी का दोष बताने से उस का हित होता हो तो ऐसा कर सकते है। किन्तु बिना प्रयोजन वैसा कहना उचित नही। साथ ही, यह भी ध्यान रखना चाहिये कि निन्दा केवल वाणी से ही नही होती, अपितु नेत्र, हाथ या किसी भी अङ्ग से सकेत करके यह दिखाने से भी कि अमुक व्यक्ति

ऐसा है, हो सकती है। यह भी त्याज्य है। तथापि किसी का नाम न लेकर यदि ऐसा कहा जाय कि किसी व्यक्ति ने ऐसा काम किया है तो यह निन्दा नही कहलाती।

परन्तु कोई-कोई विद्वान् और तपस्वी तो महापुरुषों की निन्दा करके भी कहते है कि हमने निन्दा नही की। वे अपनी गोष्ठी में बैठकर चर्चा करते है, "भाई, यह माया बडी ठगिनी है, इसके छल से छूटना बड़ा कठिन काम है। इसीसे देखो, अमुक व्यक्ति यद्यपि था तो बड़ा ही सज्जन तथापि माया की अमुक चाल में फँस गया। सो, उसे क्या दोष दिया जाय, हम-तुम भी तो माया से छले ही हुए है। वास्तव में यह माया ऐसी ही विघ्नरूप है।" इस प्रकार के कथन का अभिप्राय प्रायः अपनी निन्दा के व्याज से दूसरे की निन्दा करना होता है। यह बड़ी भूल की बात है। यदि कोई व्यक्ति आकर इन लोगों से कहता है कि अमुक व्यक्ति से यह अपकर्म हो गया तो ये बड़े आश्चर्यचकित होकर कहते है, "भगवान् क्षमा करे, यह तो बड़ी असम्भव-सी बात हो गयी जो ऐसा गुणी आदमी भी माया के छल मे फँस गया।" किन्तु ऐसा कहने में उनका अभिप्राय यही रहता है कि इस सवाद को सुनने-वाला पुरुष उत्साहित होकर इसका सविस्तार वर्णन करे और हम सब लोग उसे ध्यान देकर सुने। अथवा कभी वे ऐसा कहते है, "भाई भगवान् से सब प्रकार डरना चाहिये। अभिमान करना किसी भी अवस्था में ठीक नहीं है। देखो, अमुक पुरुष कैसा सज्जन था, फिर भी वह माया के जाल मे पड़ गया। भगवान् उसकी रक्षा करे।" इस प्रकार यद्यपि मुख से तो वे ऐसी सहानु-भूतिपूर्ण बाते कहते है, किन्तु उनका उद्देश्य यही होता है कि सब लोगो को उस व्यक्ति के अधःपतन का पता लग जाय। यह सब निन्दा ही के अन्तर्गत है और ऐसा महान् कपट है कि दम्भपूर्वक अपने को सर्वथा अनिद्य प्रकट करना चाहता है। ऐसे व्यक्ति को दो

पाप लगते हैं—(१) निन्दा और (२) कपट । किन्तु मूर्ख समझता है कि मैंने निन्दा नहीं की । यह बात तो प्रसिद्ध ही है कि निन्दा करने वाला और निन्दा सुननेवाला दोनों समान रूप से पाप के भागी होते हैं । किन्तु जब निन्दा सुननेवाले के चित्त में ग्लानि रहे और वह निंदक को रोकने का सामर्थ्य न रखता हो तो ऐसी स्थिति में उसे निन्दा सुनने का दोष नहीं लगता । अतः जिज्ञासु को उचित है कि यथासम्भव निन्दक को निन्दा करने से रोक दे ।

इसके सिवा जैसे मुख से निन्दा करना पाप है उसी प्रकार हृदय से भी निन्दा करना पापरूप ही है । किसी के दोष को चित्त में स्मरण करना—यह हृदय से निन्दा करना कहलाता है । यह भी बहुत बड़ा पाप है । इस विषय में महापुरुष का कथन है कि दूसरे का द्रव्य चुराना, किसी की हिंसा करना और किसी के विषय में बुरा अनुमान करना—ये तीनों बहुत बड़े पाप हैं । किन्तु यदि ऐसा कोई संकल्प अकस्मात् फुर आवे और तुम उसे बुरा समझकर निवृत्त करने का प्रयत्न भी करो तो, तुम्हें उसका पाप नहीं लगेगा । इसकी यही परीक्षा है कि जब तुम्हारे चित्त में किसी के दोष का संकल्प स्फुरित हो अथवा तुम किसी के मुख से वैसी बात सुनो, तो फिर उसके विषय में कोई छानबीन करने की तुम्हारी प्रवृत्ति न हो और तुम्हारे हृदय में ही वह बात लीन हो जाय । उस समय तुम्हें यही सोचना चाहिये कि जिस प्रकार मेरे मन में अनेकों पाप उठते रहते हैं वैसे ही अन्य मनुष्यों का भी सर्वथा निष्पाप होना बहुत कठिन है । और जिस प्रकार मैं अपने पापों को छिपाना चाहता हूँ उसी प्रकार मुझे दूसरे के पापों को भी प्रकट नहीं करना चाहिये । तथा मैं किसी के दोषों को स्पष्ट जान ही लूँगा तो उस से मुझे क्या लाभ होगा ? अतः उन्हें जानने का प्रयत्न करना व्यर्थ ही है । हाँ, यदि तुम्हें किसी के भी कोई दोष निश्चित रूप से मालूम हो जायँ तो उसे तुम्हें एकान्त में नम्रतापूर्वक समझा देना

चाहिये; किसी के भी आगे उसके छिद्रों का वर्णन नहीं करना चाहिये ।

याद रखो, निन्दा की अभिलाषा भी मनुष्य के हृदय का एक रोग है । अतः इसका उपाय करना भी बहुत आवश्यक है । यह उपाय दो प्रकार का है । इनमें पहला उपाय सार्वभौम है अर्थात वह सब प्रकार की निन्दावृत्ति को नष्ट करने में समर्थ है । उसके भी दो भेद है—प्रथम तो यह कि निन्दा का निषेध करने के लिये महापुरुष ने जो-जो वचन कहे है उनका बार-बार विचार करे और ऐसा समझे कि निन्दा करनेवाले के सम्पूर्ण शुभ कर्मो का फल उसी को प्राप्त होता है जिसकी कि वह निन्दा करता है । इस प्रकार निन्दक पुरुष सर्वथा पुण्यहीन रह जाता है । महापुरुष का कथन है कि जैसे अग्नि सूखी घास को भस्म कर डालती है वैसे ही निन्दा से सम्पूर्ण सुकृत तत्काल नष्ट हो जाते है । दूसरा भेद यह है कि अपने अवगुणों का विचार करे और ऐसा समझे कि जिस प्रकार मै अवगुणों के अधीन हूं वैसे ही और मनुष्य भी उनसे सर्वथा शून्य नहीं हो सकते । क्योंकि भगवान् की माया अत्यन्त प्रबल है । यदि किसी को अपना कोई अवगुण दिखायी न दे तो समझना चाहिये कि यह अवगुण न दीखना ही बहुत बड़ा अवगुण है । और यदि वास्तव में कोई पुरुष सर्वथा निर्दोष और गुणसम्पन्न हो तब तो उसे भगवान् का उपकार मानकर धन्यवाद करना चाहिये और निन्दा से दूर रहना चाहिये । तथा यह समझना चाहिये कि यदि मै किसी की निन्दा करूँगा तो वह भी भगवान् की ही निन्दा होगी, क्योंकि सबको उत्पन्न करनेवाले तो वे ही है । अतः जैसे कारीगरी की निन्दा करने से कारीगर की ही निन्दा होती है उसी प्रकार मनुष्यों की निन्दा करने से भी भगवान् की ही निन्दा होती है । इस प्रकार प्रथम उपाय के ये दोनो भेद समग्र रूप से सभी प्रकार की निन्दा से मुक्त कर देने वाले है । दूसरे

उपाय के कई भेद है, उनको निन्दा के विभिन्न कारणों को दृष्टि में रख कर प्रयोग किया जा सकता है । अतः पहले जिज्ञासु को यह विचारना चाहिये कि मै निन्दा क्यों करता हूँ । निन्दा के ऐसे आठ कारण होते है । उनके अनुसार उनकी निवृत्ति के भी भिन्न-भिन्न उपाय है । आगे हम उनका पृथक्-पृथक् विवेचन करते है—

१. निन्दा का प्रथम कारण क्रोध है । जब यह मनुष्य किसी पर कुपित हो जाता है तो उसकी निन्दा करना चाहता है । जब ऐसा हो तो जिज्ञासु को यह विचारना चाहिये कि दूसरे पर क्रोध करने के बदले अपने को नरकगामी करना तो बड़ी मूर्खता की बात है । यदि वह भली प्रकार विचार करेगा तो उसे मालूम होगा कि अपनी ऐसी प्रवृत्ति के लिये तो उसे अपने पर ही क्रोध करना चाहिये । इस विषय में महापुरुष का भी कथन है कि जब यह पुरुष भगवान् की प्रसन्नता के लिये अपने क्रोध को शान्त कर लेता है तब इस पर प्रभु कृपा करते है ।

२. जब यह पुरुष किसी को निन्दा करते देखता है तो उसकी प्रसन्नता के लिये स्वय भी निन्दा करने लगता है । इस प्रवृत्ति को दूर करने का यह उपाय है कि इसे ऐसा विचार करना चाहिये कि ऐसा करके मै लोगों की प्रसन्नता के लिये भगवान् को अप्रसन्न कर देता हूँ । यह कैसी मूर्खता है ? अतः जिज्ञासु को चाहिये कि निन्दक पुरुष को देखकर रोष धारण करे और उसके सग से दूर रहे ।

३. जब इस पुरुष का कोई छिद्र प्रकट हो जाता है तो यह उसका दोष दूसरो के मत्थे रखने का प्रयत्न करने लगता है और अपने को बचाना चाहता है । यह भी अनुचित ही है । इसे याद रखना चाहिये कि मेरी किसी चतुराई

के कारण भगवान् का रोष निवृत्त नहीं हो सकता। तथा मे जिस अपमान से बचने के लिये यह चतुराई करता हूँ उसकी अपेक्षा प्रभु का क्रोध अत्यन्त तीक्ष्ण है, और उसका मूल कारण अपने किसी अपराध का दोष दूसरे के मत्थे रखना ही है। इसके सिवा यदि कोई पुरुष अपने अपराध को दबाने के उद्देश्य से दूसरे के अपराधों का वर्णन करने लगता है तब यह उसकी मूर्खता ही होती है। जैसे यदि कोई कहे कि अमुक पुरुष भी अशुद्ध जीविका करता है और राजा का अन्न भी स्वीकार कर लेता है, इसी से मै भी ऐसा करता हूँ—तो उसका सोचना बड़ी मूर्खता की बात है, क्योंकि किसी मनुष्य का मलिन कर्म देखकर स्वय भी मलिनता में विचरना अनुचित ही है। किसी को आग में जलते देख कर स्वय भी अग्नि मे प्रवेश करना उचित तो नही कहा जा सकता। इसी प्रकार पापो को देखकर पाप मे प्रवृत्त होना अनुचित ही है।

४. कोई लोग अपनी स्तुति के लिये दूसरों की निन्दा किया करते हैं। यदि कोई कहता है कि अमुक पुरुष शास्त्र-वाक्यों का तात्पर्य नहीं समझता तथा अमुक व्यक्ति पाखण्ड नहीं छोड़ता, तो इसका तात्पर्य यही होता है कि मै बड़ा समझदार और पाखण्डशून्य हूँ। सो, ऐसी प्रवृत्ति भी ठीक नहीं। ऐसे पुरुष को समझना चाहिये कि बुद्धिमान् पुरुष तो तुरन्त मेरे कपट को पहचान लेगा और वह मेरी निष्कामता में कभी विश्वास नहीं करेगा। और जो पुरुष स्वयं ही मूर्ख है उसकी प्रीति या प्रतीति से मुझे लाभ ही क्या हो सकता है? अतः यह भी मेरी बुद्धिहीनता ही है कि मैं भगवान् के प्रति तो

अपने को लज्जित करता हूँ और पराधीन जीवों में अपना मान बढ़ाना चाहता हूँ।

५. निन्दा का पाँचवाँ कारण ईर्ष्या है। जब किसी व्यक्ति का धन और मान बहुत बढ़ जाता है तो ईर्ष्यालु पुरुष उस का उत्कर्ष सहन नहीं कर सकता। इसलिये वह उसके अवगुण ढूँढ़ने लगता है और उससे वैर ठान लेता है। किन्तु वह मूर्ख ऐसा नहीं समझता कि इस प्रकार तो मैं अपने से ही शत्रुता कर रहा हूँ, क्योंकि ऐसा करने से वह इस लोकमें तो ईर्ष्या की अग्नि में जलता रहेगा और परलोक में निन्दा आदि पापों के कारण दारुण यातनाएँ भोगेगा। अतः ऐसा पुरुष दोनों लोकों के सुखों से वञ्चित रहता है। वह मूर्ख इतना भी नहीं समझता कि प्रभु की इच्छा से जिसे धन और मान मिले है, मेरे ईर्ष्या करने से उसकी क्या हानि हो सकती है ?

६. जिनका हँसी का स्वभाव होता है उनसे भी निन्दा हो जाती है। वह यह नही समझता कि मै हँसी करके किसी व्यक्ति को जितना लज्जित करता हूँ उतना ही मुझे भी भगवान् के सामने लज्जित होना पड़ेगा। यदि वह यह जान जाय कि निन्दा और हँसी करने से परलोक में मेरी ऐसी दुर्गति होगी तो फिर ऐसी क्रिया कदापि न करे।

७. किन्ही मनुष्यों का सात्विकी हृदय किसी का कोई अव-गुण देखता है तो विषाद करने लगता है। ऐसी स्थिति में उसकी चर्चा करते हुए यदि उसका नाम भी निकल जाय तो यह एक प्रकार से निन्दा ही हो जाती है। ऐसे लोगों को समझना चाहिये कि यद्यपि अपने हृदय की कोमलता के कारण वे दयावश उस व्यक्ति में कोई

दोष नही देखना चाहते, तथापि उसका नाम प्रकट कर देने से वे उस दया के पुण्य से वञ्चित रह जाते है ।

८. कोई पुरुष यद्यपि धर्मनिष्ठ होने से ही किसी में कोई अवगुण नही देखना चाहता । किन्तु यदि वह अपने को शुद्ध समझ कर दूसरे का कोई छिद्र मालूम होनेपर आश्चर्य प्रकट करता है और यह सोचकर कि उसने ऐसी अवज्ञा क्यों की विस्मय प्रकट करते हुए दूसरे लोगों के आगे नामोल्लेख करके उसकी त्रुटि प्रकट कर देता है तो वह भी अनुचित ही है और प्रायः निन्दा ही के समान है । अतः किसी की कोई त्रुटि देखकर आश्चर्य नहीं करना चाहिये तथा विनम्र ही रहना चाहिये ।

याद रखो, निन्दा भी झूठ की तरह ही एक महापाप है । अतः किसी अत्यन्त आवश्यक कार्य के बिना निन्दा कभी नहीं करनी चाहिये । इसलिये अब मैं उन्हीं कार्यो का वर्णन करता हूँ जिनमें निन्दा करना भी उचित माना जा सकता है ।

१. यदि किसी ने इसे कष्ट पहुँचाया हो अथवा इसका धन लूट लिया हो और इसे उसके विषय में किसी से शिकायत करनी होतो वह बिना निन्दा किये तो हो ही नहीं सकती । तो भी जिस पुरुष से कहनेपर किसी प्रकार की सहायता मिलनी सम्भव न हो उससे उसकी निन्दा नहीं करनी चाहिये ।

२. जब किसी स्थान पर कोई पाप होता दिखायी दे और ऐसा जान पड़े कि यदि इसे प्रकट नहीं किया जामगा तो यह बढ़ता ही जायगा, तो ऐसी स्थिति में किसी ऐसे ऐश्वर्यवान् व्यक्ति से उसे प्रकट करे जिसके भय से वह पाप नष्ट हो जाय ।

३. यदि कोई धर्मात्मा पुरुष किसी नास्तिक या अनाचारी का सङ्ग करता हो तो उसे उसके दोप बता देने चाहिये, क्योंकि उसकी ओर से असावधान रहने पर उस धर्मात्मा की हानि हो सकती है। इसी पर महापुरुष ने भी कहा है कि तीन प्रकार के मनुष्यों की निन्दा करने में पाप नही होता—(१) अन्यायी राजा, (२) सन्तो की मर्यादा के विपरोत चलनेवाला नास्तिक और (३) प्रसिद्ध दुराचारी। इनकी कोई क्रिया गुप्त तो होती ही नही, अतः उसे कह देने में निन्दा का दोष नही होगा।

४. जब लोगों में किसी का नाम उसके अङ्गभङ्ग आदि की दृष्टि से ही प्रसिद्ध हो, जैसे—सूरदास, मन्ददृष्टि, कोढी अथवा बहिरा आदि तो उसे उसी प्रकार सम्बोधन करना भी निन्दा या पाप नही है। ऐसा कहने से वह स्वय भी अप्रसन्न नहीं होता। किन्तु यदि उसे भी किसी दूसरे नाम से पुकारे तो और भी अच्छा हो।

५. कोई लोग स्पष्ट ही निर्लज्ज होते है, जैसे नपुंसक, नर्तक और मद्यप आदि। इन्हें कोई लज्जा तो होती ही नहीं। अतः अपनी करनी की बात सुनकर ये बुरा भी नहीं मानते। इसलिये संयोगवश इनकी चर्चा हो जाने पर भी निन्दा का दोष नहीं होता। निन्दा तो वही होती है जिसे सुनकर किसी के हृदय में ताप हो।

अतः भगत्प्रेमी पुरुषो को चाहिये कि जब इससे ऐसा कोई अपराध बन जाय तो तुरन्त ही उसे क्षमा करावे तथा अपने पाप का प्रायश्चित कर ले। महापुरुष ने भी कहा है कि इसी लोक में अपने पापों को क्षमा करा लो, क्योकि परलोक में जब इसे उनका विशेष दण्ड मिलेगा तब इसके पास उनके प्रायश्चित की कोई सामग्री नहीं होगी। इसके सिवा उनके एक वचन में यह भी आया

है कि जिस पुरुष की इसने निन्दा की हो उसके निमित्त भगवान् से प्रार्थना करके उससे क्षमा माँगे । पर कुछ मनुष्यों ने इस बात पर जोर दिया है कि जिसकी निन्दा की हो उससे क्षमा माँगने की आवश्यकता नहीं, उसकी अपेक्षा भगवान् से प्रार्थना करना ही श्रेष्ठ है । किन्तु यह बात ठीक नहीं, भगवान् के ही आगे प्रार्थना करना तो तब ठीक हो सकता है जब वह व्यक्ति जीवित न हो, अथवा बहुत दूर हो । किन्तु जब यह मिल सकता हो तब तो नम्रता और दीनता सहित उसी से क्षमा माँगना अच्छा है । ऐसा करने पर भी यदि वह क्षमा न करे तब तो उसी को पाप होता है ।

१३. किसी की बात में छिद्र ढूँढ़ना अथवा उसकी चुगली करना तेरहवाँ विघ्न है । यह बड़ा भारी पाप है । महापुरुष का कथन है कि चुगली करनेवाला पुरुष कभी सुखी नही होता । तथा ऐसा भी कहा है कि चुगली करनेवाला सब की अपेक्षा नीच है । इस विषय में एक कथा प्रसिद्ध है । कहते है, एक बार एक देश में दुर्भिक्ष हुआ । तब महात्मा मूसा और उस देश के लोग मिलकर भगवान् से प्रार्थना करने लगे । उस समय मूसा को आकाशवाणी हुई कि तुम्हारे देश में एक चुगल है, उसी के पाप से वर्षा नहीं होती । मूसा ने पूछा, "वह चुगल कौन है ?" इस पर आकाशवाणी हुई कि मै तो चुगल को अपना शत्रु मानता हूँ, अतः यह कह कर कि अमुक व्यक्ति चुगल है, मै ही उसकी चुगली कैसे कर सकता हूँ ? इसका उपाय तो यही है कि तुम सब लोगों को चुगली करने से रोक दो । बस, तुरन्त वर्षा हो जायगी । इस पर उन्होने वैसा ही किया और फिर बड़ी भारी वर्षा हुई एवं दुर्भिक्ष दूर हो गया ।

एक प्रसङ्ग और भी है । कहते है, एक भगवत्प्रेमी दो हजार कोश की यात्रा करके एक बुद्धिमान् के पास पहुँचा और उससे ये प्रश्न किये:—

१. आकाश से भी विशाल क्या है ?

२. धरती से भारी क्या है ?

३. पत्थर से अधिक कठोर क्या है ?

४. अग्नि से भी अधिक तीक्ष्ण क्या है ?

५. बर्फ से भी अधिक शीतल क्या है ?

६. समुद्र से भी उदार क्या है ?

७. जिस बालक के माँ-बाप मर गये हों उससे अधिक निर्मान और दुःखी कौन है ?

तब उस बुद्धिमान् ने उसे ये उत्तर दिये—

१. सत्य वचन आकाश से भी विशाल है ।

२. निर्दोष मनुष्य को दोष लगाने का पाप पृथ्वी से भी अधिक भारी है ।

३. मनमुखों का हृदय पत्थर से भी ज्यादा कठोर होता है ।

४. ईर्ष्या अग्नि की अपेक्षा भी तीक्ष्ण है ।

५. भाव और सहनशीलता बफ से भी अधिक शोतल होती है ।

६. सन्तोषी पुरुष समुद्र से भी अधिक उदार होता है ।

७. चुगली करनेवाला मनुष्य मात-पितृहीन बालक की अपेक्षा भी मानहीन होता है । चुगली का अर्थ है—वचन, कर्म अथवा सकेतद्वारा किसी के आगे किसी अन्य व्यक्ति के दोष को प्रकट करना और उसके चित्त को चोट पहुँचाना । यह बड़ा भारी पाप है । अतः जिज्ञासु को चाहिये कि किसी का पर्दा न उघाड़े । हाँ, किसी विशेष परिस्थिति में उसे प्रकट करना भी आवश्यक होता है ।

इसके सिवा यदि कोई पुरुष तुम्हारे पास आकर कहे कि अमुक व्यक्ति तुम्हारा बुरा चाहता है, या तुम्हारे लिये दुवचन कहता है तो उसे चुगली से निवृत्त करने के लिये तुम्हें इन युक्तियों का आश्रय लेना चाहिये ।

१. प्रायः चुगल और दुराचारी पुरुष झूठे होते है, अतः उनके कथन पर विश्वास करना ठीक नहीं ।
२. यदि अपना अधिकार हो तो उसे चुगली करने से रोक दो।
३. चुगली करनेवाले पुरुष से मित्रता मत करो ।
४. जब किसी के दोष की बात सुनो तो बिना देखे उसके विषय में कोई दूषित अनुमान करना बहुत बुरा है ।
५. किसी की बुराई सुनकर यह खोज न करे कि यह बात सत्य है या झूठ ।
६. चुगली करनेवाले पुरुष के विषय में भी किसी से यह न कहे कि यह चुगल है। अर्थात् गम्भीरतापूर्वक उसके दोष को छिपा ले ।

इस प्रकार सभी को इन छः युक्तियों से काम लेना चाहिये । इस विषय में एक प्रसङ्ग भी है । एक बुद्धिमान् से किसी ने आकर कहा कि अमुक व्यक्ति तुम्हारी निन्दा करता है । इस पर उसने कहा, "यद्यपि तुम हमारे दर्शनों के लिये आये हो, तथापि तुमने तीन पाप इसी समय किये है—(१) तुमने मुझे उसके ऊपर क्रुद्ध, किया, (२) मेरे चित्त को विक्षेप में डाला और (३) तुम स्वयं भी चुगली करनेवाले बने । इसी से हसन बसरी नाम के एक सन्त ने कहा है कि यदि कोई मनुष्य तुम्हें किसी के दोष सुनाता है तो निःसन्देह जानो कि वह तुम्हारी बात भी दूसरों को जाकर सुनावेगा । अतः उसे अपना शत्रु और निन्दक समझकर उसकी संगति त्यागो । तात्पर्य यह है कि चुगली करनेवाले से कितने ही जीवों का घात होता है । कहते है, किसी पुरुष ने एक दास मोल लिया । उस समय दास बेचनेवाले ने उससे कहा कि इसमें कोई और दोष तो है नहीं, किन्तु यह चुगली और वाक्यछल (बनावटी बाते) अवश्य करता है । इस पर वह बोला, "खैर, इतने दोष की क्या बात है ?" बस, अब वह दास उसके घर में रहने लगा । एक

दिन उसने अपने स्वामी की पत्नी से कहा कि तुम्हारे पति दूसरा विवाह करना चाहते है और तुमसे उनका चित्त फिरा हुआ है। सो, एक काम करना। जब वे सो जायँ तो उनके गले का एक बाल काट कर मुझे दे देना। मै एक ऐसा मन्त्र पढ दूँगा, जिससे तुम्हारे साथ उनका प्रेम सब प्रकार अटल हो जायगा। स्त्री से ऐसा कह-कर उधर स्वामी को यह समझाया कि तुम्हारी पत्नी का प्रेम किसी अन्य पुरुष से लगा हुआ है और वह तुम्हे मारना चाहती है अतः रात को जब तुम शयन करो तो सावधान रहना। बस जब रात हुई तो स्वामी घर आकर शय्या पर लेट गया, किन्तु बीच-बीच में जागता रहा। इसी समय उसकी स्त्री उस्तरा लेकर आयी और उसके गले का बाल काटने लगी। किन्तु पति ने समझा यह मेरा गला काटना चाहती है। अतः वह कुपित होकर स्त्री को पीटने लगा। यह बात जब स्त्रो के सम्बन्धियों ने सुनी तो वे वहाँ आकर उस पुरुष को पीटने लगे। इस प्रकार दोनों ओर के सम्बन्धियों में परस्पर युद्ध छिड़ गया और कई लोग मारे गये। यह है एक चुगल की बात में विश्वास करने का परिणाम।

१४. दो विरोधियों के साथ वाक्यछल करना और अपनी-अपनी जगह दोनों ही का मित्र होकर दिखाना यह चौदहवाँ विघ्न है और चुगली से भी बड़ा पाप है। इस विषय में महापुरुष का कथन है कि इस लोक में जिसका स्वभाव वाक्यछल का होगा, परलोक मे उसे दो जीभे मिलेगी, जिनके कारण उसे बहुत दुःख होगा। अतः बुद्धिमान पुरुष को चाहिये कि जब दो विरोधी व्यक्तियो से मिले तब दोनो की बाते सुनकर मौन रहे। अथवा जो यथार्थ बात हो उसे कह देना भी अच्छा है। किन्तु एक की बात दूसरे से कहना अच्छा नही। तथा कपटपूर्वक दोनों ही को मित्र बनकर दिखाना भी बहुत बुरा।

१५. किसी की व्यर्थ स्तुति करना—यह पन्द्रहवाँ विघ्न है।

इससे छः पाप और उत्पन्न होते है, जिनमें से दो सुननेवाले को लगते हैं और चार कहनेवाले को। कहनेवाले को चार पाप इस प्रकार लगते हैं—

१. जब वह किसी की योग्यता से अधिक स्तुति करता है तो उसमें निःसन्देह असत्य रहता ही है।
२. यदि वह प्रीति के बिना ही स्तुति करता है तो वह एक प्रकार का कपट ही है।
३. जिसके गुणों का अपने को पता न हो उसकी स्तुति करना भी अनुचित ही है। जैसे बिना जाने ही किसी को विरक्त या पुण्यकर्मा कह डालना मिथ्या भाषण ही है।
४. यदि किसी तामसी पुरुष की स्तुति की जायगी तो वह उससे प्रसन्न होकर और भी अधिक तमोगुण की ही वृद्धि करेगा। सो, यह भी अच्छा नहीं। इसी पर महापुरुष ने कहा है कि जब कोई तामसी पुरुष की स्तुति करता है तब उस पर भगवान् कुपित होते है।

ये तो हुए स्तुति करनेवाले को लगनेवाले पाप। अब स्तुति सुननेवाले के पाप बतलाते है।

१. जो पुरुष अपनी स्तुति या प्रशंसा सुनता है वह स्वभाव से ही अभिमानी हो जाता है।
२. जब कोई पुरुष अपने गुण और विद्या की प्रशंसा सुनता है तो वह आगे शुभ कर्मों में प्रवृत्त होने से रुक जाता है और ऐसा समझ बैठता है कि मुझे तो परमपद प्राप्त हो गया। इसी पर महापुरुष ने कहा है कि तीक्ष्ण शस्त्र से प्रहार करना तो अच्छा है, किन्तु किसी के मुख पर उसकी स्तुति करना अच्छा नहीं, क्योंकि जब वह पुरुष अपनी प्रशंसा सुनता है तब उसका मन उसे अपने स्थान से गिरा देता है। किन्तु बुद्धिमान् तो अपने को

पहचानता है, अतः जब वह अपनी स्तुति सुनता है तब और भी अधिक विनयी हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि जब कहने और सुननेवाला इन छः पापों से रहित हो तब स्तुति करने मे कोई दोष नही। किन्तु अपने ही मुख से अपनी स्तुति करना तो बड़ी भारी नीचता है। इसे तो शास्त्रों में भी निन्दनीय कहा है।

अतः जिज्ञासु को चाहिये कि जब कोई इसकी स्तुति करे तो अपनी महिमा सुनकर अभिमान न करे, ऐसा समझे कि यदि मै परलोक के दुःखों से मुक्त नही होऊँ तब तो मेरी अपेक्षा शूकर-कूकर भी अच्छे है। इसलिये अपनी स्तुति सुनकर तो लज्जित ही होना चाहिये तथा अपनी नीचता को ही सामने लाना चाहिये। कहते है, कोई पुरुष एक सन्त की स्तुति करने लगा। तब वे अत्यन्त दीन होकर भगवान् से प्रार्थना करने लगे कि प्रभो ! यह पुरुष तो मुझे नहीं जानता, किन्तु आप तो अच्छी तरह जानते है। अतः आप ही मुझे क्षमा करे। इसी प्रकार एक और सत की भी जब किसी ने प्रशसा की तो वे कहने लगे, "भगवान् ! यह पुरुष जो मेरी प्रशसा करता है, इसका दण्ड आप मुझे न दे। और इसे जो मेरे दोषों का पता नहीं है, उन दोषो को भी आप ही निवृत्त करे। तथा यह जैसा मुझे समझता है, कृपा करके उससे भी अधिक गुणवान् आप मुझे बनाएँ।" एक पुरुष ऐसा था जिसके हृदय मे यद्यपि प्रीति या विश्वास कुछ भी नहीं था, पर सामने आनेपर उसने कपटपूर्वक एक महात्मा की बहुत स्तुति की। तब महात्मा ने उससे कहा, "भैया ! तू मुख से जैसा कहता है उससे तो मैं अत्यन्त निकृष्ट हूँ। हाँ, हृदय मे जैसा समझता है उसकी अपेक्षा निःसन्देह उत्कृष्ट हूँ।"

चौथी किरण

क्रोध और ईर्ष्या के दोष तथा उनकी निवृत्ति के उपाय

(क्रोध और उसकी निवृत्ति के उपाय)

क्रोध भी अत्यन्त मलिन स्वभाव है। इसका बीज अग्नि है। किन्तु यह ऐसा अग्नि है जो शरीर को नहीं, हृदय को जलाता है। इससे ऐसा विक्षेप उत्पन्न होता है कि चित्त कभी शान्त नहीं होता। और शान्ति ही सारे शुभ कर्मों का फल है। कहते हैं, एक बार किसी प्रेमी ने महापुरुष से पूछा कि मैं भगवान् के कोप से किस प्रकार छुटकारा पाऊँगा ? उन्होंने कहा कि जब तू किसी पर भी क्रोध नहीं करेगा तो प्रभु के क्रोध से भी मुक्त रहेगा। फिर जब उस प्रेमी ने पूछा कि मुझे कोई ऐसा कर्म बताइये जिसमें क्रिया तो थोड़ी, किन्तु उसका फल महान् हो, तब भी उन्होंने यही कहा कि क्रोध से रहित होना ही बहुत अधिक फलदायक है तथा इसमें क्रिया भी बहुत कम है। महापुरुष ने यह भी कहा है कि जैसे शहद को खटाई नष्ट कर देती है वैसे ही क्रोध से धर्म नष्ट हो जाता है। तात्पर्य यह कि यद्यपि क्रोध से सर्वथा छुटकारा पाना तो अत्यन्त कठिन है, तो भी जिज्ञासु को यह तो चाहिये ही कि जहाँ तक बने यत्न करके क्रोध का वेग सहन करे। जिन पुरुषों ने धैर्यपूर्वक क्रोध को जीता है उनकी भगवान् ने भी प्रशंसा की है।

ऐसा भी कहा है कि विचार की मर्यादा से रहित होकर क्रोध करना साक्षात् नरक का द्वार है। अतः अपने क्रोध को भक्षण करना ही सब से अच्छा आहार है। तथा कई सन्तजनों ने मिल-कर यही सिद्धान्त निश्चित किया है कि क्रोध के समय धैर्य रखना और लोभ के अवसर पर सन्तोष करना बड़ी वीरता का काम है। कहते है, एक ऐश्वर्यशाली सन्त थे। कोई दुष्ट उनके पास आकर दुर्वचन कहने लगा। किन्तु वे अपना सिर नीचा किये चुपचाप सुनते रहे। फिर उस दुष्ट से बोले कि तुम मुझे क्रोधित करना चाहते हो तथा मेरे चित्त को माया के जाल मे फँसाना चाहते हो, सो मै तो ऐसा करूँगा नही। पर याद रखो, भगवान् ने यह क्रोध भी इ .लिये रचा है कि यह मनुष्य का एक शस्त्र होगा और इस शस्त्र के द्वारा वह अपने शत्रुओं का सहार करके अपने शरीर की रक्षा कर सकेगा। जैसे भूख और प्यास इसलिये बनायी गयी है जिससे शरीर अन्न और जल खींच कर पुष्ट हो सके। अतः निश्चय हुआ कि इच्छा और क्रोध ये दोनों भी मनुष्य के शस्त्र ही है। किन्तु जब ये मर्यादा से अधिक बढ़ जाते है तब दोनों ही दुःखदायक हो जाते है। जिस समय क्रोधरूपी अग्नि हृदय में प्रज्वलित होता है उस समय उसका धूआँ सारे शरीर में व्याप्त हो जाता है। उसके कारण बुद्धि और विचार भी अन्धकारग्रस्त हो जाते है और फिर मनुष्य भलाई—बुराई को भी नहीं पहचान सकता। इसीसे कहा है कि क्रोध बुद्धि का शत्रु है और अत्यन्त मलिन स्वभाव है। परन्तु यदि क्रोध का सर्वथा मूलोच्छेद हो जाय तब तो कुसङ्ग और अपकर्मों से भी ग्लानि नहीं रहेगी। इसलिये उचित यही है कि क्रोध मर्यादा में ही रहे न तो अधिक वढ़े और न सर्वथा शून्य ही हो। इसका धर्मानुकूल मर्यादा में रहना ही सबसे अच्छा है।

पहले मै कह चुका हूँ कि अत्यन्त क्रोधहीन होना भी बहुत

कठिन है तथापि कई अवसरों पर क्रोध ऐसा लीन हो जाता है कि जाना ही नहीं जाता। इसका विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है कि क्रोध का कारण मनोरथ है, सो जब कोई मनुष्य इसकी किसी प्रिय वस्तु को लेना चाहता है तो तुरन्त क्रोध उत्पन्न हो जाता है। जिस पदार्थ में इसका कोई मनोरथ नही होता उसके दूर होनेपर इसे क्रोध भी नही होता। तथा जब तक इस जीविका देह में अभिमान है तब तक यह भोजन, वस्त्र और स्थान की अपेक्षा से सर्वथा मुक्त भी नही हो सकता। इसीसे जब कोई व्यक्ति इन पदार्थों को छीनना चाहता है तो इसे निःसन्देह क्रोध उत्पन्न हो जाता है। अतः निश्चय हुआ कि प्रयोजन ही बन्धन है और प्रयोजन से रहित हो जाना ही मुक्ति है। इसीसे जब जिज्ञासु पुरुषार्थ करके पदार्थों की तृष्णा को घटावे और फिर मानादि की अभिलाषा से रहित हो जाय तब क्रोध भी स्वाभाविक ही घट जाता है। यदि कोई मानी पुरुष का आदर न करे तो उसे अवश्य क्रोध उत्पन्न हो जायगा और यदि निर्मान पुरुष से कोई आगे होकर चले अथवा उसका मान न करे तो उसे क्रोध नहीं होगा। इसीसे यद्यपि लोगों के चित्तों और अवस्थाओं में बहुत भेद होता है, तथापि सामान्यतः धन और मान की अधिकता होनेपर क्रोध भी अधिक होता है। तात्पर्य यह है कि वैराग्य, प्रयत्न और अभ्यास के द्वारा क्रोध में कमी तो बहुत आ जाती है, परन्तु वह सर्वथा निःशेष नहीं होता। और जब वह विचार की मर्यादा से अधिक न हो तो उसमें कोई दोष भी नही है। इसी पर महापुरुष ने भी कहा है कि यद्यपि मै भी और मनुष्यो के समान क्रोध करता हूँ अथवा कुछ दण्ड भी देता हूँ, तथापि इससे मेरे हृदय से दया दूर नही होती। मेरा वह क्रोध भी उसकी भलाई के लिये ही होता है। एक और सन्त ने कहा है कि जब मै क्रोध करता हूँ तब भी मेरी जिह्वा से यथार्थ वचन ही निकलता है।

परन्तु किन्हीं मनुष्यों की तो ऐसी भी स्थिति होती है कि वे सभी कार्यों का कर्त्ता-धर्ता भगवान् को ही देखते है, अतः ऐसी दृष्टि रहने के कारण उनका क्रोध क्षीण हो जाता है। जैसे यदि कोई पुरुष इसे पत्थर मारे तो यह पत्थर पर तनिक भी क्रोध नही करता और न उसे अपने दुःख का कारण ही मानता है। इसी प्रकार राजा यदि किसी पुरुष को मृत्युदण्ड देने के लिये आज्ञा पत्र लिख दे तो वह लेखनी पर कभी क्रोध नहीं करता, क्योंकि वह जानता है कि लेखनी तो राजा के हाथ में पराधीन है। इसी तरह जिन लोगों ने निश्चित रूपसे भगवान् के सामर्थ्य को जाना है वे सभी जीवों को पराधीन देखते है और जानते है कि उनके प्रेरक तो एकमात्र भगवान् ही है। इसलिये वे किसी पर क्रोध नहीं करते। वे जानते है कि यद्यपि कर्म का कारण बल है और बल का श्रद्धा, तथापि मनुष्य की श्रद्धा उसके अधीन नहीं है, वह तो भगवान् की प्रेरणा से ही उत्पन्न होती है। इसी से सन्तजनों ने कहा है कि यह मनुष्य भी पत्थर और लेखनी के समान ही पराधीन है। यद्यपि कर्म करता हुआ तो मनुष्य ही दिखायी देता है, तथापि इसमें अपना कोई सामर्थ्य नहीं है। जिन मनुष्यों में ऐसी बुद्धि दृढ़ हो जाती है वे कभी किसी पर क्रोध नही करते। वे दुःख से आक्रान्त होनेपर उद्विग्न भी हो जाते है, तथापि उन्हें किसी पर क्रोध उत्पन्न नहीं होता। दुःख से उद्विग्न हो जाना दूसरी बात है और कोध करना दूसरी। यदि अकस्मात् किसी का पशु मर जाय तो वह शोक से उद्विग्न तो होगा, किन्तु किसी पर क्रोध नही करेगा। परन्तु इस प्रकार सब जीवों को पराधीन देखना और सर्वदा इसी समझ में स्थित रहना, है बहुत दुर्लभ। सामान्यतया जीवो में विद्युत् के सामान इस दृष्टि की चमक तो होती है, किन्तु वह स्थिर नही रहती, स्थूलता की प्रबलता होने के कारण पुनः विक्षप हो जाता है। किन्तु ऐसी अवस्था प्राप्त न होने पर भी

कितने ही जिज्ञासुओं का परमार्थ में ऐसा दृढ़ अभ्यास हो जाता है कि उन्हें कभी क्रोध नही होता । जैसे किन्ही संत से जब किसी ने दुर्वचन कहा तो वे बोले, "यदि मै परलोक के दुःख से निवृत्त हो गया हूँ तब तो मुझे तुम्हारे कथन का कोई भय है नही, और यदि मुझे परलोक का दुःख भोगना ही है तब तुम जैसा कहते हो मै उससे भी नीच हूँ । ऐसी स्थिति में तो तुम्हारे कथन में कोई संदेह ही नही है ।" एक और सन्त से भी किसी ने कुछ दुर्वचन कहा । तब वे बोले, "भाई, मेरे परम सुख के मार्ग में कितनी ही घाटियाँ है जिन्हे मै पार करना चाहता हूँ । सो यदि मैने उन्हें पार कर लिया तब तो तुम्हारे कथन का मुझे कोई भय नही है, और यदि उन्हे पार न कर सका तो तुम जैसा मुझे कहते हो मै उससे भी बहुत अधिक नीच हूँ ।" इसी प्रकार किसी अन्य सन्त से भी जब किसी ने दुर्वचन कहा तो वे बोले, "भाई, मुझमें जितने अवगुण है वे तो तुम्हारी जानकारी से बहुत दूर है और उनकी कोई संख्या भी नही की जा सकती ।"

तात्पर्य यह कि कोई जिज्ञासु वैराग्य और अभ्यास में ऐसे लीन हुए है कि उन्हे क्रोध का कोई स्फुरण हो नही रहा । कहते है, एक भगवत्प्रेमी से किसी स्त्री ने कहा कि तू बडा कपटी है । तब उन्होने कहा, "तुमने मुझे ठीक पहचाना है ।" इसी प्रकार एक भगवत्प्रेमी से किसी ने कोई दुर्वचन कहा तो वे बोले, "यदि तुम्हारा कथन ठीक है तो प्रभु मेरी यह अवज्ञा क्षमा करे और यदि तुम झूठ कहते हो तो वे मेरी रक्षा करेगे ही ।" इससे निश्चय होता है कि इन सब उपायों से क्रोध जीता जा सकता है । और यदि किसी व्यक्ति की ऐसी दृढ़ धारणा हो जाय कि क्रोधहीन पुरुष को भगवान् बहुत अधिक प्रेम करते है तो वह भी प्रभु की प्रसन्नता के लिये क्रोध से रहित हो सकता है । जैसे किसी मनुष्य का कोई अत्यन्त प्रियजन हो और उसे उसका पिता या पुत्र पीड़ित करे

और वह मनुष्य यही समझे कि मेरा प्यारा ही मुझे यह पीड़ा पहुँचा रहा है, तो उसके प्रेमवश उसे पीडा का विशेष दुःख नहीं होगा और न उसके कारण उसे क्रोध ही होगा। अतः जिज्ञासु को चाहिये कि किसी ऐसी ही दृष्टि का आश्रय लेकर क्रोध का त्याग करे। यदि उससे उसका सर्वथा त्याग न हो सके तो उसकी प्रबलता को ही क्षीण करे। अर्थात् यदि वह क्रोध को मूल से ही नष्ट न कर सके तो भी इतना प्रयत्न तो अवश्य करे कि वह बुद्धि और सन्तजनों की मर्यादा का उल्लङ्घन न कर सके, क्योंकि निःसन्देह बहुत लोगों को तो यह क्रोध ही नरक में डालता है। तथा यही अनेकों विघ्नों का कारण है। अतः इसे जीतने का उपाय करना परम आवश्यक है।

यह क्रोध जीतने का उपाय दो प्रकार का है। उनमें पहला उपाय तो ऐसा उत्तम है कि वह कोध को मूल से ही उखाड़कर हृदय को शुद्ध कर देता है। तथा दूसरा उपाय मध्यम कोटिका है। वह प्रयत्नपूर्वक धीरे-धीरे कोध को निर्बल करता है। उत्तम उपाय तो यही है कि पहले कोध के कारण का विचार करे और फिर उसे मूल से ही नष्ट कर दे। कोध के कारण पाँच हो सकते है—

१. क्रोध का पहला कारण अभिमान है, क्योंकि अभिमानी पुरुष तनिक-सी बात या थोड़ा-सा निरादर होनेपर ही कुपित हो जाता है। इसकी निवृत्ति का उपाय दीनता है। यह सोचना चाहिये कि सभी जीव परमात्मा के उत्पन्न किये हुए है और एक समान है। यदि किसी को विशेषता दी जाती है तो वह शुभ गुणों के कारण ही होती है। और अभिमान तो बड़ा ही मलिन स्वभाव है तथा नीचता का ही कारण है। इसलिये वह सर्वथा त्याज्य है।

२. हँसी करना क्रोध का दूसरा कारण है। इसका उपाय यह है कि जिज्ञासु सर्वदा परलोकसम्बन्धी कार्यों में लगा

रहे, शुभ गुणों को पाने का विचार रखे और वाद-विवाद एवं हँसी-मजाक से दूर रहे । तथा अपने को इस प्रकार समझावे कि यदि कोई इस लोक मे किसी की हँसी करता है तो परलोक मे उसे भी लज्जित किया जाता है ।

३. निन्दा या दोषारोपण क्रोध का तीसरा कारण है । जब कोई इसकी निन्दा करता है, अथवा इस पर दोषारोपण किया जाता है तो दोनो ही ओर क्रोध उत्पन्न हो जाता है । इसका उपाय यह है कि अपने को निर्दोष न समझे और ऐसा जाने कि मै तो दोषों से भरपूर हूँ. फिर मै किसी पर क्रोध क्यों करूँ ? और यदि वास्तव में मुझ में कोई दोष नही है तब भी किसी के निन्दा करनेपर मुझे क्या भय है ?

४. तृष्णा और ईर्ष्या क्रोध का चौथा कारण है । क्रोधी मनुष्य से जब कोई एक दमड़ी भी माँगता या लेता है तो वह क्रोध से आग-बबूला हो जाता है । इसी प्रकार यदि तृष्णाग्रस्त पुरुष को कोई कुछ न दे तो उसे दुःख हो जाता है । सो ये सब बहुत बुरे स्वभाव है, इन्हें निवृत्त करने का उपाय यह है कि तृष्णा के विघ्न को पहचाने, क्योंकि तृष्णालु पुरुष इस लोक में भी दुःखी रहता है और पर-लोक में भी दुःख भोगता है । अतः तृष्णा को हृदय से दूर करे और ऐसे मलिन स्वभावों से विरोध करके आत्म-धर्मो में स्थित हो ।

५. क्रोधी पुरुषों की संगति क्रोध का पाँचवा कारण है । ये लोग ऐसे मूर्ख होते है कि क्रोध की अधिकता को भी बड़ा पुरुषार्थ समझते है और बड़े गर्व से कहते है कि हमने डाँट-डपट से ही अमुक पुरुष को सीधा कर दिया । अमुक

सन्त ने एक ही शापद्वारा अमुक पुरुष को भस्म कर डाला और उसका धन एवं घर सभी नष्ट कर दिया । वे कहते है कि बलवान् पुरुष का यही लक्षण है कि उसके सामने जो मुँह खोलता है उसी का सर्वनाश हो जाता है । किन्तु याद रखो, ऐसा करनेवाले पुरुष महामूर्ख है । क्रोध को तो सन्तजनों ने कुत्तों का स्वभाव बताया है और ये उसे ही बड़े महत्त्व और गौरव की बात समझते है । महापुरुषों का स्वभाव तो सहनशीलता है, जिसे ये बलहीनता का चिह्न मानते है । सो, यह सब मलिन मन का ही स्वभाव है, जो छल करके बुराई को सुन्दर और गुण को कुरूप करके दिखाता है । किन्तु बुद्धिमान् पुरुष तो निःसन्देह जानता है कि यदि क्रोध ही का नाम पुरुषार्थ होता तो रोगी, वृद्ध और स्त्रियो को तो बहुत अधिक क्रोध होता है, अतः जगत् में इन्ही की विशेषता होनी चाहिये थी । पर ऐसी बात तो है नही । वास्तव में तो क्रोध को जीतना ही पुरुषार्थ माना जाता है । और यही महापुरुषों का लक्षण भी है । क्रोधी पुरुष तो जङ्गली जीवों की तरह है । वे देखने में तो मनुष्य मालूम होते है, किन्तु स्वभाव से तो सिंह और व्याघ्ररूप ही है । अतः तुम विचार कर देखो कि महापुरुषों के लक्षण का नाम पुरुषार्थ है या पशु और मूर्खो के स्वभाव को पुरुषार्थ कहते है ।

यह क्रोधनिवृत्ति के उत्तम उपाय का वर्णन हुआ, क्योंकि इससे उसका समूल उच्छेद हो जाता है । अब दूसरे उपाय का वर्णन करते है । यह सामान्य कोटि का है, क्योंकि इसके द्वारा क्रोधरूपी कुरोग कुछ निर्बल तो पड़ जाता है, किन्तु उसका मूलोच्छेद नही होता । यह उपाय विचाररूपी मिठाई और हठरूपी

कटुता के मेल से बनी हुई औषध के समान है, क्योंकि सभी शुभ स्वभाव विचार और आचरण की एकता होनेपर ही सिद्ध होते हैं। इनमें विचार का काम तो यही है कि क्रोध की निन्दा और सहनशीलता की महत्ता के विषय में जितने वचन आये हैं बार-बार उनका मनन करे, और अपने को यह समझावे कि जिस प्रकार तू प्रबल होने के कारण किसी असहाय पर क्रोध करता है उसी प्रकार तेरी अपेक्षा श्रीभगवान् बहुत अधिक प्रबल है। अतः यदि तू किसी पर क्रोध करेगा तो तेरे ऊपर भगवान् कुपित होंगे। कहते हैं, एक बार महापुरुष के एक सेवक ने कुछ अवज्ञा की। तब उन्होंने कहा कि यदि मुझे परलोक का भय न होता तो तुझे दण्ड देता। इसके सिवा यह भी विचारना चाहिये कि मैं जो क्रोध करता हूँ उसका कारण तो यही होता है कि अमुक कार्य मेरी इच्छा के अनुसार न होकर श्रीभगवान् की इच्छा के अनुसार हुआ। सो, यह तो एक प्रकार से भगवान् के ही साथ विरोध करना है।

किन्तु जब ऐसा विचार करनेपर भी क्रोध का वेग क्षीण न हो तो इस संसार के प्रयोजन पर विचार करे और यह सोचकर क्रोध का दमन करे कि यदि मैं किसी पर क्रोध करूँगा तो वह भी मेरे विरुद्ध ही आचरण करना चाहेगा। और शत्रु को अल्प जानना उचित नहीं है। इसके सिवा क्रोध के समय तो मनुष्य का स्वरूप कुत्ते के समान हो जाता है, उस भयानक रूप का स्मरण करे। अतः उचित यही है कि ऐसे मलिन स्वभाव को त्यागकर क्षमा और धैर्य, जो सन्तजनों के स्वभाव एवं लक्षण हैं उन्हें धारण करे तथा जगत् के मान को त्यागकर प्रभु की ही प्रसन्नता चाहे। इस प्रकार अपने को समझाना ही परम बुद्धिमानी है और यही क्रोध को जीतने का उपाय है। इसका आचरण इस प्रकार किया जा सकता है कि जब क्रोध की अधिकता जान पड़े तो मुख

से ऐसा कहे, 'भगवान् ! इस क्रोधरूपी दुष्ट से मेरी रक्षा कीजिये।" तथा क्रोध के वेग के समय यदि खड़ा हो तो बैठ जाय और यदि पहले से बैठा हुआ हो हो तो लेट जाय अथवा शीतल जल से स्नान कर ले। इससे स्वाभाविक ही क्रोध का बल क्षीण हो जाता है। इस विषय में महापुरुष का भी कथन है कि यदि इस मनुष्य में क्रोध का आवेग हो तो इसे चाहिये कि प्रभु को दण्डवत् प्रणाम करे, अपने मस्तक को पृथ्वी पर रखे और ऐसा विचार करे कि मै पृथ्वी से ही उत्पन्न हुआ हूँ और यह अत्यन्त क्षमाशीला है, अतः मुझे भी क्रोध नहीं करना चाहिये। तात्पर्य यह कि जब इसे कोई दुःख पहुँचावे अथवा दुर्वचन कहे तब प्रथम तो क्षमा कर देना ही अच्छा है। और यदि ऐसा जान पड़े कि इस समय कुछ कहना ही चाहिये तो थोड़ा-सा ही उत्तर दे। तथा कठोर वचन कहने का भी अवसर न टाला जा सके, तो भी झूठ तो कहे ही नहीं।

यह सब होने पर भी जिज्ञासु के लिये तो यह उचित कहा ही नहीं जा सकता कि वह दुर्वचन के उत्तर में स्वय भी दुर्वचन कहे तथा निन्दा करनेवाले की स्वय भी निन्दा करने लगे। इसका नाम सहनशीलता नहीं है। कहते है, एक बार एक भगवत्प्रेमी से कोई दुष्ट दुर्वचन कहने लगा। उस समय महापुरुष भी उसके पास बैठे थे। किन्तु जब वह प्रेमी उस दुष्ट को कुछ बदले मे कहने लगा तो महापुरुष वहाँ से उठ कर चल दिये। इस पर उस प्रेमी ने पूछा, "महाराज ! जब वह दुष्ट मुझ से उल्टी-सीधी बाते कर रहा था तब तो आप बैठे रहे और जब मै बोलने लगा तो उठकर चल दिये।" महापुरुष ने कहा, "भाई ! जब तक तुम मौन थे तब तक देवता तुम्हारी ओर से उसे उत्तर देते थे, किन्तु जब तुम बोलने लगे तो उनकी जगह क्रोधरूपी असुर तुम्हारे भीतर आ गया। और असुरों का संग त्यागना ही चाहिये। इसीसे मै उठ खड़ा हुआ।"

इसके सिवा महापुरुष ने यह भी कहा है कि मनुष्यों की अवस्था भगवान् ने भिन्न-भिन्न प्रकार की रची है। इसी से कोई लोग तो बहुत देर में क्रोधित होते है और देर ही में प्रसन्न भी होते हैं। तथा कोई लोग बहुत शीघ्र रुष्ट हो जाते है और फिर तुरन्त ही प्रसन्न भी हो जाते है। इनमें पिछले स्वभाव के लोग ही श्रेष्ठ हैं। किन्तु यदि कोई पुरुष विचार और धैर्यद्वारा क्रोध को सर्वथा लीन कर दे तो वह सबसे अच्छा है। और यदि किसी संयोग या निर्बलता के कारण कोई व्यक्ति क्रोध को व्यक्त तो न करे, किन्तु उसके हृदय में क्षोभ बना रहे, तो इससे उसके चित्त में क्रोध की एक गॉठ पड़ जाती है। यह अत्यन्त निन्दनीय है। इसीसे महापुरुष ने कहा है कि जिज्ञासुजन हृदय में क्रोध की गॉठ नही रखते, इससे निश्चय हुआ है कि यह हृदय की गॉठ क्रोध की ही सन्तान है। इसके आठ पुत्र है, जो सभी धर्म का नाश करनेवाले है। उनका विवरण इस प्रकार है—

१. ईर्ष्या, जिसके कारण मनुष्य अपने शत्रु का सुख देखकर सन्तप्त हुआ करता है।
२. शत्रुता, जिसके कारण मनुष्य अपने प्रतिपक्षी को दुःख प्राप्त होनेपर बड़ी प्रसन्नता से उसका वर्णन करता है।
३. क्रोध के कारण आपस में नमस्कारादि न करना।
४. अपने विरोधी को ग्लानिपूर्वक देखना।
५. उससे दुर्वचन कहना।
६. अपने विरोधी के दोषों को लोगों में प्रकट करना।
७. उसकी हिंसा का चिन्तन करना।
८. उसके किसीकार्य में सहायतानकरना तथा उसका ऋणी होने पर भी धृष्टतापूर्वक उससे विरोध करना। यद्यपि कोई-कोई ऐसे बुद्धिमान तो होते है कि अपने को स्थूल

विकारों से बचा लेते है। किन्तु उनके लिये भी अपने विरोधी का उपकार करना बहुत कठिन होता है तथा वे उनके भाव, मिलाप, सहायता और शुभ गुणो का भी वर्णन नहीं कर सकते।

इस प्रकार ये हृदय की गाँठ के आठ भेद है और ये सभी स्वभाव चित्त को मलिन करनेवाले है। इस विषय में एक कथा भी है। कहते है, एक महापुरुष की रसोई बनाने वाला व्यक्ति था। उसने महापुरुष की सहधर्मिणी से बहुत दुर्वचन कहे। उनके पिता ही प्रधान रूप से उस भण्डारी के खान-पान की व्यवस्था करते थे। जब उन्हे मालूम हुआ कि इसने मेरी पुत्री से बुर-भला कहा है तो वे कुपित होकर महापुरुष की शपथ करते हुए बोले कि अब मं तेरी जीविका की कोई व्यवस्था नहीं करूँगा। जब महापुरुष को यह सब बात मालूम हुई तो उन्होने कहा कि मुझे भगवान ने ऐसी आज्ञा दी है कि जब कोई तुम्हारा तिरस्कार करे तो तुम उसे क्षमा कर दो और किसी प्रकार की शपथ करके ऐसा मत कहो कि मं इसके साथ भलाई नहीं करूँगा। तात्पर्य यह है कि जब किसी के प्रति इस पुरुष के चित्त में क्षोभ हो तो उचित है कि पहले तो हठ और धैर्य पूर्वक क्रोध को रोके तथा उसके प्रति भाव और सद्व्यवहार को बढ़ावे। यही उत्तम पुरुषों की स्थिति है। किन्तु यदि विरोधी के प्रति सद्व्यवहार करने की क्षमता न हो तो भी इतना तो अवश्य होना चाहिये कि उसे किसी प्रकार कष्ट न पहुँचावे। यह मध्यम पुरुषों की स्थिति है। बुरे के साथ बुराई करना तो संसारी पुरुषो का काम है और अत्यन्त निकृष्ट अवस्था है। अतः निश्चय हुआ कि बुरे के साथ भलाई करना ही सबसे अच्छी बात है और यही सर्वश्रेष्ठ आचरण है। यदि ऐसा न कर सके तो क्षमा कर देना ही अच्छा है। महापुरुष ने भगवान् की शपथ करके कहा है कि दान देने से धन कभी नहीं घटत। और

जो आदमी दूसरों की आशा रखता है उसे अवश्य दरिद्रता घेर लेती है। क्षमाशील पुरुष को तो निःसंदेह भगवान् भी क्षमा कर देते हैं। इसके सिवा महापुरुष की सहधर्मिणी ने भी कहा है कि मैंने उन्हें कभी अपने निमित्त से किसी को दण्ड देते नही देखा। हाँ, धर्म का निमित्त होनेपर तो वे ताड़ना भी करते थे। उन्होने ऐसा भी कहा है कि इहलोक और परलोक में मैंने सर्वोत्तम कर्म यही देखा है कि शत्रु के प्रति भी सद्भाव रखे और अपने को दुःख देनेवाले को भी सुख दे। प्रभु का कथन है कि जो मेरा भय मान कर समर्थ होते हुए भी किसी की अवज्ञा को क्षमा कर देते है वे सर्वदा मेरे निकटवर्ती है और मुझे अत्यन्त प्रिय है। कहते है कि किसी ने एक सन्त को कुछ सामग्री चुरा ली थी। इसपर संत रोने लगे। तब उनसे किसी ने पूछा, "आप धन के लिये रोते क्यो है?" उन्होने कहा, 'मुझे धन का तो कुछ भी शोक नही है। मै तो इसलिये रोता हूँ कि अब परलोक में उस बेचारे चोर को इस दुष्कर्म का दण्ड दिया जायगा तो वह क्या उत्तर देगा? इस प्रकार उसके प्रति दयावश ही मुझे रोना आ रहा है।" महात्मा दाऊद को भी आकाशवाणी हुई थी कि जब यह पुरुष अपने शत्रु की अवज्ञा को क्षमा कर देता है और वैरभाव से दूर हो जाता है तब इसके सब विघ्न नष्ट हो जाते है। अतः उचित यही है कि जब क्रोध आने लगे तब चित्त को शान्त रखे और दुःख देनेवाले पुरुष का भी उपकार करे। इससे क्रोध निर्बल पड़ जाता है। एक बार महापुरुष ने अपनी पत्नी से कहा था कि जिसे भगवान् ने भाव और दया का गुण दिया है वह लोक और परलोक का सुख भोगता है और जो भाग्यहीन होता है उसे न इस लोक का सुख मिलता है और न परलोक का।

(ईर्ष्या के चिह्न और उसका स्वरूप)

याद रखो, क्रोध से हृदय की गांठ उत्पन्न होती है और उस

गाँठ से ईर्ष्या की उत्पत्ति मानी गयी है। यह भी जीव के धर्म का नाश कर देनेवाली है। महापुरुष का कथन है कि जैसे अग्नि लकड़ियो को जला डालती है उसी प्रकार ईर्ष्या शुभ कर्मो को भस्म कर देती है। साथ ऐसा भी कहा है कि इस पुरुष को दोषदृष्टि एव ईर्ष्या से मुक्त होना अत्यन्त कठिन है। परन्तु इसका उपाय यह है कि जब किसी पर दोषदृष्टि उत्पन्न हो तव उसके छिद्रों की खोज न करे और जिसके प्रति कुछ ईर्ष्या होने लगे उस के लिये जिह्वा और हाथों को अपकर्म से रोके रहे। एक बार महापुरुष ने अपने भक्तों से कहा था कि अब मै तुम लोगों में ईर्ष्या की अधिकता देखता हूँ और इससे पहले भी बहुत लोगो का सर्वनाश हो चुका है। मै भगवान् की शपथ करके कहता हूँ कि जब तक मनुष्य मे धर्म की दृढ़ता नहीं होती तब तक उसे आत्मसुख प्राप्त नहीं हो सकता। और जब तक वह सब मनुष्यों के प्रति सद्भाव एव प्रेम नही रखता तब तक उसमें धर्म की दृढ़ता नही होती। प्रभु ने कहा है कि ईर्ष्या करनेवाला पुरुष ऐसा विमुख होता है कि जिसे मै कुछ देता हूँ उसी का शत्रु बन जाता है। मैने जीवों की जैसी-जैसी प्रारब्ध रची है उसे वह ठीक नहीं जान पड़ती। महापुरुष ने कहा है कि छः प्रकार के मनुष्य अपने नैसर्गिक स्वभावो के कारण ही नरक में जायँगे—(१) राजा अधर्म के कारण, (२) सिपाही कठोरता के कारण (३) धनवान् अभिमान के कारण, (४) व्यवहारी लोग छल के कारण, (५) जंगली आदमी मूर्खता के कारण और (६) विद्वान् ईर्ष्या के कारण नरकगामी होंगे। एक सन्त ने कहा है कि मै तो किसी से ईर्ष्या नहीं करता, क्योकि जब मुझे परलोक के सुख का अनुभव होता है तो उसके सामने यह स्थूल सुख तो कुछ भी नही है। इसको मै क्या ईर्ष्या करूँ ? यदि संसार के सुखों को भोगकर मुझे नरक ही में जाना है तो उसके द्वारा मै कब तक सुखी होऊँ ?

अब विचार यह करना है कि ईर्ष्या कहते किसे हैं ? जब किसी पुरुष को सुख प्राप्त हो और उसके सुखको देख कर इसे सन्ताप हो तथा यह उस सुखका नाश चाहे, तब इसी का नाम ईर्ष्या है। यह बड़ा ही दूषित स्वभाव है, क्योंकि इससे भगवान् की आज्ञा का विरोध होता है। और यह बड़ी मूर्खता की बात है कि अपने को कोई लाभ न होनेपर भी दूसरे की हानि चाहे। यह तो हृदय की मलिनता का ही लक्षण है। किन्तु यदि तुम्हें किसी का सुख देखकर सन्ताप तो न हो, केवल वैसा होने की इच्छा ही हो तो इसे अभिलाषा कहते है। यह अभिलाषा यदि धर्मकार्यों में हो तो निःसन्देह सुखका कारण है और यदि भोगों के निमित्त हो तो यह भी अशुभ ही है। इस विषय में महापुरुष ने कहा है कि जिज्ञासु को ईर्ष्या करनी उचित नहीं, किन्तु ऐसी अवस्था में वह भी अच्छी है जब किसी सात्त्विकी पुरुष को शुभ कर्मों में प्रवृत्त होते देखे अथवा किसी में विशेष उदारता का भाव दिखायी दे और मन में ऐसी इच्छा हो कि किसी प्रकार मैं भी वैसा हो जाऊँ। ऐसी स्थिति में यदि वह पुरुष निर्धन भी हो तो भी अपनी सात्त्विकी श्रद्धा के कारण धनवान् की उदारता का फल प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार यदि कोई धनवान् पुरुष अपने धन के द्वारा तरह-तरह के भोग भोगता हो और उसे देखकर किसी धनहीन व्यक्ति की यह इच्छा हो कि यदि मेरे पास धन होता तो मैं भी इसी प्रकार भोग भोगता, तब ऐसा विचार करनेपर भी उसी के समान पाप का भागी होता है। तात्पर्य यह है कि किसी की सम्पत्ति और सुख को देखकर ही उससे ग्लानि करना उचित नहीं। परन्तु यदि कोई अधर्मी राजा अथवा दुराचारी धनिक हो तो उसके भोगजनित सुख में दोषदृष्टि होना उचित ही है, क्योंकि उसकी सामर्थ्य का नाश होने से उसके पापों का भी अन्त हो जायगा। इसकी पहचान इस प्रकार हो सकती है कि जब वह

अधर्मी राजा अथवा दुराचारी धनिक उस पाप-प्रवृत्ति को त्याग दे और फिर उसकी सम्पत्ति को देखकर चित्त में प्रसन्नता हो एवं उसके प्रति किसी प्रकार की दोषदृष्टि न हो तब समझना चाहिये कि उसके प्रति हमारी ईर्ष्या नहीं है। यद्यपि यह ईर्ष्या ऐसी है कि अकस्मात ही हृदय में इसका स्फुरण हो जाता है और फिर स्वय ही हृदय से निकलती भी नहीं, तथापि जब यह पुरुष उसके संकल्प को अत्यन्त मलिन समझे और भगवान् का भय रखे तो उस सूक्ष्म संकल्प के कारण इसे वैसा पाप नहीं लगता। किन्तु जब इसे इतनी तटस्थता प्राप्त हो जाय और ऐसी स्थिति हो कि इसके शत्रु का सुख-दुख भी हाथ में हो, तब इसका यही कर्त्तव्य है कि उसे सुख से वञ्चित न रखे। ऐसा करनेपर यह ईर्ष्या के दोष से सर्वथा मुक्त हो सकता है।

(ईर्ष्या–निवृत्ति का उपाय)

ईर्ष्या एक दीर्घ रोग है और इससे हृदय को ही दुःख होता है। अतः इसकी निवृत्ति का उपाय भी विचार और क्रिया के सम्बन्धपूर्वक ही हो सकता है। विचार तो यही है कि ईर्ष्या के द्वारा लोक और परलोक में होनेवाली अपनी हानि को पहचाने। इसी लोक में इसकी मुख्य हानि यह है कि ईर्ष्यालु पुरुष सर्वदा चिन्ता-ग्रस्त और दुःखी रहता है। वह यद्यपि अपने प्रतिपक्षी को दुःख-ग्रस्त देखना चाहता है, तथापि इस चिन्तन के कारण पहले तो आप ही जलता है। इससे निश्चय हुआ कि चिन्ता अत्यन्त दुःखरूप और बड़ी भारी मूर्खता ही है। क्योंकि ऐसा पुरुष तो अपने रोष से अपने ही को जलाता है, शत्रु का तो कुछ भी नही बिगाड़ पाता। वस्तुतः सब लोगों के सुख-दुःख तो प्रभु की इच्छा के अधीन ही है। प्रभु ने जिसके लिये जैसे सुख-दुख का विधान किया है वह इसके संकल्प से तनिक भी घट-बढ़ नही सकता। इससे निश्चय होता है कि ईर्ष्या करनेवाले पुरुष को तो ईर्ष्या से इसी लोक

में पर्याप्त दुःख प्राप्त हो जाता है। इसके सिवा परलोक में भी उसे बहुत दुःख भोगना पड़ता है। ईर्ष्यालु पुरुष भगवान् की आज्ञा का विरोध करता है और उन्होंने जो पूर्ण ज्ञान के द्वारा जीवों की प्रारब्ध रची है उससे विमुख होता है। अतः ईर्ष्या के कारण वह प्रभु का विश्वास खो बैठता है तथा सब जीवों का अहितचिंतन भी करता रहता है। इसी से सन्तों ने कहा है कि ईर्ष्या करना मनमुखता ही है।

इसके विपरीत विचारकर देखा जाय तो जिसके प्रति ईर्ष्या की जाती है उसे तो यह लाभ ही होता है कि उसका शत्रु ईर्ष्या के कारण इसी लोक में जलता रहता है और उसकी कुछ भी हानि नहीं होती। इसके सिवा उसे पुण्यप्राप्ति भी होती है, क्योंकि वह तो ईर्ष्या करनेवाले का कुछ बिगाड़ता नहीं और यह उसका अहितचिंतन करता है, इसलिये इसके जो पुण्य कर्म होते है उनका फल उसे ही प्राप्त होगा और इसे उसके पापों का फल भोगना पड़ेगा। अतः यदि विचारकर देखा जाय तो मालूम होगा कि जो पुरुष ईर्ष्यावश किसी के लौकिक सुख का नाश चाहता है उसके चिंतन से उसके लौकिक सुख को तो कोई क्षति पहुँचती ही नही, प्रत्युत उस ईर्ष्या के कारण उसे पारलौकिक सुख और भी अधिक मिलता है। तथा ईर्ष्या करनेवाला तो इस लोक मे भी दुःखी रहता है और परलोक के दुःखों का भी अधिकाधिक बीजारोपण करता है। इस प्रकार यद्यपि यह तो समझता है कि मै अपना मित्र और उसका ही शत्रु हूँ। किन्तु वास्तव में यह उसका मित्र और अपना ही शत्रु होता है। अतः ऐसा करके यह स्वयं अपने ही को अत्यन्त सन्तप्त करता है और परलोक के सुखो से भी वञ्चित रह जाता है। तथा जो पुरुष किसी से ईर्ष्या नही करते वे यहाॅ भी सुखी रहते है और परलोक में भी सुखी रहेगे। महापुरुष ने भी इस विषय में यही कहा है कि उत्तम पुरुष वही है जो किसी

के हृदय में सदुपदेशों की धारणा दृढ कराता है और स्वयं भी विद्वानों से उपदेश सुनकर उन्हे धारण करता है, अथवा उन्हीं में अपनी विशेष प्रीति रखता है। ईर्ष्या करनेवाले में तो इन तीनों गुणों का अभाव रहता है। अतः ईर्ष्या करनेवाले में तो यही दृष्टान्त चरितार्थ होता है जैसे कोई अपने शत्रु पर पत्थर फेंके, किन्तु वह पत्थर शत्रु के न लगकर उलटकर इसी के नेत्र में लगे और उसे फोड़ दे। इस पर यह कुपित होकर दूसरा पत्थर मारे, किन्तु वह भी लौटकर इसके दूसरे नेत्र को फोड़ दे। फिर तीसरा पत्थर फेके और वह लौटकर इसके सिर को फोड़ दे। वस, इसी प्रकार वह बार-बार अपने को घायल करता रहे और वह शत्रु इसे देखकर हँसा करे। इसी प्रकार ईर्ष्यालु पुरुष अपने आपको ही दुःख पहुँचाता रहता है, अपने शत्रु की कुछ भी हानि नही कर पाता। किन्तु जो व्यक्ति अपने हाथों से शत्रु को दुःख पहुँचाता है अथवा वाणी से उसकी निन्दा करता है वह तो बड़ा दुःखदायी होता है। परन्तु पहले मैं जो विचाररूप उपाय का वर्णन कर चुका हूँ उसके द्वारा यदि वह ईर्ष्या को हलाहल विष के समान घातक समझेगा तो अवश्य ही उसे त्याग देगा।

अब क्रिया के द्वारा ईर्ष्यानिवृत्ति के उपाय का वर्णन करते हैं। मनुष्य को जिस दोष के कारण ईर्ष्या उत्पन्न होती हो उसे प्रयत्नपूर्वक अपने हृदय से निकाल देना चाहिये। ईर्ष्या का बीज प्रायः अभिमान, शत्रुता अथवा मानप्रियता में होता है। अतः जिज्ञासु को मूल से ही ऐसे मलिन स्वभावों का उच्छेद कर देना चाहिये। इससे ईर्ष्या का बीज ही नष्ट हो जायगा। इसके सिवा एक उपाय यह भी है कि जब ईर्ष्यावश किसी की निन्दा करने की प्रवृत्ति हो तब उसकी प्रशंसा करे, जब हानि करने की रुचि हो तब उसकी सहायता करे और जब अभिमान का अंकुर उपजने लगे तब दीनता अंगीकार करे। एक उपाय यह भी बहुत उत्तम

है कि जिसके साथ कुछ शत्रुता का भाव हो उसके शुभ गुणों का वर्णन करे। इससे स्वाभाविक ही ईर्ष्या निवृत्त हो जाती है। किन्तु यह मन ऐसा पापी है कि जब यह कुछ सहनशीलता करता है तो मन कहने लगता है कि यदि तू सहन करेगा तो शत्रु तुझे निर्बल समझेगा। इसीसे कहा है कि यद्यपि मन के स्वभाव से विपरीत चलना उत्तम उपाय है, तथापि ऐसा करना है अत्यन्त कठिन। किन्तु जब जिज्ञासु की बुद्धि में यह बात अच्छी तरह जम जाय कि ईर्ष्या और क्रोध इहलोक एवं परलोक दोनों ही में दुःखरूप है, इनके त्यागने में ही परमसुख है, तब यह बिना यत्न ही इस ओषधि को स्वीकार कर लेता है। ओषधियाँ तो प्रायः सभी कड़वी या कसैली ही होती है, किन्तु बुद्धिमान् पुरुष कड़वी होने के कारण ही उनका त्याग नहीं करते। जो रोगी मूर्खतावश कड़वे-पन के कारण ही ओषधि को त्याग देता है वह तो शीघ्र ही मृत्यु के मुख में पड़ता है।

यह बात भी ठीक है कि मनुष्य अपने प्रयत्न द्वारा शत्रु और मित्र में समान भाव नहीं रख सकता, क्योंकि यह अल्पशक्ति जीव ही है और प्रभु की इच्छा के अधीन है। पर तो भी इसे इतना तो अवश्य करना चाहिये कि यदि मन से ईर्ष्या और क्रोध को पूर्णतया निवृत्त न कर सके तो भी वचन एव कर्म से तो वैर-भाव न करे तथा बुद्धि से भी इस स्वभाव को बुरा ही समझे। साथ ही, ऐसा संकल्प भी रखे कि मेरे हृदय से यह मलिन स्वभाव निकल जाय तो बहुत अच्छा हो। जब जिज्ञासु ऐसा पुरुषार्थ करेगा तो अपने इस मानसिक सकल्प के कारण उसमे वे दूषित प्रवृत्तियाँ ठहर नही सकेगी, क्योंकि अब उसकी श्रद्धा मे किसी प्रकार की मलिनता नही है। यदि जीवभाव से उसे अकस्मात् कोई संकल्प फुरेगा भी तो वह विचार के बल से निवृत्त हो जायगा।

परन्तु कुछ मनुष्य तो ऐसा कहते हैं कि यदि यह जीव वाणी और कर्म द्वारा किसी प्रकार की शत्रुता प्रकट न करे तो मन में ईर्ष्या के दोषों को जाननेपर केवल मानसिक संकल्पों के कारण परलोक में इसे किसी प्रकार का बन्धन नहीं होगा। किन्तु यह बात ठीक नहीं, क्योंकि वास्तव में ईर्ष्या तो मन का ही कर्म है, सो यदि यह किसी का सुख देखकर सन्तप्त और दुःख देखकर प्रसन्न हो तो इससे बढ़कर और क्या पाप हो सकता है? अतः इस पाप से तो तभी छुटकारा मिल सकता है जब इस स्वभाव को बुरा समझे और सब प्रकार इससे छूटने का संकल्प करे। ऐसी इच्छा होनेपर वह मलिन संकल्प दूर हो जाता है। पर शत्रु और मित्र में समदृष्टि तो तभी प्राप्त होती है जब यह पुरुष एकत्व-भाव में स्थित हो। अर्थात् जब यह सम्पूर्ण जीवों को समान रूप से पराधीन देखे और सब कर्मों के कर्त्ता एकमात्र श्रीभगवान् ही को जाने। सो यह अवस्था अत्यन्त दुर्लभ है, यद्यपि किसी समय बिजली की तरह इसका क्षणिक प्रकाश तो होता है, किन्तु यह स्थिर नहीं रहती। जिन्होंने इस परमपद में स्थिति प्राप्त की है ऐसे तो कोई विरले ही सन्तजन है।

पाँचवीं किरण

माया के दोष और उनसे बचने के उपाय

याद रखो, माया सम्पूर्ण विघ्नों की मूल है और इसकी प्रीति ही समस्त पापों का बीज है। यही नहीं, यह श्रीभगवान् के प्रेमियों की वैरिन है और जो प्रभु से विमुख है उनकी भी साक्षात् शत्रु है। यह भगवत्प्रेमियों की बैरिन इसलिये है कि उन्हें यह अपना बड़ा रमणीय रूप दिखाती है और उनके आगे तरह-तरह के जाल फैलाती है। इसी से जिज्ञासुजन वैराग्य धारण कर इसे त्यागने का प्रयत्न करते रहते है। और इसके पाशों से अपने को बचाना चाहते है। इसी प्रकार यह भगवद्विमुखों की भी शत्रु है, क्योंकि पहले तो यह उन्हें अपने पर रिझाती है और जब वे अत्यन्त प्रमादी होकर मोहित हो जाते है तब उन्हें भी त्याग देती है। यह कुलटा स्त्री की तरह घर-घर भटकती रहती है और अपने प्रेमियों को भी सर्वदा दुःख देती है। किन्तु जब इससे प्रीति करनेवाले पुरुष परलोक में जाते है तब उन्हे प्रभु के कोप का सामना करना पड़ता है। अतः जिस बुद्धिमान् ने इसके छलों को भली प्रकार समझकर इसे त्यागा है वही इसके विघ्नों से छूटता है। इसी पर महापुरुष ने कहा है कि यह माया अत्यन्त छलरूपा है। तथा भगवान् ने जो सन्तों को संसार में भेजा है और अनेक प्रकार के शास्त्रवचन प्रकट किये है उनका उद्देश्य यही है कि जीवों को माया की आसक्ति से बचावे और उन्हें इसके छलों एवं विघ्नों को स्पष्टतया दिखलावे, जिससे वे माया से विरक्त होकर

परलोकमार्ग के प्रयत्नों में जुट जाँय । कहते हैं, एक बार महापुरुष अपने भक्तों के साथ जा रहे थे । रास्ते में उन्हें एक मरा हुआ पशु मिला । उसे देखकर वे कहने लगे, "मैं शपथ करके कहता हूँ कि जैसे यह मृतक पशु इतना घृणित जान पड़ता है कि इसकी ओर देखा नहीं जाता उसी प्रकार सन्तजनों को माया इससे भी अधिक घृणित जान पड़ती है । भगवान् के दरबार में यदि माया का कुछ भी मूल्य होता तो यह मनुष्यों को रञ्चकमात्र भी प्राप्त न होती ।" महापुरुष ने यह भी कहा कि माया को धिक्कार है और इसकी जो सामग्रियाँ हैं उन्हें भी धिक्कार है । केवल उन्हीं पदार्थों को धिक्कार नहीं कहा जा सकता जो केवल भजन के लिये ही अंगीकार किये जाते है । इसके सिवा ऐसा भी कहा है कि जिसने माया से प्रेम किया है वह तो परलोक से विमुख है और जिसका परलोक के सुखों में प्रेम है वह माया के भोगों से अनासक्त रहता है । अतः उचित यही है कि नाशवान् पदार्थों का त्याग करे और सत्यस्वरूप श्रीभगवान् की भक्ति में तत्पर रहे ।

एक भगवद्भक्त का कथन है कि एक बार एक सन्त ने जल माँगा । तब लोगों ने उन्हें एक कटोरा जल लाकर दिया । उसे पीते हुए वे ऐसा रुदन करने लगे कि उन्हें देखकर और सब लोग भी अपना रोना न रोक सके । उस समय उनमें से किसी को भी उनके रुदन का कारण पूछने का साहस न हुआ । धीरे-धीरे जब सभी लोग शान्त हुए तो उन्होने उनसे पूछा कि आपके रुदन का क्या कारण था ? उन्होंने कहा, "एक बार महापुरुष ध्यान में बैठे थे और हाथों से किसी को हटाने की-सी चेष्टा करते जाते थे । पर मुझे वहाँ कोई चीज दिखायी नहीं देती थी । अतः मैंने पूछा कि आप किसे हटा रहे है । वे बोले कि मेरे पास यह माया बार-बार आना चाहती है, किन्तु मै इसे हटा देता हूँ । अब यह कहती है कि तुम तो मेरे छलों से बच गये हो परन्तु तुम्हारे पीछे जो लोग

होंगे वे अपने को बचा नहीं सकेंगे। तुमने मुझे यह शरबत का कटोरा दिया है, अतः मुझे भय है कि कहीं इसी रूप में मुझे छलने के लिये माया न आयी हो। यदि ऐसी बात हो तो अब मुझे क्या करना चाहिये ?"

इसके सिवा महापुरुष ने ऐसा भी कहा है कि यह माया घर न होनेपर भी घर, और धन न होनेपर भी धन जान पड़ती है। अतः मूर्ख लोग ही इसमें आसक्त होकर प्रसन्नता से इसका संचय करते है। यह प्राप्त भी उन्हीं को होती है जो विद्याहीन है तथा इसके लिये प्रयत्न भी वे ही करते है जिनकी धर्म में रुचि नहीं होती। अतः जो पुरुष प्रातःकाल से ही माया के कर्मो में लग जाता है वह तो भगवान् से विमुख ही है। ऐसे मायासक्त जीवों में चार लक्षण अवश्य होते है–(१) उनकी चिन्ता कभी दूर नहीं होती, (२) वह माया के जजालों में ऐसा फँसा रहता है कि उनसे कभी छुटकारा ही नहीं मिलता, (३) वह सर्वदा अतृप्त रहता है तथा (४) उसकी आशा कभी पूर्ण नहीं होती। इस विषय में अबूहरेरा सन्त का कथन है कि एक बार मुझसे महापुरुष ने कहा कि क्या तुम माया की पूर्णता देखना चाहते हो ? ऐसा कहकर वे मुझे एक गन्दी जगह ले गये। वहाँ मनुष्य और पशुओं की हड्डियों, विष्ठा और मैले चिथड़े भी पड़े हुए थे। उन्हें देखकर वे कहने लगे, "भाई ! तुम्हें जो ये मनुष्यों की खोपड़ियाँ दिखायी देती है किसी समय ये तुम्हारी ही तरह तृष्णा और ईर्ष्या से पूर्ण थीं। किन्तु अब तो इनके ऊपर त्वचा भी नहीं रही। ये अब शीघ्र ही भस्म हो जायँगी। देखो, वे नाना प्रकार के व्यञ्जन, जो मीठे जान पड़ते थे और बहुत प्रयत्न करनेपर प्राप्त होते थे, अब विष्ठारूप हो गये है, वे चित्र-विचित्र वस्त्र इस समय गन्दे चिथड़े हुए पड़े है तथा जिन हाथी-घोड़ों पर किसी समय बड़े अभिमान से सवारी की जाती थी उनकी भी अब हड्डियाँ ही रह गयी है।

सो, माया का सम्पूर्ण आदि-अन्त यही है।

इसके सिवा ऐसा भी कहा है कि बहुत से जप-तप करनेवाले पुरुष भी परलोक में नरकगामी होंगे, क्योंकि वे भी जब माया के पदार्थों को देखते है तो उन्हें बड़ी तृष्णा से स्वीकार करते है। यही नहीं, एक बार महापुरुष ने अपने भक्तों से यह भी कहा था कि जानते हो, अपने को अन्धा बनानेवाला पुरुष कौन है ? देखो जो पुरुष माया की तृष्णा रखता है वह मानो अपने को अन्धा बनाना चाहता है। और जो पुरुष आशा-तृष्णा को घटाता है उसके हृदय में भगवान् अनुभवजनित ज्ञान प्रकट कर देते हैं, जिससे उसकी बुद्धि बिना पढ़े ही उज्ज्वले हो जाती है और वह परमार्थ-पथ को स्पष्ट देख लेता है। महापुरुष ने ऐसा भी कहा है कि माया के पदार्थों का स्मरण भी न करो। इस प्रकार जिस माया की चर्चा करना भी अनुचित है उसके साथ प्रीति करना अथवा उसके उपार्जन का प्रयत्न करना कैसे उचित हो सकता है ? इसी पर महापुरुष ईसा ने कहा है कि माया को अपना स्वामी मत बनाओ, जिससे यह तुम्हें अपना दास न बना सके। तात्पर्य यह कि माया के साथ विशेष प्रीति मत करो, तभी तुम इसके जाल में बँधने से बच सकते हो। अपितु उस पदार्थ का संचय करो जिसके सग्रह से तुम्हें कभी भय प्राप्त होने की सम्भावना न हो। ऐसा भी कहा है कि माया और परलोक एक ही पुरुष की दो स्त्रियों के समान है। जिस प्रकार उनमें से यदि एक प्रसन्न होती है तो दूसरी असन्तुष्ट हो जाती है उसी प्रकार जब यह पुरुष माया की ओर लगता है तो परलोक बिगड़ जाता है और जब परलोक का मार्ग सुधारना चाहता है तो माया के साथ विरोध हो जाता है। इसके सिवा भगवान् ने अपने भक्तों से यह भी कहा है कि मैं तुम्हारे देखते हुए ही इस माया को पृथ्वी पर पटक रहा हूँ। अतः तुम इसे स्वीकार मत करना, क्योंकि यह माया ऐसी है कि सारे

पाप इसी की आसक्ति से होते हैं। तथा जब तक जीव इसका त्याग न करे तब तक उसे परलोक के सुख नहीं मिल सकते। इस लिये तुम माया की आसक्ति से ऊपर उठो और इसके कार्यों को पूरा करने का आग्रह छोड़ दो। ध्यान रखो, सारे पापों की जड़ माया की प्रीति ही है तथा सब प्रकार के भोगों का परिणाम शोक एवं दुःख ही है। जिस प्रकार जल और अग्नि का मेल नहीं हो सकता उसी प्रकार भगवद्भक्ति और माया की प्रीति भी साथ-साथ नहीं रह सकती। इसीसे सन्तजन माया से विरक्त रहते है।

इस विषय में एक कथा भी है। कहते है, एक दिन बिजली और बादल का बड़ा उपद्रव था। इसलिये महात्मा ईसा उनसे बचने के लिये कोई स्थान ढूँढ़ने लगे। इतने में वहाँ एक तम्बू दिखायी दिया। उसमें गये तो भीतर एक सुन्दरी स्त्री दिखायी दी। अतः वहाँ से तुरन्त ही निकल कर वे एक पहाड़ की कन्दरा में घुस गये। उसमें एक सिंह बैठा हुआ था। इसलिये वहाँ भी न ठहर सके। तब भगवान् से प्रार्थना करने लगे कि प्रभो! आपने सभी को विश्रामस्थान दिये है, किन्तु मेरे लिये तो कोई भी ठिकाना नहीं है। तब आकाशवाणी हुई कि ईसा! मैंने तुझे कुसग से बचाया है, अतः मेरी दया ही तेरा विश्रामस्थान है। इसी प्रकार एक और प्रसंग भी है। कहते है, जब महापुरुष सुलेमान का ऐश्वर्य बहुत बढ़ गया और सब देवता, मनुष्य, अप्सरा एवं पशु आदि उनकी आज्ञा मानने लगे तब किसी तपस्वी ने उनसे कहा कि आपको भगवान् ने खूब ऐश्वर्य दिया है। इस पर वे बोले कि मेरे सारे ऐश्वर्य से तो एक बार भगवान् का नाम लेना ही बढ़कर है, क्योंकि प्रभु का नाम-स्मरण तो अक्षय है और मेरा ऐश्वर्य नाशवान् है। एक बात और भी है—नूह नाम के एक महात्मा थे। उनकी एक हजार वर्ष की आयु हुई। अन्त में जब ये परलोक में गये तो वहाँ देवताओं ने उनसे पूछा कि तुमने इतनी

आयु को संसार में कैसा अनुभव किया? उन्होंने कहा, "जैसे सराय के एक दरवाजे से भीतर जायँ और दूसरे से बाहर निकल आवे वैसे ही मुझे संसार में इतनी आयु तक जीवित रहना मालूम हुआ।" एक बार महापुरुष ईसा से लोगों ने पूछा कि हम किस लक्षण के द्वारा भगवान् के अत्यन्त प्रिय हो सकते है ? तब उन्होंने कहा कि जब तुम माया के प्रिय न होगे तब स्वाभाविक ही भगवान् के अत्यन्त प्रिय हो जाओगे।

इसी प्रकार सन्तों के अनेकों वचन माया का निषेध करनेवाले हैं। एक सुप्रसिद्ध सन्त ने कहा है कि जिन पुरुषों ने इन छः भेदों को जाना है वे स्वाभाविक ही नरकों से मुक्त होंगे और परम सुख प्राप्त करेंगे। वे छः भेद इस प्रकार है—

१. जिसने श्रीभगवान को पहचाना है वह निःसन्देह बड़ी तत्परता से भजन में लग जायगा।
२. जिसने मन को छलरूप समझा है वह निःसन्देह उसके विरुद्ध ही चलेगा, कभी भी मन की आज्ञा का अनुसरण नहीं करेगा।
३. जो जानता है कि वास्तव में सत्य ही यथार्थ वस्तु है वह सर्वदा सच्चे पदार्थ को ही स्वीकार करेगा।
४. जिसने झूठ को झूठ (सारहीन) समझा है वह सहज ही में उसे त्याग देगा।
५. जिसने माया के आदि-अन्त को देखा है वह स्वाभाविक ही उसके सुखों को नीरस जानेगा और उनसे विरक्त हो जायगा।
६. जिसने विचारद्वारा परलोक के सुख की अनन्तता देखी है वह सर्वदा परलोकमार्ग के प्रयत्न में ही स्थित रहेगा।

एक बुद्धिमान् का कथन है कि आज जो मायिक पदार्थ तुम्हें प्राप्त है वह पहले भी किसी को प्राप्त हो चुका है और आगे भी

किसी और के पास चला जायगा। फिर ऐसे पदार्थ को पाकर तुम क्यों प्रसन्न होते हो? क्योंकि वास्तव में तो इस संसार में खान-पान के सिवा तुम्हारा किसी से कोई प्रयोजन है नहीं। अतः खान-पान के लिये ही तुम अपना सर्वनाश क्यों करते हो? प्यारे! उचित तो यह है कि तुम माया के सभी भोगो से व्रत रखो। तब परलोक में जानेपर वहाँ के सुख पाकर तुम्हारे उस व्रत का पारण होगा। इन सांसारिक सुखों की पूँजी तो वासना और तृष्णा ही है तथा इसका फल कुम्भीपाक नरक है। एक बार किसी जिज्ञासु ने एक सन्त से पूछा कि मेरे हृदय से माया की तृष्णा निवृत्त नहीं होती, इसका मैं क्या उपाय करूँ? तब सन्त ने कहा, "प्रथम तो तू धर्मपूर्वक माया का उपार्जन कर और फिर शुभ कर्मों में ही उसे खर्च कर। इससे स्वाभाविक ही तेरी माया की प्रीति निवृत्त हो जायगी।" सन्त ने यह उपाय इसलिये बतलाया था कि यदि धन का उपार्जन धर्मपूर्वक किया जाता है और शुभ कर्मों में ही उसे व्यय किया जाता है तो सहज ही में चित्त उससे विरक्त हो जाता है। एक संत ने कहा है कि यदि मिट्टी का पात्र अधिक दिन रहने-वाला हो और सुवर्ण का पात्र जल्दी फूटनेवाला तो स्थिरता के विचार से सुवर्णपात्र को त्यागकर मिट्टी का पात्र ही स्वीकार करना चाहिये। किन्तु यह माया तो मिट्टी की तरह क्षण-क्षण में परि-णाम को प्राप्त होनेवाली है और परलोक का सुख सुवर्ण की भाँति निर्मल एवं अविनाशी है। अतः परलोक के अविनाशी सुखों को त्याग कर माया के क्षणभंगुर सुखो को स्वीकार करना तो बड़ी भारी मूर्खता ही है। इसी पर एक और सन्त ने कहा है कि—इस माया के छल से भय करो, क्योंकि परलोक में मायासक्त जीवों से कहा जायगा कि जिस माया के भोगो को निन्दनीय कहा है उन्हीं में इस पुरुष की आसक्ति थी। रूसऊद नामी एक सन्त ने कहा है कि इस संसार में सभी मनुष्य परदेशी की तरह है और यहाँ

जो माया की सामग्री है वह सब परायी है। एक दिन परदेशी को तो यहाँ से जाना ही होगा और तब ये सब सामग्रियाँ यहीं रह जायँगी। इसी प्रकार लुकमान ने अपने पुत्र से कहा था कि जब तू माया के सुख को त्यागकर परलोक का सुख स्वीकार करेगा तो तुझे इस लोक और परलोक दोनों ही के सुख प्राप्त हो जायँगे। और यदि तू माया के लिये परलोक का त्याग करेगा तो दोनों लोकों में तेरी हानि ही होगी। इसीसे फुजेल नामी सन्त ने कहा है कि यदि मुझे माया के सारे सुख निष्पाप उपायों से भी प्राप्त हो जायँ और उनके लिये मुझे परलोक में भी किसी प्रकार के दण्ड की आशङ्का न हो तो भी जिस प्रकार तुम मृतक पशु से घृणा करते हो उसी प्रकार उन स्थूल भोगों को भोगने में मुझे सङ्कोच होता है। एक बार हसन बसरी सन्त ने उमर अब्दुल अजीज़ को पत्र लिखा था कि काल को आया देखो, क्योंकि जिसके भाग्य में मृत्यु है उसे वह अवश्य प्राप्त होगी। इसपर उन्होंने उत्तर लिखा था कि हमें तो सर्वदा अपने अन्तकाल का दिन ही दिखायी देता रहता है। और यह संसार बिना हुआ-सा ही जान पड़ता है।

इसके सिवा सन्तों ने ऐसा भी कहा है कि मनुष्य मृत्यु को अवश्यम्भावी जानते हुए भी प्रसन्नता का अनुभव करता है—यह कितना बड़ा आश्चर्य है? तथा नरक को सत्य मानकर भी ससार में हँसता है—यह भी बड़ा भारी आश्चर्य ही है। साथ ही यह भी कितना बड़ा आश्चर्य है कि मनुष्य निरन्तर माया के पदार्थों का परिणाम होते देखता है और फिर भी इन्हीं को विशेष समझ कर इनमें बँध जाता है। तथा यह भी कैसे आश्चर्य की बात है कि जो पुरुष भगवान् को ही अपना भरण-पोषण करनेवाला जानता है वही जीविका की चिन्ता में चिन्तित रहता है? इसी प्रकार एक और सन्त ने कहा है कि इस ससार में ऐसा पदार्थ कोई नहीं है जिसे पाकर पहले प्रसन्नता हो और फिर शोक न आवे। तात्पर्य

यह कि दुःख से रहित निर्मल सुख इस संसार में उत्पन्न ही नहीं हुआ। इसीसे सत हसन बसरी ने कहा है कि मृत्यु के समय मनुष्य को तीन पश्चात्ताप अवश्य होते है—

(१) जिस माया को यत्नपूर्वक बटोरा था उसे अच्छी तरह भोग न सका।

(२) मनके सारे मनोरथ पूर्ण न हो सके।

(३) परलोक मार्ग का पाथेय संग्रह न कर सका।

एक बार इब्राहीम अदहम नामक संत ने किसी से पूछा था कि तुम्हें स्वप्न का पैसा अधिक प्रिय है या जाग्रत् की मुहर? उसने कहा, "मुझे तो जाग्रत् की मुहर ही अधिक प्रिय है।" इसपर इब्राहीम कहने लगे कि तुम्हारा कथन मिथ्या है, क्योंकि यह माया तो स्वप्न का पैसा है और परलोक का सुख जाग्रत् की मुहर है। किन्तु तुम्हारी प्रीति तो माया में अधिक है। इसलिये तुम जो कहते हो वह झूठ है। एक और सन्त ने कहा है कि मनुष्य माया को छोड़कर जाने से पहले ही त्याग दे, मृत्यु आने से पहले ही मुर्दा हो जाय* तथा परलोक में जाने से पहले ही वहाँ का पाथेय संग्रह कर ले।

इसके अतिरिक्त ऐसा भी कहा है कि इस माया की अभिलाषा ही मनुष्य को भगवान् की ओर से असावधान कर देती है। फिर इसके प्राप्त हो जानेपर जैसी मलिनता होती है उसका तो क्या वर्णन किया जाय। एक और सन्त ने कहा है कि जो पुरुष माया के पदार्थों को भोगकर तृप्त होना चाहता है वह तो ऐसा है जैसे कोई लकड़ियाँ डालकर अग्नि को बुझाना चाहे। ऐसे पुरुष को मूर्ख ही कहा जायगा। अतः माया के पदार्थों से सन्तुष्ट होना असम्भव ही है। अली नामक संत का कथन है कि सम्पूर्ण स्थूल

---

* अर्थात् मुर्दे की तरह विषयों से निरपेक्ष हो जाय।

भोगों का सार ये छः भोग है—(१) भोजन, (२) पान, (३) गन्ध, (४) वस्त्र, (५) सवारी और (६) स्त्रियों का संग। सो विचारकर देखा जाय तो ये सभी मलिन हैं। भोजन में मधु सबसे श्रेष्ठ माना जाता है, किन्तु वह तो मक्खियों का थूक ही है। सब प्रकार के पेय पदार्थों में जल प्रधान है, सो वह सभी को समान रूप से प्राप्त होता है। वस्त्रो में रेशम सवसे कोमल होता है, किन्तु वह भी कीड़ों की लार से ही बनता है। सुगन्धों में कस्तूरी सर्वोत्तम है, परन्तु वह है हरिण का रुधिर हो। सवारी घोड़े की प्रसिद्ध है, सो ऐसी है, मानो अपने अङ्गों को चीर कर रख दिया हो। तथा स्त्री आदि भोगों की मलिनता तो प्रसिद्ध ही है? अस्थि-मांसादि मलिन पदार्थों के सिवा उनके अङ्गों में और क्या रमणीय है? एक और सन्त ने कहा है कि मनुष्यो! तुम्हें भगवान् ने परमपद प्राप्त करने के लिये रचा है। सो यदि तुम्हें ऐसा दृढ़ विश्वास नहीं तब तो तुम निःसन्देह मनमुखी ही हो। और यदि विश्वास है, केवल असावधानी के कारण निर्भय बने हुए हो, तब तुम निःसन्देह मूर्ख हो।

(माया की मलिनता)

महापुरुष ने कहा है कि यह माया अत्यन्त निन्दनीय है तथा इसकी सारी सामग्री भी सब प्रकार निन्दा के योग्य ही है। केवल वही पदार्थ निन्द्य नहीं है जिसे केवल भगवान् के ही लिये स्वीकार किया जाय। अतः इस भेद की पहचान अवश्य होनी चाहिये कि इस माया में क्या निन्दनीय है और क्या ग्राह्य है। यदि विचार किया जाय तो सब पदार्थों को तीन कक्षाओ में विभक्त किया जा सकता है—

१. जो पदार्थ प्रथम कक्षा में है वे तो केवल मायारूप है; जैसे पाप और भोग। मनुष्य जब तक इनका त्याग नहीं

करता तब तक कदापि शुद्ध नहीं होता, क्योंकि असावधानी और प्रमाद का कारण इन्द्रियादिजनित भोग और तमोगुणी कर्म ही हैं ।

२. दूसरे वे पदार्थ है जो देखने में तो भगवर्थ जान पड़ते है, पर सकामता के कारण वे भी मायारूपी ही हैं, जैसे जप, तप एवं भोगों का त्याग इत्यादि । ये यद्यपि पारलौकिक सुख देनेवाले भी है, तथापि तभी जब कि निष्कामभाव से किये जायँ । किन्तु यदि हृदय में इनका उद्देश्य मान आदि की प्राप्ति ही हो, तब तो ये स्थूल भागों से भी निन्दनीय हैं, क्योंकि उस अवस्था में तो इन्हे दम्भ या पाखण्ड ही कहा जायगा ।

३. तीसरी कक्षा वह है जिसमें ऊपर से तो मन का भोग जान पड़े किन्तु उसका आन्तरिक प्रयोजन परमार्थ ही हो । ऐसे पदार्थो को निन्द्य नहीं कह सकते; जैसे शरीर-निर्वाह के लिये भोजन करना, अथवा शुद्ध जीविका उपार्जन करना । ये सब कर्म निष्काम भाव होने के कारण निर्मल ही हो जाते है । इसी पर महापुरुष ने कहा है कि जो मनुष्य अपने भोगों के लिये धनसंचय करता है वह परलोक में भगवान् को अपने पर कुपित देखेगा । किन्तु यदि इसलिये व्यवहार करे कि इतना उद्यम करने से मुझे दूसरो के आश्रित नहीं होना पड़ेगा, फिर मै निश्चित होकर भजन करूँगा, तब परलोक में इसका ललाट पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान देदीप्यमान होगा ।

तात्पर्य यह कि वासना के भोगों ही का नाम माया है, जिसके साथ कि परलोकमार्ग का कोई सम्बन्ध न हो । किन्तु जिस क्रिया का उद्देश्य परमार्थ हो उसे मायामात्र नही कह सकते; जैसे

कोई तीर्थयात्री यदि अपनी यात्रा के मार्ग में अपनी सवारी के घोड़े और ऊँट की जल एव घास आदि को व्यवस्था करता है तो उसकी इस क्रिया का उद्देश्य भी तीर्थयात्रा ही होता है। इस विषय में प्रभु ने भी कहा है कि मन की वासना का नाम ही माया है। अतः जो पुरुष वासना से विरक्त है वह माया से भी विरक्त कहा जाता है। इससे निश्चय होता है कि सब प्रकार के उपभोगो को इन तीन विभागों में बाँटा जा सकता है—

१. सारी सामग्री भोजन, वस्त्र और स्थान इन तीनके अन्तर्गत ही आ जाती है। इसका सेवन केवल शरीरनिर्वाह की दृष्टि से ही करना चाहिये। यदि निष्काम भाव से इनका सेवन किया जाय तो इससे मनुष्य का कोई बन्धन नहीं होगा।

२. दूसरी श्रेणी में अनेकों इन्द्रिय–सम्बन्धी भोग आते है। इनसे कभी तृप्ति नहीं हो सकती और परलोक मार्ग का भी इनसे कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः जो पुरुष केवल प्राणरक्षा के लिये स्थूल सामग्री को स्वीकार करता है वह तो निःसन्देह मुक्तरूप है, किन्तु जो इन्द्रिय-सम्बन्धी भोगों में फँसा हुआ है वह घोर नरकों में पड़ेगा।

३. तीसरा विभाग इन दोनों के बीच का है। यह विचार की सूक्ष्म दृष्टि द्वारा ही जाना जा सकता है,नहीं तो कुछ पता नही लगता। इसमें भूल यही होती है कि जिस पदार्थ की इसे विशेष आवश्यकता न हो उसके विषय में भी यह ऐसा समझ ले कि यह वस्तु मेरे लिये बहुत आवश्यक है और फिर उसे स्वीकार भी कर ले। ऐसा होने पर इसे निःसन्देह परलोकमें दण्ड भोगना होगा। इससे जिज्ञासु जनोंने अपने शरीर को संयममें रखा है और स्थूल सामग्री

को अल्पमात्रा में स्वीकार किया है। तभी वे मनकी वासना से मुक्त हुए हैं।

पूर्वकाल में आवेश करनी नाम के सन्त विरक्तों में शिरोमणि हुए है। वे ससार से ऐसे विरक्त थे कि सब लोग उन्हें पागल समझते थे। प्रातःकाल होते ही वे नगर से बाहर चले जाते और एक पहर रात्रि बीतनेपर लौट आते थे। बेर और खजूर के फल स्वाभाविक ही वृक्षो से झड़ जाते थे उन्हें बीनकर वे उदरपूर्ति कर लेते थे, तथा उन्हीं में से कुछ भगवदर्थ दे देते थे। वे गलियों में पड़े चिथड़ों को धो लेते और उनकी गुदड़ी बनाकर ओढ़ते थे। उनकी ऐसी अवस्था देखकर लोग उन्हें पागल समझते थे। जब बच्चे उन्हें पत्थर मारने लगते तो वे कहते थे कि छोटे-छोटे पत्थर मारो, जिससे घायल होने के कारण मेरा भजन न छूटे। इसी से नेत्रों से न देखनेपर भी महापुरुष उनकी बहुत प्रशसा किया करते थे। अन्त में महापुरुष ने अपने प्रिय भक्त उमर और अली को आज्ञा दी कि तुम आवेश करनी के दर्शनों को जाना और उन्हें मेरे गले का जामा पहुँचाना। उनके आशीर्वाद और प्रार्थना से भगवान् मेरे सम्प्रदाय के असंख्य पुरुषों को मुक्त कर देंगे। ऐसा कहकर उन्होंने आवेश करनी की अवस्था के चिन्ह भी उन्हें बता दिये। अतः महापुरुष का शरीर छूटनेपर उमर और अली उनके दर्शनों को गये तथा उस देश के समीप पहुँच कर पूछने लगे कि यहाँ करन देश का कोई पुरुष है। तब एक व्यक्ति ने कहा, "मैं करन देश का रहने वाला हूँ।" उससे उन्होने पूछा, "क्या तुम आवेश करनी को जानते हो?" उस ने कहा, "हाँ, जानता हूँ, किन्तु यह तुम्हारे पूछने-योग्य मनुष्य तो नहीं है, वह तो अत्यन्त विक्षिप्त है। उसका तो किसी से कोई मिलना जुलना भी नही होता।" उमरने जब यह बात सुनी तो वे रोने लगे और बोले, "हम उसीको ढूँढ़ते है, हमने तो महापुरुष के मुख से सुना है कि उनकी कृपासे असंख्य जीवोका उद्धार होगा।"

इसी प्रकार हरम नामक सन्त ने भी कहा है कि मैं आवेश करनी की महिमा सुनकर एक बार उनके दर्शनों को गया। उस समय वे करन नगर के समीप नदी में स्नान कर रहे थे। मैंने उन्हें अकस्मात् पहचान कर प्रणाम किया। उनकी अवस्था देख कर मेरा चित्त बहुत कोमल हो गया। तब वे मुझ से बोले, "हसन के पुत्र हरम ! तुम कुशल से हो ? कहो, यहाँ कैसे आये ?" मैंने कहा, "आपने पहले मिले बिना ही मुझे और मेरे पिताजी को कैसे पहचान लिया ?" उन्होने कहा, "मुझे यह बात भगवान् ने लखायी है और भक्तों के हृदय तो शरीरों का मिलाप न होने पर भी एक दूसरे को पहचान ही लेते है।" फिर मैंने अत्यन्त विनीत होकर कहा कि मुझे महापुरुष की कुछ बाते सुनाइये। इस पर वे कहने लगे कि मैं तो उनका दास हूँ। इस शरीर से तो मैंने उनके दर्शन ही नहीं किये। मुझे तो अपने चित्त के अभ्यास से ही कुछ अनुभव हुआ है अतः पण्डितों की तरह मुझे कुछ कहने-सुनने की रुचि भी नहीं है। तब मैंने कहा, "आप ही मुझे कुछ उपदेश दीजिये।" इस पर वे मेरा हाथ पकड़कर यह कहते हुए कि इस मनरूपी असुर से भगवान् ही रक्षा करे. रोने लगे। फिर बोले, "बड़े-बड़े विचित्र सन्त और महापुरुष हुए हैं और वे सभी मृत्यु को प्राप्त हो चुके है। अतः हम और तुम भी मृतक रूप ही है। फिर भी अच्छा यही है कि सन्तों का मार्ग स्वीकार करो और क्षणभर के लिये भी मृत्यु की ओर से असावधान मत हो तथा अन्य सब लोगों से भी यथार्थ वचन ही कहो। इसके सिवा कभी साधु-सन्त को मत त्यागो, क्योंकि उनका सङ्ग किये बिना तुम धर्म से भ्रष्ट हो जाओगे और तुम्हें इस का पता भी नही लगेगा।" बस, ऐसा कहकर वे चल दिये और मुझे अपने साथ ठहरने न दिया।

तात्पर्य यह है कि जिन्होंने माया के छलो को पहचाना है उन

के ऐसे ही लक्षण हुए हैं। और यही जिज्ञासुजनों का मार्ग है। किन्तु यदि तुम ऐसा पद प्राप्त न कर सको तो भी इतना तो अवश्य करो कि शरीरनिर्वाहमात्र से अधिक भोगों में आसक्त मत हो, जिससे कि दुःखो से मुक्त रहो।

छठी किरण

धनकी तृष्णा और कृपणता के दोष और उनकी निवृत्ति के उपाय

स्मरण रहे, इस मायारूपी वृक्ष की शाखाएँ बहुत है। उनमें एक शाखा धन और सम्पत्ति भी है। इसके सिवा मान और बड़ाई भी इसी की एक शाखा है। इसी प्रकार इसकी बहुत सी शाखाएँ है। परन्तु इसकी जो धनरूपिणी शाखा है वह बहुत विघ्नों का कारण है। इसके विषय में महापुरुष ने भी कहा है कि इस धन-रूपी घाटी को पार करना बहुत कठिन है, क्योकि धन का सम्बन्ध शरीरव्यवहार के साथ भी है और यह परलोक मार्ग का पाथेय बनाने में भी सहायक होता है। तात्पर्य यह कि इसी के द्वारा आहार, वस्त्र एवं स्थान की प्राप्ति होती है, अतः शरीर-निर्वाहमात्र के लिये इसका उपाजन अवश्य करना चाहिये। यदि धनोपार्जन नहीं किया जायगा तो कोरी निर्धनता में जीवन व्यतीत करते हुए धैर्य रखना कठिन होगा। और जब धन की प्राप्ति होती है तब मनुष्य अनेक प्रकार के भोगो में फँस जाता है, जो कि तरह-तरह के पापों का बीज है।

किन्तु धनहीन पुरुषो की भी तो अवस्थाएँ होती है। उनमें से कोई तृष्णावान् होते है और कोई सन्तोषी। तृष्णावान् पुरुष भी दो प्रकार के होते है कुछ तो ऐसे होते है जो धनोपार्जन के लिये कोई उद्यम करते है और कुछ दूसरे लोगों की ही आशा

करते रहते है। इनमें दूसरों की आशा करनेवालों की अपेक्षा स्वयं उद्यम करनेवाले श्रेष्ठ होते है। इसी प्रकार धनवानों की भी दो अवस्थाएँ होती है उनमे कोई उदार होते है और कोई कृपण। उदारता भी दो प्रकार की है—(१) विचार के अनुसार और (२) विचार की मर्यादा से रहित। इनमें विचार के अनुसार जो उदारता होती है वह श्रेष्ठ है और दूसरी निन्दनीय है। परन्तु ये परस्पर ऐसी मिली-जुली होती है कि इन्हे पहचानना बहुत कठिन होता है। तात्पर्य यह है कि धन के द्वारा अनेकों दोष भी होते है और यही पुण्य कर्मों का बीज भी है। अतः मनुष्य को धन के दोष और गुणो को अवश्य पहचानना चाहिये तथा उन्हे पहचान कर दोषों को पूर्णतया त्यागते हुए गुणो को स्वीकार करना चाहिये।

(धनासक्ति की निषिद्धता)

प्रभु ने कहा है कि जिसे धन और सन्तान आदि की प्राप्ति होती है वह निःसन्देह भजन से विमुख हो जाता है। तथा महापुरुष ने भी कहा है कि जैसे जल द्वारा तुरन्त ही घास और पौधे आदि उत्पन्न हो जाते है, उसी प्रकार धन से भी तत्काल हृदय में कपट पैदा हो जाता है। एक बार महापुरुष से किसी ने पूछा था कि सारी सृष्टि में नीच पुरुष कौन है ? तब उन्होने कहा कि धन के साथ प्रीति रखनेवाला सबसे नीच है, क्योंकि वह अनेक प्रकार के रसों को भोगता है, तरह-तरह के सुन्दर वस्त्र पहनता है, स्त्रियों के रूप में आसक्त रहता है और घोड़े-हाथी आदि बड़ी-बड़ी सवारियों पर चढ़ना चाहता है। अतः उसकी आशा कभी पूर्ण नहीं हो पाती। वह सब प्रकार माया की सामग्री मे ही आसक्त रहता है, अतः माया को ही भगवान् की जगह पूजता है और जो कुछ क्रिया करता है माया ही के लिये करता है। इसलिये मै तुम्हें

उपदेश करता हूँ कि ऐसे मनुष्यों के साथ कभी मेल-जोल मत करो। इसके सिवा महापुरुष ने ऐसा भी कहा कि माया तो सब की सब मायाधारियों को ही सौंप दो, क्योंकि शरीर-निर्वाह से अधिक होनेपर तो मायाके सुख मनुष्य के नाश के हेतु ही होते है। और उसे उसका पता भी नहीं लगता। तथा ऐसा भी कहा है कि ये अज्ञानी पुरुष सर्वदा यही कहते है कि यह धन मेरा है, यह सम्पत्ति मेरी है, किन्तु यह नही जानते कि शरीर के निर्वाह और नग्नता के आच्छादन से अधिक मेरा और क्या है ? अतः इसका अपना धन तो वही है जिसे यह भगवान् के लिये किसी को दे देता है, वही धन परलोक में इसका सर्वदा सहायक होता है।

कहते है, एकबार महापुरुष से किसी ने पूछा था कि मेरे पास परलोक के लिये कोई पाथेय नहीं है, मै क्या करूँ ? तब उन्होंने कहा कि यदि तुम्हें अपने पास कुछ धनसंग्रह करने की इच्छा हो तो तुम भगवान् के लिये दान करो, क्योंकि भगवान् के लिये किया हुआ दान इस पुरुष के पास सर्वदा रहता है। इसके सिवा यह भी कहा कि इस पुरुष के तीन प्रकार के मित्र है—(१) जिनकी मित्रता मृत्यु के पश्चात् कुछ नहीं रहती, (२) जो श्मशान तक साथ रहते है और (३) जो परलोक में भी निर्वाह करते है। तात्पर्य यह कि धन आदि सामग्री का उपभोग केवल जीवित रहने तक ही है, सम्बन्धीलोग श्मशान तक साथ देते है और इस मनुष्य के कर्म परलोक में भी इसके साथ रहते है। जब इसकी मृत्यु होती है तब अन्य पुरुष तो यह पूछते है कि इसने पीछे क्या सामग्री छोड़ी है ? और देवता लोग पूछते है कि इसने आगे भी कुछ भेजा है या नहीं ? एक बार महात्मा ईसा से उनके साथियों ने पूछा था कि आप जलके ऊपर किस प्रकार सूखे पैर ही चले जाते है ? और हम लोगो में ऐसा सामर्थ्य क्यों नहीं है ? तब उन्होंने कहा कि मै रुपये और सुवर्ण को मिट्टी की तरह समझता हूँ और तुम

इन्हें उत्तम पदार्थ समझते हो । बस, यही तुम्हारी और मेरी अवस्था में अन्तर है ।

इस विषय में एक कथा भी प्रसिद्ध है । कहते है, अबू दरदा नाम के सन्त थे । उन्हें किसी भगवद्विरोधीने बहुत कष्ट पहुँचाया । तब वे कहने लगे, "प्रभो ! आप इसे दीर्घायु, आरोग्य और धन-सम्पत्ति प्रदान करे ।" उनके इस कथन का तात्पर्य यही था कि वे इन सब वस्तुओ को दुःखरूप समझते थे, क्योंकि जिसे ये प्राप्त होती है वह प्रमादी होकर परलोक से अचेत हो जाता है और उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है । सन्त हसन बसरी ने भी कहा है कि जिस मनुष्य को सोने-चाँदी में विशेष आसक्ति होती है उसे परलोक में भगवान् लज्जित करते हैं । तथा याहिया नामक सन्त कहते हैं कि ये सोना-चाँदी साँप और बिच्छू के समान है, अतः जबतक इनके मन्त्र का पता न हो तबतक इन्हें छूना नहीं चाहिये । यदि तुम इनका मन्त्र सीखे बिना इन पर हाथ डालोगे तो निःसन्देह इनके विष से मृत्यु के मुख में गिरोगे । इनका मन्त्र यही है कि इनका उपार्जन धर्मपूर्वक किया जाय और धर्म के लिये ही इन्हें व्यय किया जाय । एक बार एक सन्त का शरीर छूटने लगा तो उनसे एक भक्त ने कहा, "आपने अपनी सन्तान के लिये कुछ भी धन न छोड़ा—इसका क्या कारण है ?" तब वे बोले, "मैने अपने पुत्रों का प्रारब्ध तो किसी को नहीं दिया और न किसी अन्य पुरुष का प्रारब्ध ही इन्हे प्राप्त हो सकता है । तथा यह बात भी निश्चित है कि यदि ये धर्मानुकूल जीवन-व्यतीत करेगे तो भगवान् इनका बहुत अच्छी तरह भरण-पोषण करेंगे और यदि धर्मविमुख हुए तो मुझे इनकी चिन्ता भी क्यों करनी चाहिये ? इसी प्रकार एक सन्त बड़े धनवान थे । वे सर्वदा अपनी सम्पत्ति भगवदर्थ दान करते रहते थे, तब किसी ने कहा, "कुछ धन अपनी सन्तान के लिए भी बचा लीजिये ।" वे बोले, "मै तो अपने लिये भगवान्

के पास धन इकट्ठा कर रहा हूँ, पुत्रों का प्रारब्ध भी प्रभु के ही हाथों में है।" सन्त याहिया ने कहा कि मृत्यु के समय धनवान् मनुष्य को दो दुःख अवश्य होते हैं—एक तो उसकी सारी सम्पत्ति यहीं छूट जाती है और दूसरे वह धर्मराज के दण्ड का पात्र होता है।

परन्तु अत्यन्त निन्दनीय होने पर भी इस धन में एक बहुत बड़ी विशेषता कही गयी है, वह यह कि यह बुराई और भलाई दोनो ही का बीज है। इसी से महापुरुष ने कहा है कि यह धन भी एक उत्तम पदार्थ है, परन्तु उसी के लिए जो धर्मात्मा और बुद्धिमान् हो। इसके सिवा ऐसा भी कहा है कि यदि यह पुरुष अत्यन्त निर्धन होता है तो निःसन्देह भगवान् से विमुख हो जाता है, क्योंकि जब यह अपने सम्बन्धियो को और स्वयं अपने को क्षुधातुर एवं दीन देखता है तो समझता है कि भगवान् ने यह कैसा अन्याय किया है कि पापात्माओं को तो धन दिया है और सात्त्विकी पुरुषो को ऐसा कष्ट दे रखा है कि उनके हाथ एक दमड़ी भी नहीं लगती, जिससे वे अपनी क्षुधा को शान्त कर ले ? इसके सिवा वह ऐसा भी अनुमान करने लगता है कि यदि भगवान् मेरे दुःख को नहीं जानता तो वह अन्तर्यामी कैसे हो सकता है और यदि जानता है किन्तु दे नही सकता तो उसे पूर्ण सामर्थ्यवान् कैसे कह सकते है ? यदि समर्थ होने पर भी नहीं देता तो उसे दयालु और उदार नहीं माना जा सकता। और यदि इस विचार से नहीं देता कि परलोक में ही पूर्णतया सुखी करूँगा तो ऐसा जान पड़ता है कि वह दुःख दिये बिना सुख दे ही नहीं सकता। यही नहीं, निर्धन पुरुष क्रोधित होकर ऐसा भी कहने लगता है कि अब तो समय बड़ा विपरीत हो गया है, लोग एकदम अन्धे हो गये है, इसी से वे अनधिकारियों को ही धन एवं सब प्रकार के पदार्थ देते है। तात्पर्य यह कि सन्तोष न होनेपर निर्धन पुरुष इस प्रकार भगवान्

से विमुख हो जाता है। वह अपनी भलाई-बुराई को भी पहचान नहीं सकता। ऐसा पुरुष तो दुर्लभ ही है जो निर्धन होनेपर भी भगवान् में विश्वास रखकर उसी में अपनी भलाई समझे। अधिकतर तो ऐसे ही लोग होते है जो निर्धनता से व्याकुल हो उठते है। अतः भगवान् ने यह धन भी जीवों के छिद्रों को छिपानेवाला ही बनाया है तथा इसे शरीरनिर्वाहमात्र के लिए उपार्जन करने को आवश्यकता सन्तजनो ने भी बतायी है। इससे निश्चय होता है कि धन सर्वथा निन्दनीय ही नही है।

धन का एक लाभ और भी है—सभी जिज्ञासुओं की इच्छा परलोक में सुख पाने की होती है। और परलोक का सुख तभी प्राप्त हो सकता है जब इस लोक मे तीन स्थितियाँ प्राप्त हों। उनका विवरण इस प्रकार है—

१. जिज्ञासु मे विद्या और कोमलता होनी चाहिये। इन गुणों को स्थिति उसके मन में होती है।
२. उसका शरीर नीरोग और दीर्घायु होना चाहिये।
३. उसकी जीविका शुद्ध होनी चाहिये। यह ऐसी वस्तु है जिसकी स्थिति उसके शरीर से बाहर ही है।

यदि जिज्ञासु का निष्काम भाव हो तो इन पदार्थो के द्वारा वह परलोक का सुख प्राप्त कर सकता है। अतः जो मनुष्य इस रहस्य को जानता है वह धन को केवल कार्य निर्वाह के लिये ही स्वीकार करता है तथा अधिक धन या सामग्री को हलाहल विषके समान समझता है। इस कथन का तात्पर्य यही है कि उत्तम पुरुषों के लिए धन भी कल्याणकारी ही होता है। यह बात ऊपर भी कही जा चुकी है। इस विषय में महापुरुष भी कहते है कि जो व्यक्ति धन से धर्म के लिये ही प्रीति करता है, वास्तव में उस का प्रेम धर्म से ही है। और जो पुरुष अपनी वासनापूर्ति के लिये धन से प्रेम करता है वह तो वासना का ही दास है। उसे

इस मानव-जन्म के उद्देश्य का पता नहीं है, इसलिये वह अत्यन्त मूर्ख है । इसी पर सन्त इब्राहीम ने कहा है कि प्रभो ! मेरी और मेर प्रेमियों की प्रेतपूजा से रक्षा कीजिये तात्पर्य यह कि सोना-चाँदी तो मेरे लिये प्रेतरूप हैं, सब लोग लोभवश ही इनका पूजन करते है । अतः हमारे हृदय से आप इनकी आसक्ति दूर करे ।

धन के गुरण और दोष

याद रखो, यह धन सर्प के समान है । जैसे विष और मणि ये दोनों सर्प ही म होते है, वैसे धन में भी गुरण और दोष दोनों पाये जाते है । किन्तु जब तक इन विष और मरिण के स्वरूपों का अलग-अलग विवेचन नहीं किया जायगा तब तक यह बात स्पष्ट नहीं हो सकती, इसलिये मै धन के गुण और दोषों का पृथक्-पृथक् निरूपरण करता हूँ । धन के दो प्रकार के लाभ है—संसारी और पारमार्थिक । ससारी लाभ तो यही है कि धनवान् पुरुष को संसार में सब प्रकार के स्थूल भोग और प्रतिष्ठा आदि प्राप्त होते है, जो स्वयं ही प्रसिद्ध है । परमार्थिक लाभ तीन है, जिनका विवरण इस प्रकार है—

१. धन के द्वारा शरीर की जीविका का निर्वाह होता है । और शरीर से जितने शुभ कर्म सम्पन्न होते है उनका कारण शुद्ध जीविका ही है । जिस पुरुष को जीविका की चिन्ता रहती है उससे भजन या अभ्यास कुछ भी नहीं होता । अतः जिस मनुष्य का संकल्प धर्ममार्ग में बढ़ने का हो उसके लिये जीविका की प्राप्ति भी उस मार्ग के पाथेय के समान ही है । कहते है, किन्हीं सन्त के पास उनकी निष्पाप कमाई का कुछ अन्न आया, तो वे उसकी मुट्ठी भरकर कहने लगे कि मै निरुद्यमी पुरुषों के आशा लगाये रहने की अपेक्षा इस शुद्ध जीविका को बहुत अच्छी

समझता हूँ। किन्तु इस रहस्य को वही पुरुष समझ सकता है जिसे अपने हृदय की शुद्धि-अशुद्धि की परख होती है। तभी उसे यह पता लगता है कि शुद्ध जीविका के द्वारा हृदय में किसी प्रकार का खेद नहीं रहता, दूसरे लोगों से आशा छूट जाती है और भजन में एकाग्रता होती है।

२. यदि दूसरे लोगों को धन दान किया जाय तो इससे भी इसे बहुत लाभ होता है। किन्तु यह दान भी चार प्रकार का है—(१) धन द्वारा अर्थी और सात्त्विकी पुरुषों का पूजन करना। इस प्रकार उनकी प्रसन्नता होने से दाता को व्यावहारिक और पारमार्थिक दोनों प्रकार का सुख प्राप्त होता है। (२) मित्रों और सम्बन्धियों के साथ घनिष्ठता तथा व्यावहारिक उदारता भी धन के द्वारा होती है। (३) कितने ही पुरुष धनवान् से आशा रखते है और यदि उन्हें कुछ न दिया जाय तो निन्दा करने लगते हैं, जैसे ब्राह्मण, भाट और कवि आदि। इन्हें देने से यह बड़ा भारी लाभ होता है कि वे निन्दा करने के दोष से मुक्त रहते हैं। (४) यह मनुष्य स्वयं ही अपने सब काम नहीं कर सकता। अतः जिनके साथ इसका व्यावहारिक सम्बन्ध होता है उन अपने सेवकों को भी कुछ धन देना आवश्यक होता है। इस प्रकार कई तरह के कामों से निश्चिन्त रहकर यह भजन में लगा रह सकता है। यद्यपि अपने शरीर की सब क्रियाएँ स्वयं ही करना बहुत अच्छी बात है, तथापि जिस जिज्ञासु का चित्त आन्तरिक अभ्यास में लगता है उसे अपनी स्थूल क्रियाएँ स्वयं ही करना आवश्यक नहीं होता।

३. धन के द्वारा और भी अनेकों पुण्यकर्म होते है, जैसे कुएँ, ताल और पुल बनवाना तथा अभ्यागतो के लिये धर्मशाला

एव ठाकुरद्वारे बनवाना। इनके द्वारा चिरकाल तक असंख्य प्राणियों को सुख प्राप्त होता है। किन्तु ये भी धन के द्वारा ही तो बन सकते है।

इस प्रकार यह तो धन के लाभों का वर्णन हुआ। अब इसके दोषों का उल्लेख किया जाता है। धन के कई दोष तो स्थूल है और कई ऐसे है जो धर्ममार्ग से विमुख कर देते है। इन दोषों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—

१. धन का पहला दोष तो यह है कि इसके द्वारा भोगों की प्राप्ति और पापकर्मो में प्रवृत्ति सुगम हो जाती है। इस जीव का मन तो पहले ही से ऐसा चपल है कि सर्वदा विषयों और पापों की ओर दौड़ता रहता है। इसे जब सम्मान और प्रतिष्ठा आदि की प्राप्ति होती है तो यह तत्काल पापों में प्रवृत्त हो जाता है और इसकी बुद्धि भी अशुद्ध हो जाती है। यदि कोई पुरुष भोगों और पापों से हटकर अपने को बचाना चाहे तो इसके लिए भी बड़े पुरुषार्थ की आवश्यकता है, क्योंकि सम्पत्ति के रहते हुए उससे असङ्ग रहना बड़ा कठिन काम है।

२. यदि कोई धनवान् ऐसा विचारवान् भी हो कि अपने को पापकर्मो से बचाये रखे, तो भी वह खान-पान और वस्त्र-सम्बन्धी भोगों से अपने को नहीं बचा सकता क्योंकि जिसके द्वारा सम्पति में रहते हुए भी अपने को संयम में रखा जा सके, ऐसा वैराग्य अत्यन्त दुर्लभ है; जिस प्रकार तरह-तरह के व्यञ्जन रहते हुए भी रूखा-सूखा अन्न-खाना अथवा सुन्दर-सुन्दर वस्त्र रहते हुए भी कम्बल आदि मोटे वस्त्र ओढ़कर रह जाना। अतः यदि हृदय में ऐसा वैराग्य न हो तब शरीर का स्वभाव भोगों में बहुत डूब जाता है और उसे राजसी व्यवहार को त्यागना सम्भव नहीं रहता।

तथा भोगों की प्रचुरता बिना पाप किये प्राप्त नहीं होती, इसलिये भोगी पुरुष अकस्मात पाप-समुद्र में बह जाता है और इस संसार में जीते रहने को ही स्वर्ग समझ बैठता है। तथा परलोक के मार्ग से विमुख हो जाता है। और जिसे भोगों की तृष्णा रहती है वह धन के लिए तरह-तरह के पाखण्ड करने लगता है और राजाओं का-सा ठाट-बाट बनाना चाहता है। इससे उसके अनेकों शत्रु और प्रतिस्पर्धी हो जाते है और उनके साथ उसका वैर-भाव पक्का हो जाता है। ये सभी कर्म पापरूप ही है। तात्पर्य यह कि रजोगुणी बीज से तो निश्चय तामसी वृक्ष ही उपजता है। इस विजय में महापुरुष ने भी कहा है कि माया की प्रीति सम्पूर्ण पापों का कारण है। यह ऐसा घोर नरक है जिसका अन्त कभी नहीं होता।

३. यदि धनवान् पुरुष भोगों और पापों से रहित भी हो और सर्वथा विरक्त होकर भी रहे तथा विचार की मर्यादा के साथ खर्च करे, तो भी वह धन की रक्षा के सङ्कल्प में ऐसा संलग्न रहता है कि उससे भजन या अभ्यास कुछ भी नहीं बन पड़ता। शुभ कर्मो का फल तो भगवान् का भजन और भगवत्प्रेम ही है तथा प्रेम का स्वरूप यही है कि भगवान् के सिवा और सभी पदार्थो से विरक्त रहे। किन्तु ऐसी अवस्था तभी प्राप्त होती है जब और सब संकल्पों से मुक्त रहे। पर धनवान् तो सर्वदा विक्षिप्त ही रहता है। वह यदि अधिक सामग्री रखता है तो उसका व्यवहार बढ़ जाता है और यदि विशेष सामग्री न रखकर केवल सोना-चाँदी ही धरती में गाड़े रहे तो उसे निरन्तर यह शङ्का रहती है कि कोई पुरुष मेरा धन देख न ले। यदि किसी ने देखकर चुरा लिया तो फिर मैं क्या करूँगा? इस प्रकार धनवान् का

अन्तःकरण कभी निःशंक नहीं रह सकता। वह तो चिन्ता का समुद्र ही बन जाता है। इसी से सन्तों ने कहा है कि जैसे जल के बीच में सूखा रहना असम्भव है, वैसे ही माया के बीच में निर्लिप्त रहना सम्भव नहीं है।

इस प्रकार मैंने धन के गुण और दोष दोनों ही का वर्णन किया। इन पर भली प्रकार विचार करके बुद्धिमानों ने यही निश्चय किया है कि शुद्ध जीविका के द्वारा शरीर के निर्वाहमात्र में उपयोगी धन का संग्रह करना तो अमृतरूप है, किन्तु इससे अधिक सम्पत्ति निःसन्देह विषरूप ही है।

(तृष्णा के दोष)

यह तृष्णा का स्वभाव भी अत्यन्त निन्दनीय है। लोभी पुरुष का तो व्यवहार में ही अनादर होता है और वह सदा ही लज्जित रहता है। इसके सिवा लोभ से और भी अनेकों अवगुण उत्पन्न हो जाते है जैसे कपट और पाखण्ड आदि। लोभी पुरुष सर्वदा ही धनिकों का आश्रय ताकता रहता है, उनके द्वारा अपमान सहन करता है और उनके झूठ को भी सत्य कहता है। भगवान् ने आरम्भ से ही मनुष्य को तृष्णायुक्त उत्पन्न किया है। और यह तृष्णा बिना संतोष किसी प्रकार निवृत्त नहीं होती। इस विषय में महापुरुष का कथन है कि यदि इस मनुष्य को सुवर्ण से भरे दो बँगले मिल जायँ तो यह तीसरे की फिर इच्छा करेगा। अतः इसे तो मृत्यु ही तृप्त कर सकती है, और किसी भी पदार्थ से यह तृप्त नहीं हो सकता। ऐसा भी कहा है कि धन की तृष्णा और जीवन की आशा कभी समाप्त नहीं होती। अतः उत्तम पुरुष वही है जिसे धर्ममार्ग का बोध हो और जो शरीरनिर्वाहमात्र शुद्ध जीविका पर सन्तोष करता हो। कहते है, जब तक यह पुरुष अपना सम्पूर्ण प्रारब्ध नहीं भोग लेता तब तक निःसन्देह इसकी मृत्यु नही होती। अतः तृष्णा का त्याग करो और सन्तोषपूर्वक जीविका का उपार्जन

करो, अधिक भोगों की लालसा त्याग दो और जो बात तुम्हें अपने लिए हितकर जान पड़े वही दूसरों के लिए भी चाहो। तभी तुम भगवत्प्रेमी हो सकोगे। एक बार महापुरुष ने कुछ जिज्ञासुओं को यह उपदेश दिया था कि भगवान् के सिवा और किसी की पूजा मत करो, उन्ही की आज्ञा का पालन करने में तत्पर रहो और किसी से कोई भी वस्तु मत माँगो। इस प्रकार जिन लोगों को महापुरुष ने यह उपदेश दिया उनकी ऐसी स्थिति हुई कि यदि घोड़े पर सवारी करते समय उनके हाथ से चाबुक गिर जाता तो उसे उठाकर देने के लिये भी वे किसी से नहीं कहते थे। स्वयं ही घोड़े से उतरकर उसे उठाते थे।

एक बार मूसा नामक महापुरुष ने भगवान् से प्रश्न किया कि भगवन्! आपकी सारी सृष्टि में सबसे बड़ा धनी कौन है? तब आकाशवाणी हुई कि जिस पुरुष को यथाप्राप्त वस्तु में संतोष है वही सबसे बड़ा धनी है। फिर मूसा ने प्रश्न किया, "प्रभो! उत्तम न्याय करने वाला कौन है?" आकाशवाणी हुई कि जो अपने प्रति न्याय करता है वही उत्तम न्याय करनेवाला है। इसी से एक जिज्ञासु रूखी रोटी पानी में भिगोकर खा लेते थे और कहते थे कि जिसने ऐसी जीविका पर सतोष किया है उसे ससार में किसी भी वस्तु की इच्छा नहीं रहती। इब्न मसऊद नाम के सन्त ने भी कहा है कि संसार में एक देवदूत सर्वदा ही पुकार-पुकारकर कहता रहता है कि ऐ मनुष्यों! जितनी जीविका तुम्हारे शरीर के लिये पर्याप्त हो तुम्हारे लिये वही श्रेयस्कर है, क्योंकि उससे अधिक जितनी सामग्री होगी उससे प्रमाद और असावधानी ही उत्पन्न होगी। एक और सन्त का भी कथन है कि तुम्हारा यह उदर ही सब प्रकार की मलिनताओं का घर है। अतः तुम उदर की तृष्णा के कारण क्यों नरकगामी होते हो? प्रभु ने भी कहा है कि ऐ मनुष्य! मै तुझे बहुत सा धन भी देदूँ तो भी तेरी

तृप्ति तो आहार से ही होगी। अतः जब मैं तुझे केवल आहारमात्र ही धन दूँ और व्यवहार जनित विक्षेप एवं परलोक के दण्ड का लेखा धनवानों के सिर डाल दूँ, तब तेरे ऊपर इससे बड़ा और क्या उपकार हो सकता है ? एक और बुद्धिमान ने कहा है कि तृष्णाग्रस्त पुरुष के समान दुःखी और सन्तोषी के समान सुखी कोई दूसरा व्यक्ति नहीं हो सकता। इसी प्रकार ईर्ष्यालु के समान चिन्ताग्रस्त, वैराग्यवान् के समान शान्तचित्त और विद्वान् होकर भी जो सदाचार से शून्य है उससे बढ़कर पश्चात्ताप के योग्य और कोई नहीं हो सकता। कहते है, एक व्याध ने किसी पक्षी को जाल में फँसाया। तब पक्षी ने कहा कि तू मुझे मारकर खा लेगा तो तेरी तृप्ति तो होगी नहीं। अतः मैं तुझे तीन उपदेश देता हूँ। इनसे तुझे बहुत लाभ होगा। परन्तु, एक बात तो मैं तेरे हाथ पर बैठकर कहूँगा, दूसरी जब तू मुझे छोड़ देगा तो वृक्ष पर बैठ कर कहूँगा और तीसरी पर्वत पर बैठकर सुनाऊँगा। बधिक ने कहा, "अच्छी बात है, तू पहली बात तो सुना।" पक्षी ने कहा, "जिस कार्य का समय बीत जाए उसके लिए पश्चात्ताप नहीं करना चाहिये।" तब व्याध ने उसे छोड़ दिया और जब वह वृक्ष पर जा बैठा तो उससे दूसरी बात पूछी। पक्षी ने कहा, "जो बात असम्भव हो उस पर विश्वास न करे।" इतना कहकर वह पहाड़ पर जा बैठा और बोला, "अरे अभागे! यदि तू मुझे मार डालता तो मेरे पेट से दो लाल निकलते। उनमें से प्रत्येक दो-दो पैसे के बराबर भारी होता और उन्हें पाकर तू इतना धनी हो जाता कि दरिद्रता कभी तेरे पास न फटकती।" बधिक ने जब यह बात सुनी तो वह हा-हाकार करके हाथ मलने लगा और अत्यन्त पश्चात्ताप करते हुए बोला कि अब तीसरी बात तो सुना तब पक्षी ने कहा, तू तीसरी बात सुनकर क्या करेगा ? तूने तो पहले ही दोनों उपदेश भुला दिये। मैंने तुझसे कहा था कि बीते हुए कार्य का

पश्चात्ताप नहीं करना चाहिये तथा असम्भव बात में विश्वास नहीं करना चाहिये। सो बड़े आश्चर्य की बात है कि जब मेरा शरीर भी दो पैसे के बराबर भारी नहीं है तो मेरे पेट में चार पैसे भर के लाल कैसे हो सकते हैं?" ऐसा कहकर वह पक्षी उड़ गया। इस कथानक का तात्पर्य यह है कि लोभी पुरुष को सम्भव या असम्भव बात का विचार नहीं होता। वह लोभ से अन्धा हो जाता है। इसी से किसी सन्त ने कहा है कि इस मनुष्य के गले में लोभ रस्सी के समान है और लोभ ही इसके पैरों की बेड़ी है। यदि यह लोभ को हटा दे तो इसके गले की रस्सी और पैरों की बेड़ी टूट जाय और यह बन्धनमुक्त हो जाय।

(तृष्णा की निवृत्ति का उपाय)

तृष्णानिवृत्ति की जो औषध है उसमें हठरूपी कटुता, विचार-रूपी मिष्टता और आचरणरूपी तीक्ष्णता का मेल रहता है। यह औषध जब अन्य सब मानसिक रोगों की निवृत्ति के उपायों से मिला दी जाती है तब वे रोग भी दूर हो जाते है। तृष्णा की निवृत्ति निम्नाङ्कित पाँच उपायों से होती है—

१. जहाँ तक हो सके अपने कार्य को घटावे। तृष्णारहित जीविका तो इतनी ही हो सकती है कि रूखे आहार और मोटे वस्त्र से निर्वाह हो जाय। यदि चित्त मे नाना प्रकार के रस और सुन्दर-सुन्दर वस्त्रों की इच्छा होगी तो कभी तृप्ति नही हो सकेगी। इस विषय में महापुरुष का भी कथन है कि जिस पुरुष का व्यवहार संयमपूर्वक होगा वह कभी निर्धन नहीं रहेगा। ऐसा भी कहा है कि ये तीन लक्षण सभी जीवों को मुक्त करनेवाले है—(१) सभी गुप्त और प्रकट विषयों में भगवान् का भय रखना, (२) क्रोध और प्रसन्नता के समय विचार की मर्यादा के अनुसार

बर्तना तथा (३) सम्पत्ति और विपत्ति के समय संयमपूर्वक जीवन निर्वाह करना। कहते है, एक बार अबू दरदा नामक सन्त वृक्षों से गिरे हुए खजूर चुन रहे थे, और कहते जाते थे कि यथाप्राप्त जीविका से सन्तुष्ट रहना भी बड़ा पुरुषार्थ है।

२. यदि एक दिन की जीविका प्राप्त हो तो दूसरे दिन की चिन्ता न करे। किन्तु यह मनुष्य ऐसा सन्देह करता रहता है कि अभी तो मुझे बहुत दिनों जीना है; सम्भव है कल कुछ खाने को न मिले, अतः उद्यम करके आज ही संचय कर लूँ। किन्तु, यह इस मन की शत्रुता ही है जो आगे की चिन्ता से इसे आज ही दुःखी कर देती है, तथा निर्धनता के भय से इसे अभी निर्धनता का अनुभव करा देती है। जब जिज्ञासु को ऐसा संकल्प हो तो उसे इस प्रकार विचारना चाहिये कि जीविका का उपार्जन तृष्णा से नहीं हो सकता, क्योंकि प्रारब्ध तो प्रभु का रचा हुआ है। अतः जीव को इसकी जीविका तो स्वतः ही प्राप्त हो जाती है। इसके सिवा यह बात भी है कि यदि अगले दिन जीविका न मिली तो भी उसकी प्राप्ति के लिये कल उतना ही प्रयत्न करना पड़ेगा जितना आज करोगे। फिर अभी से चिन्ता करने की क्या आवश्यकता है? कहते है, एक बार महापुरुष सन्त इब्न मसऊद के घर गये। तब उन्हें उदास देख कर कहने लगे कि तुम शोक और चिन्ता मत करो, क्योंकि तुम्हारा प्रारब्ध-भोग तुम्हें अवश्य प्राप्त होगा। इस विषय में प्रभु का भी कथन है कि विरक्त पुरुषों को बिना यत्न किये ही जीविका प्राप्त हो जाती है। सन्त सुफियान सौरी ने भी कहा है कि तुम्हे तृष्णाशून्य ही होना चाहिये क्योंकि कोई भी सन्तोषी पुरुष कभी भूख से दुःखी नही

हुआ। प्रभु सभी जीवों को उसके प्रति दयालु कर देते हैं, अतः याचना किये बिना ही उसका निर्वाह हो जाता है। एक अन्य सन्त का कथन है कि मेरा जो प्रारब्ध-भोग है वह मुझे यत्न किये बिना ही प्राप्त हो जायगा। और जो मेरा भोग नहीं है वह सम्पूर्ण मनुष्य और देवताओ के प्रयत्न करने पर भी प्राप्त नहीं होगा। अतः जीविका के लिये मेरे यत्न और अधैर्य किस काम आयेगे ?

३. जब इस पुरुष को निराश रहने में कठिनता जान पड़े तब यह सोचना चाहिये कि यदि मै किसी की आशा करूँगा तो उसमें प्रयास भी होगा और खेद भी, तथा मुझे अपनी लज्जा भी खोनी पड़ेगी और मै भगवान् से भी विमुख होऊँगा। यदि मैने धैर्यपूर्वक निराशा को धारण किया तो निःसन्देह मुझे लाभ होगा। अतः निराशता मे धैर्य धारण करना तो लोभ के अपरिमित दुःख की अपेक्षा सब प्रकार श्रेयस्कर है। महापुरुष ने भी कहा है कि भक्त की महत्ता इसी में है कि वह सन्तोष करके सारे संसार की ओर से निःस्पृह रहता है। इसी प्रकार सन्त अली ने भी कहा है कि जिससे तुम्हें कोई प्रयोजन है उसीके तुम दास हो और जिसका तुमसे कोई प्रयोजन है वह निःसन्देह तुम्हारा दास है।

४. जिज्ञासु को हृदय मे विचार कर यह देखना चाहिये कि मै तृष्णा या लोभ किस लिये करता हूँ यदि मै अहङ्कारवश ऐसा करता हूँ तो यह तो बैलों और गधो का स्वभाव है और यदि कामादि के कारण करता हूँ तो मेरी अपेक्षा सूअर और पक्षी इन स्वभावो से अधिक ग्रस्त है। अथवा यदि नानाप्रकार के वस्त्रादि प्राप्त करने के लिये मेरी ऐसी प्रवृत्ति है तो मेरी अपेक्षा तो अनेकों तमोगुणी पुरुष भी

अधिक धनवान् है, मेरी इसमें क्या विशेषता हुई ? तात्पर्य यह है कि इस प्रकार विचार करके तृष्णा को निवृत्त करे। ऐसा करने पर यह संसार में सर्वोत्तम अवस्था प्राप्त कर लेगा तथा संत जनों का परम पद भी पा सकेगा।

५. तृष्णा को घटाने का पाँचवाँ उपाय यह है कि बार-बार धन के विघ्नो का विचार करे और ऐसा अनुभव करे कि धनी पुरुष इस लोक में भयभीत रहता है तथा परलोक में भी दण्ड का अधिकारी होता है। अतः जिज्ञासु को उचित है कि सर्वदा अपने से अधिक धनहीनों पर दृष्टि रखे और धनवानों की ओर न देखे। इसी स्थिति मे ही भगवान् के उपकार को प्रत्यक्ष अनुभव करे। किन्तु यह मन ऐसा शत्रु है जो सर्वदा इस मनुष्य को भटकाता रहता है और कहता है कि अमुक पुरुष तो ऐसा धनवान् है और अमुक ऐसा विद्वान् फिर तू ही धन से क्यों भय मानता है, और क्यों उसका त्याग करता है ? इस संकल्प की निवृत्ति का उपाय यह है कि अपने से विशेष स्थितिवालों का परमार्थ सम्बन्ध से ही विचार करे। ऐसा करने से अपना दैन्य प्रकट होगा और अभिमान की निवृत्ति होगी। तथा व्यवहार में अपनी अपेक्षा अधिक धनहीनों की ओर देखे। इससे भगवान् का उपकार सामने आयेगा।

(उदारता की महिमा)

याद रखो, जिस प्रकार निर्धनता मे जिज्ञासु को सन्तोष रखना चाहिये उसी प्रकार धन और सम्पत्ति प्राप्त होने पर उसे उदार होना आवश्यक है। उस समय कृपणता से दूर रहने में ही उसका कल्याण है। इस विषय मे महापुरुष का कथन है कि उदारतारूपी वृक्ष का मूल स्वर्ग में है और उसकी शाखाएँ इस लोक में है।

अतः उदार पुरुष उस शाखा को पकड़कर निश्चय ही स्वर्ग प्राप्त कर लेता है। इसी प्रकार कृपणता का मूल नरक में है और उसकी भी शाखाएँ इस लोक में है, इस लिये कृपण मनुष्य उस शाखा के द्वारा नरक में पहुँच जाता है। ऐसा भी कहा है कि भगवान् को दो लक्षण अत्यन्त प्रिय है—नम्रता और उदारता। इसी प्रकार कठोरता और कृपणता—ये दो लक्षण भगवान् से दूर कर देते है। इसके सिवा ऐसा भी कहा है कि उदार पुरुष के अवगुणो पर दृष्टि मत डालो, क्योंकि जब अवसर उपस्थित होता है तब भगवान् ही उदारात्मा की सहायता करते हैं। उदार पुरुष भगवान् का समीपवर्ती है, परम सुख भी उनके निकट ही है और वह दूसरे लोगो को भी अत्यन्त प्रिय होता है। नरक उससे दूर ही रहते है। इसके विपरीत कृपण पुरुष भगवदीय सुख से दूर रहता है तथा लोगों के चित्त भी उससे दूर ही रहते है। वह तो नरको के निकट है। इसी से कृपण पुरुष भजन-निष्ठ हो तो भी भगवान् विद्या-विहीन उदार पुरुष को उसकी अपेक्षा अधिक प्रेम करते है, क्योंकि यह कृपणता अत्यन्त मलिन स्वभाव है।

ऐसा भी कहा है कि जिन लोगो को परम पद की प्राप्ति हुई है उन्हें वह, जप, तप, या दान के कारण नहीं हुई, अपितु हृदय की शुद्धता, दया और उदारता के कारण ही हुई है। इस विषय मे अली नामक सन्त ने कहा है कि जब तुम्हे सम्पत्ति प्राप्त हो तो उसे उदारतापूर्वक खर्च करो। दान करने से सम्पत्ति कभी दूर नहीं होगी। और जब यह धन तुमसे दूर होने लगे तब भी निःशंक होकर दान करो, क्योंकि यह स्वयं भी तो जा ही रहा है। यदि तुम धनसंचय करने का संकल्प करोगे तो दण्ड के अधिकारी होगे। कहते है, एक पुरुष अपनी आवश्यकताओ को एक पत्र में लिखकर सन्त हसन के पास आया। तब हसन ने उसका पत्र बिना पढ़े ही उससे कहा कि तुम्हे जो चीज जितनी चाहिये उतनी

हो माँग लो। उस समय किसी ने हसन से पूछा कि आपने उसका पत्र क्यों नहीं पढ़ा? वे बोले, "यदि मै पत्र को पढ़ता तो मुझे कुछ देर हो जाती। उसके विषय में यदि भगवान् मुझसे पूछते कि तुम ने अर्थी की कामना पूर्ण करने में इतना विलम्ब क्यों किया, तो मै उन्हे क्या उत्तर देता? इसी भय से मैंने पत्र नहीं पढ़ा"। इसी विषय में एक और प्रसङ्ग भी है। एक बार किसी धनी ने महा-पुरुष की धर्मपत्नी को पचास हजार रुपये भेंट किये। तब उन्होंने तत्काल वह सब धन बाँट दिया और अपने व्रत का पारण करते समय सूखा अन्न भक्षण किया। इस पर उनकी दासी ने पूछा कि यदि आप अपने लिये एक दो पैसा रख लेती तो क्या होता? तब उन्होंने कहा, "यदि तू मुझे स्मरण दिलाती तो मै तुझे भी कुछ दे देती।" इस विषय में एक प्रसङ्ग और भी है। एक बार अली नामक सन्त रुदन करने लगे तब उनसे किसी ने पूछा कि आप क्यों रोते है? वे बोले, "आज सात दिन हो गये, हमारे घर कोई अभ्यागत नहीं आया। इसी से मै रोता हूँ।" एक कथा और भी है। किसी प्रेमी ने अपने मित्र से कहा कि मुझे दो सौ रुपये देने है। मित्र ने तत्काल रुपये लाकर उसे दे दिये। और स्वय रोने लगा। उसकी स्त्री ने कहा, "यदि तुम्हारी श्रद्धा नहीं थी तो रुपये न देते। अब रोते क्यों हो?" तब उसने कहा "मै धन के लिये नहीं रोता, बल्कि इसलिये रोता हूँ कि अपने मित्र के कष्ट से मै इतना अचेत क्यो रहा कि उसे माँगना पड़ा? मुझसे यह मित्र की अवज्ञा बन गया।"

(कृपणता की निषिद्धता)

स्वय प्रभु ने भी कहा है कि जिन्हें धन प्राप्त हुआ है और फिर भी वे कृपणता करते है उनके लिये तो वह धन ही बड़ा विघ्नकारक होगा। अन्त-समय पर वह सम्पत्ति ही उनके गले

की जंजीर बन जायगी । महापुरुष भी कहते हैं कि कृपणता से सदैव दूर रहो, क्योंकि यह पहले बहुत लोगों का सर्वनाश कर चुकी है । तथा जिनमें कृपणता की प्रबलता होती है वे निःशंक होकर जीवों का घात करते है और अशुद्ध जीविका को भी शुद्ध करके जानते है ? ऐसा भी कहा जाता है कि तीन स्वभाव इस पुरुष की बुद्धि का नाश करने वाले है—(१) कृपणता, (२) अशुद्ध वासनाओं के अनुसार आचरण करना और (३) अपने को बड़ा समझकर अभिमान करना । इस विषय में एक प्रसङ्ग प्रसिद्ध है—एक बार दो व्यक्तियो ने महापुरुष से कुछ धन माँगा । जब महापुरुष ने उन्हें धन दिया तो वे बड़े प्रसन्न हुए । इस पर उन्होंने उमर की ओर दृष्टि करके कहा कि ये लोग मुझसे बहुत अनुनय विनय करके माँगते हैं, इसलिये मै इन्हें कुछ देता हूँ । किन्तु यदि भली प्रकार देखा जाय तो यह सकामता का द्रव्य उन्हें अग्नि की भाँति जलाने वाला है । उमर ने पूछा, "जब आप इस द्रव्य को अग्नि-रूप समझते है तब उन्हें यह क्यों देते है ?" महापुरुष बोले, "उन की अत्यन्त दीनता देखकर मुझे भय होता है और इस बात का भी डर है कि कहीं मै ही कृपण न हो जाऊँ, जिससे कि मेरी कृपणता के कारण प्रभु मुझपर ही अप्रसन्न हो जायँ ।"

इनके सिवा एक और प्रसङ्ग भी है । एक बार कोई मनुष्य भगवान् से प्रार्थना कर रहा था कि प्रभो ! मेरे पापों को आप क्षमा करे । तब उसे देखकर महापुरुष ने पूछा, "तेरा क्या पाप है ?" वह बोला, "मेरा पाप बहुत बड़ा है । उसका मुँह से वर्णन नहीं किया जा सकता ।" तब महापुरुष ने पूछा, "तेरा पाप बड़ा है या पृथ्वी?" वह बोला, "मेरा पाप ।" महापुरुष ने पूछा, "तेरा पाप बड़ा है या आकाश ?" उसने कहा, "मेरा पाप ही बड़ा है ।" महापुरुष ने फिर पूछा, "तेरा पाप बड़ा है वा प्रभु की दया ?" इस पर वह बोला, "प्रभु की दया तो असीम है वह निःसन्देह मेरे पाप से बड़ी

है।" तब महापुरुष ने कहा, "तू अपने पाप को स्पष्टतया बता।" उसने कहा " मैं बड़ा धनवान् हूँ, किन्तु जब किसी याचक को आया देखता हूँ तो कृपणता की अग्नि में जलने लगता हूँ।" यह सुनकर महापुरुष ने कहा, "मुझसे दूर रह। तू चाहे सारी आयु तीर्थों में रहे, दिन-रात भजन करे और इतना रुदन करे कि तेरे नेत्रों से जलकी धाराएँ बहने लगे, तो भी जब तक तू कृपणता का त्याग नहीं करेगा, तब तक किसी प्रकार नरकों के दुःख से नहीं छूट सकेगा। यह कृपणता तो नास्तिकता है और अग्निरूप है।"

ऐसा भी कहा है कि दो देवता भगवान् के सामने सर्वदा पुकार करते रहते है कि प्रभो ! इन धन जोड़ने वालों की सम्पत्ति नष्ट कर दो तथा जो उदार पुरुष है उन्हें अधिक सम्पत्ति प्रदान करो। कहते है, एक बार किसी ने शैतान से पूछा था कि तुम किसे प्रेम करते हो और किसे अपना शत्रु समझते हो ? उसने कहा, "मुझे तो कृपण तपस्वी प्यारा है, क्योंकि वह तपस्या करके दुःख उठाता है और कृपणता के कारण उसका फल नष्ट कर देता है। तथा राजसी होने पर भी जो पुरुष उदार है उसे मैं अपना शत्रु समझता हूँ, क्योंकि वह शरीर से भी तरह-तरह के सुख भोगता है और मुझे भय है कि उदारता के कारण भगवान् उसे क्षमा कर देंगे तथा दया करके उसे वैराग्य की प्राप्ति करा देंगे।"

(परम उदारता का निरूपण)

याद रखो, एक उदारता है और एक परम उदारता। जिस वस्तु की इसे आवश्यकता न हो उसे भगवदर्थ दे डाले, इसका नाम है उदारता। किन्तु जिस वस्तु की इसे अत्यन्त आवश्यकता हो उसे भी किसी अर्थी को दे डाले तो इसका नाम होगा परम उदारता। इसी प्रकार यदि अपनी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये भी अपने पास से खर्च न करे तथा अपने मनो-

रथ को भी दूसरे मनुष्यों की आशा रखकर ही पूरा करना चाहे तो इसे परम कृपणता कहेंगे। ऐसा व्यक्ति अपने धनकी गाँठ नहीं खोल सकता। महापुरुष ने कहा है कि जब पुरुष अपनी आवश्यकता की ओर न देखकर औरों के प्रयोजन की पूर्ति करता है उस पर भगवान् अत्यन्त प्रसन्न होते है। कहते है, किसी भक्त के घर कोई अभ्यागत आया, किन्तु उस समय उसके यहाँ भोजन थोड़ा ही था। अतः उसने दीपक बुझा दिया और सब लोग अँधेरे में ही भोजन करने के लिये बैठे। किन्तु उसने स्वयं कुछ भी नहीं खाया, केवल खाली हाथ थाली में डालता रहा, जिससे कि अभ्यागत तृप्त होकर भोजन करले। उसकी ऐसी बात सुनकर महापुरुष ने उससे कहा कि तुम्हारी इस परम उदारता से भगवान् प्रसन्न होगे। इसी प्रकार महात्मा मूसा को भी आकाशवाणी हुई थी कि जो सारी आयु में एक बार भी अपने स्वार्थ को त्यागकर दूसरों के प्रयोजन की पूर्ति करता है उसके कर्मों का मै लेखा नही करता।*

इस विषय में एक कथा प्रसिद्ध है। कहते है, एक बहुत बड़े धनी और उदार भगवत्प्रेमी विचरते हुए एक खजूर के बाग में पहुँचे। उसी समय बाग के रखवाले के लिये दो रोटियाँ आयीं। इतने ही में वहाँ एक कुत्ता आ गया। रखवाले ने उनमे से एक रोटी कुत्ते को डाल दी। वह उसे तुरन्त चट कर गया। तब रखवाले ने दूसरी रोटी भी डाल दी। यह आश्चर्य देखकर भक्त ने उस रखवाले से पूछा, "तुम्हारे लिये घर से कितना भोजन आता है?" उसने कहा, जितना आपने देखा है उतना ही आता है।" भक्त ने पूछा "तो फिर तुमने सारा ही भोजन कुत्ते को

---

* अर्थात् इस एक ही कर्म के कारण उसके अन्य शुभाशुभ कर्मों का कोई विचार न करके उसे सद्गति प्रदान कर देता हूँ।

क्यों डाल दिया ?" वह बोला, "यहाँ पहले से तो कोई कुत्ता था नहीं। यह दूर से आया था। अतः मुझे ऐसा सङ्कल्प हुआ कि यह भूखा न रहे।" तब वह भक्त सोचने लगा, "लोग मुझे व्यर्थ ही उदार कहते है, यह बागवान तो मेरी अपेक्षा परम उदार है।" यह विचारकर उसने वह बाग और बागवान दोनों खरीद लिये और उस बागवान को दासत्व से मुक्त कर वह बाग भी उसी को दे दिया।

इसी प्रकार एक प्रसङ्ग और भी है। एक सुप्रसिद्ध सन्त के घर कुछ अभ्यागत आये। किन्तु भोजन उनके यहाँ थोड़ा ही था अतः उन्होंने रोटियों के टुकड़े कर दिये और दीपक बुझाकर सब लोग एक साथ ही भोजन करने के लिये बैठे। पर एक घड़ी बीतने पर जब दीपक जलाया तो भोजन ज्यो का त्यो रखा दिखायी दिया। उसे किसी ने भी ग्रहण नही किया था। इस प्रकार उन सभी ने परम उदारता की। उनमे से प्रत्येक यही सोचता था कि मुझे भूखा रहना पडे तो कोई हानि नहीं, मेरे मित्र तृप्त होकर भोजन करले।

इसी प्रकार एक अन्य भगवत्प्रेमी ने सुनाया था कि एक बार बड़ा युद्ध हुआ। उसमें बहुत लोग क्षत-विक्षत हुए। उन्हीं में मेरा भाई भी पड़ा था। मै उसके लिये एक पात्र में जल ले गया। किन्तु जब मै उसे देने लगा तो एक दूसरे घायल ने कहा कि मुझे जल पिलादो। इस पर मेरे भाई ने कहा कि पहले इसे ही पिलाओ। मै उसके निकट गया तो एक और घायल ने जल माँगा। तब उस घायल ने कहा कि पहले इसे ही पिलाओ। परन्तु जितनी देर में मै जल लेकर उसके पास पहुँचा। इतने में उसके प्राण छूट गये। फिर जब मै लौटकर दूसरे घायल और अपने भाई के पास आया तो वे भी प्राणहीन ही मिले। इस प्रकार सभी ने अपने जीने की

अपेक्षा अपने मित्रों के जीने को विशेष आवश्यक समझा और उनकी प्राणरक्षा के लिये अपने प्राणों तक की परवाह नहीं की ।

बसरहाफ़ी नाम के एक सन्त तो ऐसे परम उदार हुए है कि जब उनका शरीर छूटने वाला था तभी किसी अर्थी ने आकर याचना की । किन्तु उनके पास कुछ भी नहीं था । तो भी उन्होंने अपने गले का वस्त्र उतारकर उसे दे दिया । फिर किसी दूसरे का वस्त्र माँगकर स्वयं पहना और एक मुहूर्त्त पश्चात् शरीर त्याग दिया । उस समय कई बुद्धिमानो ने कहा था कि बशरहाफी जैसे इस लोक में आये थे वैसे ही परलोक मे गये । अर्थात् जिस प्रकार नग्नावस्था में उन्होने जन्म लिया था उसी प्रकार सर्वथा संग्रहशून्य होकर परलोक गमन भी किया ।

(उदारता और कृपणता की मर्यादा)

बहुत लोग ऐसे होते हैं जो अपने को उदार समझते है, किन्तु दूसरों की दृष्टि में वे कृपण होते हैं । अतः इस भेद को अवश्य जानना चाहिये कि वास्तव में कौन उदार है और कौन कृपण । यह कृपणता एक दोर्घ रोग है, अतः जब तक इसकी पहचान न होगी तब तक चिकित्सा भी कैसे की जा सकेगी ? यह बात भी निश्चित ही है कि अर्थियों के अर्थ की पूर्त्ति हर कोई नहीं कर सकता । यदि इसे कृपणता माना जाय तो इस दृष्टि से तो सभी कृपण ठहरते हैं । किन्तु ऐसी बात नही है । वास्तव में कृपण तो वही है जो उस वस्तु को नहीं देता जिसे विचार की मर्यादा से दे देना उचित हो । विचारदृष्टि से जिस वस्तु को दे डालना सुगम है उसे जो नहीं देता वह भी कृपण ही है । जो पुरुष भोजन की सामग्री लेते समय बहुत विवाद करे, अपने सम्बन्धियों को आहार या वस्त्र देने में संकोच करे अथवा याचक को देखकर अपना आहार छिपा ले वह निश्चय ही कृपण है । कृपणता का तो अर्थ ही यह है कि जो वस्तु देनी उचित हो, उसे न दे सके । भगवान्

ने यह धन तो व्यवहार के लिये ही रचा है। यदि कोई पुरुष इस रहस्य को न जाने और धन को इकट्ठा करता रहे तो यह कृपणता का ही लक्षण है। धन दान करने की शास्त्र से आज्ञा है और इससे हृदय का भाव एवं दया भी जानी जाती है, इसलिये धन-दान करना चाहिये। शास्त्र में जो दशांश दान करने का आदेश है वह तो संसारी पुरुषों के लिये है, क्योंकि अल्पबुद्धि पुरुष इससे अधिक कुछ नहीं दे सकते। विचारवानों की दृष्टि में तो यह भी कृपणता ही है।

किन्तु भावपूर्वक जो धन दिया जाता है उसके अधिकार भिन्न-भिन्न है। एक वस्तु निर्धन को देनी उचित होती है, किन्तु धनवान् को देने में अच्छी नहीं लगती। इसी प्रकार कोई वस्तु अर्थियों को दी जा सकती है, किन्तु वही मित्र को देनी निन्द्य होती है। कोई पदार्थ अन्य पुरुषों को दे सकते है, किन्तु सम्बन्धियो को नहीं दिया जा सकता तथा कोई वस्तु स्त्रियों को देना उचित होता है, किन्तु पुरुषों को देना नहीं। व्यवहार में यद्यपि धनसंग्रह करना भी अच्छा है, किन्तु यदि कोई ऐसा निमित्त उपस्थित हो जाय जो संग्रह करने से भी अधिक आवश्यक हो तो उस समय धन को दे डालना ही अच्छा होता है। हाँ, यदि देने का कोई विशेष प्रयोजन न हो तो उसका संग्रह करना ही अच्छा है। किन्तु कृपण पुरुष इस मर्यादा मे स्थित नही रह सकता। मान लो, किसी के घर कोई अभ्यागत आवे, तो उस समय धन-संग्रह करने की अपेक्षा उसका सत्कार करना ही अधिक आवश्यक है। ऐसी अवस्था में यदि कोई ऐसा सोचकर कि मै तो पहले ही दशांश दान कर चुका हूँ, उसकी कोई आवभगत न करे तो यह उसकी कृपणता और नीचता ही होगी। इसी प्रकार यदि इसका पड़ौसी निर्धन हो और इसके पास अन्न की अधिकता हो, किन्तु वह उसे भूखा देखकर भी कुछ न दे, तो यह भी कृपणता ही होगी।

तथा जब यह दयाभाव से यथाशक्ति दान करता रहे, किन्तु इसके पास धन इससे भी अधिक हो तो इसे अपने पारलौकिक कल्याण की दृष्टि से कुएँ, तालाब, पुल या देवस्थान आदि धार्मिक स्थान भी बनवाने चाहिये, जिनसे चिरकाल तक जनता को सुख प्राप्त हो। यदि धन होने पर भी यह ऐसे कार्य नहीं करता तो संसारी लोग भले ही इसे कृपण न कहें, विचारवानों की दृष्टि में तो कृपण ही माना जाता है। तात्पर्य यह है कि जब यह पुरुष शास्त्र और भाव के अनुसार दान करता रहे तभी कृपणता से मुक्त हो सकता है।

यह सब होते हुए भी इसे उदार तो तभी कहा जा सकता है जब इसका यह देना उत्तरोत्तर बढ़ता जाय। धन की मर्यादा के अनुसार यह अधिकार भी सबका भिन्न भिन्न है। तथापि जिसे देना सुगम हो जाता है वही उदार कहलाता है और जो देने में कठिनता का अनुभव करता है वह कृपण है। किन्तु जो मनुष्य यश या मान के लिये देता है अथवा प्रत्युपकार की इच्छा रखता है उसे उदार नहीं कह सकते। वास्तव में उदारता तो निष्काम भाव से देने का ही नाम है। हाँ, इस जीव के लिये प्रयोजन से रहित होना है बहुत कठिन। बिना प्रयोजन देना तो भगवान का काम है। संसारी पुरुषों की दृष्टि से तो जो पुरुष स्वर्गप्राप्ति या कामनापूर्ति के लिये देता है वह भी उदार ही होता है। किन्तु संत-जनों के मत में तो उसे ही उदारता कहते है जब यह जीव निष्काम होकर अपना शरीर और सर्वस्व भगवान् को अर्पण कर देता है और प्रभु के प्रेम में ऐसा मग्न हो जाता है कि अपने शरीर और जीवन के दान को कोई चीज ही नही समझता। अपितु इन्हें देने में ही उसे आनन्द होता है।

(कृपणता की निवृत्ति के उपाय)

याद रखो, कृपणता का उपाय समझ और आचरण का मेल

होनेपर ही हो सकता है। समझ यह कि पहले कृपणता के कारण को पहचाने, क्योंकि जिसे रोग के कारण का ज्ञान नहीं होता, उसका उपाय भी नही हो पाता। कृपणता के प्रधानतया दो कारण है। उनमें पहला है भोगो की प्राप्ति। भोग बिना धन के सिद्ध नहीं होते इसलिये स्वभावतः भोगी पुरुष को धनसंग्रह के लिये कृपणता करनी पड़ती है। तथा दूसरा कारण है अधिक जीने की आशा। यदि यह मनुष्य ऐसा समझे कि मुझे कुछ ही दिनों में अथवा कुछ ही श्वासों के पश्चात् मर जाना है तो स्वभाव से ही इसका धन से प्रेम क्षीण हो जाय। किन्तु जिस पुरुष के सन्तान होती है उसका हृदय तो मरने के समय भी नहीं खुलता, क्योंकि मोहवश वह अपने पुत्रों के जीने को भी अपने जीने के समान ही मानता है। इसलिये उसकी कृपणता की गांठ और भी कस जाती है। इसीपर महापुरुष का कथन है कि सन्तान ही कृपणता और मोह का कारण है।

जो पुरुष भोगो के लिये धन से प्रेम करता है अथवा धनके प्रेमसे ही जिसे अधिक भोगों की अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है, उसे तो अधिक जीने की आशा से धन-सम्पत्ति का सञ्चय करने की वासना दृढ़ हो जाती है? किन्तु, कुछ लोग ऐसे भी होते है जिन्हें केवल सोने-चाँदी का ही राग होता है। वे तो अपने शरीर का भी यथोचित उपचार नहीं कर पाते और न दशांश भी दान कर सकते है। उन्हे तो यही अच्छा लगता है कि हमारे पास चाँदी–सोना ही दबा रहे। वे यद्यपि ऐसा भी जानते है कि हमारे मरनेपर उस धन को हमारे शत्रु ही ले जायँगे, तो भी कृपाणता के कारण वे उसे खर्च नहीं कर सकते। सो, यह तो ऐसा दीर्घ रोग है जिसका उपाय करना अत्यन्त कठिन है। किन्तु जब तुमने कृपणता का कारण जान लिया तब यह समझना चाहिये कि भोगो की प्रीति का निराकरण संयम के द्वारा हो सकता है। ऐसा सोच

कर जब यह पुरुष सन्तोषपूर्वक भोगों का त्याग करता है तब स्वाभाविक ही धन के प्रति इसकी आसक्ति क्षीण हो जाती है ।

कृपणता का दूसरा कारण है-अधिक जीने की आशा, सो इसकी निवृत्ति का उपाय यह है कि सर्वदा मृत्यु का स्मरण रखे तथा अपने सम्बन्धियों की ओर विचारपूर्वक देखे कि मेरी तरह वे भी धन-संचय करते थे और अपनी मृत्यु की ओर से अचेत थे किन्तु अन्त में अचानक ही पश्चात्ताप करते हुए काल के गाल में चले गये और उनका जो धन था वह भी उनके शत्रुओं के ही हाथ में पड़ा । तथा जो लोग अपने पुत्रों की निर्धनता के भय से कृपणता करते है उन्हें यह सोचना चाहिये कि सब जीवों की उत्पत्ति और पालन करनेवाले तो श्री भगवान् ही है यदि भगवान् ने उनके भाग्य में निर्धनता लिखी होगी तो मेरे कृपणता करने से वे कदापि धनवान् नहीं हो सकते । यदि मेरी बहुत सी सम्पत्ति बची भी रही तो वह नष्ट हो जायगी, और यदि भगवान ने इनके भाग्य में धन-सम्पत्ति रखी है तब तो मेरी सम्पत्ति के न बचने पर भी इन्हें बहुत-सा धन प्राप्त हो जायगा । यह बात बहुत जगह देखी जाती है कि कोई लोग तो पिता की सम्पत्ति न होने पर भी धनवान् हो जाते है और कोई बहुत अधिक पैतृक सम्पत्ति पानेपर भी निर्धनता का कष्ट भोगते है । अतः ऐसा विचार करे कि यदि मेरे पुत्र भगवान् के आज्ञाकारी होंगे तो उन्हें भगवान की प्रसन्नता पर्याप्त है ही और यदि वे भगवद्विमुख हुए तो निर्धन होने में ही उनका कल्याण है, क्योंकि इस से वे अनेक प्रकार के पापों से बचे रहेगे ।

इसके सिवा कृपणता की निषिद्धता और उदारता की विशिष्टता के विषय में संतजनों के जितने वचन आये है उनको बार-बार विचारे और ऐसा जाने कि कृपण मनुष्य भले ही भजननिष्ठ भी हो तो भी निःसन्देह नरकगामी होगा । अतः जो धन और

सम्पत्ति प्रभु की अप्रसन्नता और नरकों का कारण है उससे मुझे क्या लाभ होगा ? साथ ही कृपण मनुष्योंकी दशा पर भी दृष्टि डाले कि ये इस संसार में ही कैसे अपमान को प्राप्त होते है । सभी इनका निरादर करते है, इसलिये यदि मैं भी कृपणता करूँगा तो अवश्य ही सब लोगों की दृष्टि में गिर जाऊँगा । इस प्रकार ऊपर समझ को जो कृपणता की निवृत्ति का एक उपाय बतलाया था वह यही है । किन्तु जब ऐसा विचार करने से भी कृपणता दूर न हो तब आचरण के द्वारा इस प्रकार उसकी निवृत्ति का उपाय करे कि जिस समय इसके हृदय में कुछ दया या दान की श्रद्धा का स्फुरण हो तो तत्काल उसकी पूर्ति करे, उस सात्त्विक सकल्प को व्यर्थ न होने दे । कहते है कि कोई सन्त शौचालय में गये हुए थे, उसी समय एक याचक ने कहा कि मुझे कुछ दो । बस, उन्होंने उसी स्थान से अपने अङ्ग का वस्त्र उतारकर अपने सेवक के ऊपर फेक दिया और उससे कहा कि यह कपड़ा इस याचक को दे दो । पीछे जब वे उस स्थान से बाहर आये तो सेवक ने पूछा कि आपने वस्त्र देने में इतनी उतावली क्यों की ? बाहर आने-पर ही दे देते । तब उन्होंने कहा, "मुझे इस बात का डर था कि इस समय तो मेरे चित्त में देने का सकल्प है, यदि पीछे कोई और संकल्प उठा और उसने इस श्रद्धा को शिथिल कर दिया तो बड़ा अनर्थ होगा ।" इसमें सचमुच कोई सन्देह नहीं कि धन दिये बिना किसी भी प्रकार कृपणता दूर नहीं हो सकती । जैसे सम्बन्धी का वियोग हुए बिना मोह-निवृत्ति का विचार ही उदित नहीं होता उसी प्रकार धन की आशक्ति को दूर करने का भी यही उपाय है कि धन का त्याग करे । यदि विचारदृष्टि से देखा जाय तो कृपणता करने की अपेक्षा धन को समुद्र मे डाल देना भी अच्छा है । धन का संग्रह करना तो अत्यन्त निन्दनीय है ।

इसके अतिरिक्त कृपणता को दूर करने का एक उत्तम उपाय

यह भी है कि अपने मन को यश एवं मान का प्रलोभन दे और इसी निमित्त से उदारता में तत्पर रहे। अर्थात् मान की अभिलाषा से धन की तृष्णा को घटावे और जब धन की तृष्णा से छूट जाय तब यत्न करके मान की अभिलाषा को निवृत्त करदे। इस बात को इस दृष्टान्त से समझ सकते हैं कि जैसे जब बालक को माता के दूध से छुड़ाना होता है तो पहले किसी अन्य खान-पान का प्रलो-भन देकर फुसलाया जाता है और जब उसे दूध का विस्मरण हो जाता है तब उस खान-पान का भी विशेष आकर्षण नहीं रहता।

एक यह भी बहुत अच्छा उपाय है कि किसी एक स्वभाव को बढ़ाकर दूसरे को घटावे और फिर उस स्वभाव की प्रबलता को भी शिथिल कर दे। जैसे किसी के वस्त्र में रक्त लगा हो तो पहले भले ही उसे मूत्र से धो ले और जब उस रक्त का धब्बा न रहे तो मूत्र की अशुद्धि को शुद्ध जल से निवृत्त करले। इसी प्रकार यदि मान की अभिलाषा में आसक्त होने की सम्भावना न हो तो मान के द्वारा कृपणता को निवृत्त कर देना अच्छा ही है। साथ ही यदि भाव की दृष्टि से देखा जाय तो यह बात भी स्पष्ट ही है कि यदि मान में आसक्त होकर भी कृपणता को दूर किया जाय तो भी मान का बन्धन कृपणताके बन्धन की अपेक्षा कोमल है। कृपणता और मान, ये दोनो यद्यपि मन के ही स्वभाव है, तो भी इनमें इतना भेद है जैसे कि स्वप्न में देखे हुए बगीचे और शोचालय का। जाग्रत की अपेक्षा यद्यपि ये दोनों ही मिथ्या है तो भी स्वप्नावस्था में शौचालय की अपेक्षा बगीचा श्रेष्ठ है। इससे निश्चय होता है कि यदि मान के लालच से भी उदारता आ जाय तो वह निन्दनीय नहीं है, क्यों-कि मान और प्रदर्शन, ये भजन मे तो अवश्य निन्दनीय हैं, किन्तु व्यवहार में नहीं। तात्पर्य यह है कि यदि कोई मानप्रिय उदार पुरुष हो तो कृपण उसे बुरा न कहे, क्योंकि कृपणता के दोष की अपेक्षा तो मानपूवक उदारता करना भी अच्छा है।

अतः जिस पुरुष को कृपणता दूर करने की इच्छा हो उसे चाहिये कि जब तक उदारता का स्वभाव दृढ़ न हो तबतक प्रयत्न-पूर्वक धन देता रहे। इसी से कितने ही सन्तजन जब किसी जिज्ञासु की किसी स्थानविशेष मे आसक्ति देखते थे तो उसे वहाँ से हटाकर दूसरे स्थान में भेज देते थे। और फिर उस स्थान की सामग्री भी अर्थी लोगों को बाँट देते थे। उन्हें यदि मालूम होता कि किसी भगवत्प्रेमी का अपने नवीन वस्त्र में राग हो गया है तो वे उसे किसी याचक को दिला देते थे। कहते है, एक बार एक भक्त महापुरुष के लिये एक नया जूता-जोड़ा लाया। वह उन्होंने पहन लिया। किन्तु जब वे भगवान् की उपासना करने लगे तो उनकी दृष्टि उस जूते की ओर गयी। तब उन्होने उससे अपना पुराना जूता ही लाने को कहा। इससे निश्चय होता है कि धन को त्यागे बिना उसका मोह निवृत्त नही होता। और जब तक इस पुरुष का हाथ नही खुलता तबतक हृदय भी नहीं खुलता। इसी से जब यह निर्धन होता है तब तो उदार और खुले हृदय का रहता है और जब इसके पास कुछ धन इकट्ठा हो जाता है तो उस सचय के रस में बँधकर ऐसा कृपण हो जाता है कि कुछ भी खर्च नहीं कर सकता। हाँ, यदि इसके पास कोई पदार्थ न हो तो स्वाभाविक ही इसे उसका मोह भी नहीं होता। इस विषय में एक कथा प्रसिद्ध है। एक बार एक राजा के आगे किसी पुरुष ने भेंट करने के लिये एक रत्नजटित कटोरा रखा। राजा ने उसे देखकर एक बुद्धिमान से कहा कि यह कटोरा कैसा आश्चर्यरूप है? बुद्धिमान बोला, "यह कटोरा तो शोक और निर्धनता का बीज है, क्योंकि जब यह टूट जायगा तो इसके समान कोई दूसरा कटोरा न मिलने के कारण इसके बिना आपको निर्धनता और शोक का अनुभव होगा। जब तक यह आपके पास नही आया था तब तक तो आप इस निर्धनता और शोक से मुक्त ही थे।" दैवयोग से एक दिन

वह कटोरा टूट गया और राजा को उसके कारण बहुत शोक भी हुआ। तब उसने कहा, "उस बुद्धिमान ने ठीक ही कहा था।"

(धन के मन्त्र)

याद रखो, यह धन सर्प के समान है। इसमें विष और अमृत दोनों ही पाये जाते है। इसीसे मै पहले भी कह चुका हूँ कि मन्त्र सीखे बिना धनरूपी सर्प के हाथ लगाना अच्छा नही। किन्तु यदि कोई कहे कि कितने ही सन्त पहले भी हो चुके है; यदि धन का रखना सर्वथा अनुचित होता तो वे क्यों रखते ? तो उनका यह कथन ऐसा ही है जैसे कोई बालक सपेरे के हाथ में सर्प देख कर कहे कि यह पुरुष सर्प को कोमल जान कर पकड़ हुए है; और फिर स्वयं भी सर्प पर हाथ डाले। ऐसा करनेपर उसकी मृत्यु ही होगी। जिस प्रकार सपेरा मन्त्रों द्वारा कीलकर ही सर्प को पकड़ता है उसी प्रकार धनरूपी सर्प के भी पाँच मन्त्र हैं—

१. सब से पहले धन के उपयोग को पहचाने। वास्तव में, धनोपार्जन करने का उद्देश्य इतना ही है कि उसके द्वारा शरीर के खान-पान और वस्त्रादि का कार्य सिद्ध हो जाता है। शरीर इन्द्रियों का स्थान है और इन्द्रियाँ बुद्धि की चाकर है। बुद्धि का कार्य यह है कि इन्द्रियो के द्वारा प्रभु की कारीगरी देखकर उनके सामर्थ्य को पहचाने, क्योंकि प्रभु की पहचान करने से जीवात्मा शुद्ध होता है। अतः जिस पुरुष ने इस भेद को समझा है वह अपने पास निर्वाह-मात्र ही धन रखता है और उसमें विशेष आसक्त भी नही होता।
२. धन का उपार्जन निश्छल एवं निष्पाप साधनो से करे और उसे विचार की मर्यादा के अनुसार खर्च करे।
३. जितने में शरीर का निर्वाह हो जाय उससे अधिक सग्रह न करे। जब कोई अर्थी दिखायी दे तो कृपणता करके

उससे धन को छिपाये नहीं। यदि अधिक उदारता न कर सके तब भी अपनी योग्यता के अनुसार अवश्य दान करे।

४. अपनी जीविका का निर्वाह संयमपूर्वक करे। धन को अधिक भोगों में व्यय न करे, क्योंकि संयमसहित आजीविका करनी निर्दोष व्यवहार से भी बढ़कर है।

५. धन को एकत्रित करने और खर्च करने में अपना संकल्प शुद्ध रखे। संकल्प की शुद्धि यही है कि जब किसी पदार्थ को स्वीकार करे तो उसके द्वारा निश्चिन्त होकर भजन में ही स्थित होने का भाव रखे और जब किसी वस्तु का त्याग करे तब भी माया की सामग्री के बन्धन से छूटने के लिये ही त्यागे। तात्पर्य यह है कि सब प्रकार अपने चित्त की दृष्टि धर्ममार्ग में ही स्थित रखे।

इस प्रकार जो पुरुष इन भेदो को समझकर धन रखता है उस पर धनसंग्रह के दोषों का प्रभाव नहीं होता और न धन का विष ही उसे स्पर्श करता है। इस विषय में सन्त अली का कथन है कि यदि कोई पुरुष सारी पृथ्वी के धन का संग्रह करे किन्तु उसका उद्देश्य सब प्रकार शुद्ध हो तो निश्चय ही उसे कोई दोष नहीं होता, वस्तुतः वह तो विरक्त ही है। और यदि कोई पुरुष सग्रह तो न करता हो, किन्तु उसका उद्देश्य निष्काम न हो, तो उसे विरक्त नहीं कहा जा सकता। अतः उचित यह है कि जिज्ञासु का हृदय सब प्रकार भगवान् के भजन की ओर लगा रहे। तब तो उसकी सभी क्रिया सफल होती है और उसका भोजन करना तथा मल त्यागना भी पुण्यरूप होता है; क्योंकि शरीर को इन सब क्रियाओं की आवश्यकता है तथा शरीर का धर्ममार्ग से सम्बन्ध है। अतः उद्देश्य शुद्ध होने पर ही सब कर्म सफल होते है।

परन्तु, बहुत लोग तो अचेत होने के कारण धनरूपी सर्प के इन मन्त्रों को जान नहीं सकते और न उन्हें मन की शुद्धता की

ही पहचान होती है अथवा यदि जान भी लेते हैं तो भी उसके अनुसार आचरण करने में तत्पर नहीं हो सकते। अतः उनके लिये यही अच्छा है कि अधिक धन का संग्रह न करें; क्योंकि यदि कोई पुरुष धन की अधिकता होनेपर भी भोगों की अधिकता में आसक्त न हो तो भी उसे धनके संचय और संरक्षण का विक्षेप तो सहना ही पड़ेगा। इस विषय में यह प्रसंग भी प्रसिद्ध है कि एक भक्त महापुरुष के अत्यन्त प्रिय थे और उनके पास धन भी बहुत था। एक बार उनके सेवक मन देश से बहुत सा व्यापारिक संघात (काफिला) लेकर आये। उस समय ऊँटों के शब्द से नगर में बड़ा कोलाहल फैल गया। उसे सुनकर महापुरुष की धर्मपत्नी आयशा ने कहा, "महापुरुष ने सत्य ही कहा था।" यह बात किसी ने उन भक्तराज को सुनायी। वे अत्यन्त विनीत होकर आयशा के पास आये और पूछने लगे कि महापुरुष ने क्या कहा था? तब आशया ने कहा, 'एक बार महापुरुष कहते थे कि हमने सूक्ष्म दृष्टि द्वारा ध्यान करके स्वर्ग को देखा तो वहाँ हमें अनेकों वैराग्यवान् दिखायी दिये, किन्तु हमें कोई धनी स्वर्ग में जाता दिखायी नहीं दिया। पर उन सब वैराग्यवानों के पीछे अमुक भक्त जा रहा था। वह चलने में समर्थ नहीं था, तो भी यत्न करके गिरता पड़ता स्वर्ग में पहुँच गया।" यह बात सुनकर उन भक्तराज ने अत्यन्त प्रसन्न हो अपने सब ऊँट और जो कुछ सामग्री उन पर लदी थी वह सभी अर्थियों को बाँट दी तथा साथ में जितने दास थे उन्हें भी मुक्त कर दिया। फिर कहने लगे कि किसी प्रकार मैं भी वैराग्यवानों के साथ स्वर्ग में पहुँच जाऊँ तो अच्छा हो।

इसी प्रकार एक और भगवत्प्रेमी का कथन है कि यदि मैं निष्पाप साधनों द्वारा नित्यप्रति तीन हजार रुपये पैदा करूँ और उन्हें धर्म-कार्यों में खर्च करते हुए भगवान् के भजन-स्मरण में ही लगा रहूँ, तो भी मैं इस धनसम्बन्धी विक्षेप में नहीं पड़ना

चाहता। तब किसी ने उनसे पूछा कि आप ऐसे निर्दोष धन को भी क्यों नहीं चाहते ? उन्होने कहा, "मै अपनी बुद्धि के अनुसार भले ही ऐसी शुद्धि करूँ तो भी जब स्वर्ग में मुझसे पूछेंगे कि तुमने यह धन किस प्रकार पैदा किया और किस कार्य में लगाया तो मुझे अपने में इन प्रश्नों का उत्तर देने का सामर्थ्य दिखायी नही देता। इस विषय मे महापुरुष का कथन है कि जिन पुरुषों ने पापपूर्वक धनोपार्जन करके पाप मे ही उसे खर्चा है वे जिस प्रकार नरक में जायेगे उसी प्रकार वे लोग भी नरकगामी होंगे जिन्होंने निष्पाप साधनो से धन कमा कर उसे भोगो में लगाया है। इसी प्रकार जिन्होने पापपूर्वक कमाया हुआ धन दान किया होगा वे भी नरक से नही छूटेगे। हाँ, जिसने निष्पाप साधनो से धन का उपार्जन किया होगा और धर्म-कार्यो मे ही उसे लगाया होगा उसीको परलोक मे लेजाकर विचार करेगे कि यह भजन से विमुख तो नही रहा ? अधिक भोगासक्त तो नहीं रहा ? दान करके अभिमानी तो नहीं हुआ ? ऐसा तो नही हुआ कि इसने किसी सम्बन्धी या निर्धन पड़ौसी की सुधि न ली हो, अथवा विधिपूर्वक प्रभु के उपकार का धन्यवाद न दिया हो ? इस प्रकार उस धनवान् से यह एक-एक बात पूछी जायगी और यदि उसने किसी प्रकार की अवज्ञा की होगी तो उसके लिये उसे दण्ड दिया जायगा। तथा महापुरुष नेभी कहा है कि मैने इसलिये निर्धनता स्वीकार की है जिसमें दूसरे लोग भी इसे अच्छा समझे।

कहते है, एक बार महापुरुष एक भक्त को साथ लिये अपनी पुत्री के द्वार पर गये और पूछा कि हम भीतर आवे ? पुत्री ने कहा, "बहुत अच्छा, किन्तु मेरे शरीरपर वस्त्र थोड़ा है।" तब महापुरुष ने अपना वस्त्र उतार कर भीतर फेक दिया और भीतर गये तो पूछा, "बेटी ! तेरी कैसी स्थिति है ?" पुत्री ने कहा, "मै रोग और भूख से अत्यन्त आतुर हूँ, मुझे उदरपूर्ति के योग्य भी आय नहीं

है अब तो मुझ में भूख सहन करने का सामर्थ्य नहीं रहा है।" तब महापुरुष ने कहा, "बेटा ! तू अधीर मत हो, मुझे भी भूखा रहते तीन दिन बीत चुके है। इसमें सन्देह नहीं कि यदि मै प्रभु से याचना करूँ तो मुझे अवश्य मिल सकता है, किन्तु मैंने तो माया के सुखो से विरक्त होकर परलोक के सुखो को ही अङ्गीकार किया है। इसलिये मैं उनसे किसी भी वस्तु की याचना नहीं करता।" फिर उन्होंने अपनी पुत्री के सिर पर हाथ रखकर कहा, "तू इस वैराग्य के ही प्रभाव से सब स्त्रियों में श्रेष्ठ होगी और परम सुख प्राप्त करेगी। अतः धैर्य रख कर भगवान का धन्यवाद कर।"

इसी प्रकार एक प्रसङ्ग और भी है—एक बार मार्ग मे महात्मा ईसा का एक पुरुष के साथ सङ्ग हो गया। उसके पास तीन रोटियाँ थी। चलते-चलते जब वे एक नदी के तट पर पहुँचे तो वहाँ दोनों ने उनमें से दो रोटियाँ खा लीं। इसके पश्चात् जब महात्मा ईसा नदी की ओर गये तो दूसरे व्यक्ति ने बची हुई तीसरी रोटी भी खा ली। लौटने पर जब उन्होने पूछा कि तीसरी रोटी का क्या हुआ ? तो उसने कहा, "मुझे पता नही।" आगे जानेपर उन्हें एक मृग मिला। उसे मार कर दोनों ने भोजन किया और फिर ईसा ने भगवन्नाम के प्रभाव से उसे जीवित कर दिया तथा अपने साथी से कहा कि जिन प्रभु के नाम का तुमने अभी इतना प्रभाव देखा है उन्हीं की शपथ करके कहो कि तीसरी रोटी कहाँ है ? उसने तब भी यही कहा कि मुझको कुछ खबर नहीं। आगे चलनेपर एक और नदी आयी। ईसा ने उस पुरुष का हाथ पकड़ा और दोनों सूखे ही नदी पार कर गये। अब उन्होने फिर पूछा कि जिन प्रभु के सामर्थ्य से तुम सूखे हो नदी को पार कर आये हो उन्हें अन्तर्यामी जानकर बताओ कि तीसरी रोटी कहाँ है ? उसने कहा, "मुझे तो पता नहीं।" आगे बढ़नेपर उन्होने बहुत-सा रेत इकट्ठा किया और भगवान् का नाम लेकर उसे सुवर्ण बना दिया।

उस सुवर्ण के तीन भाग करके महात्मा ईसा ने कहा, "इनमें से एक भाग मेरा है, एक तुम्हारा और एक उसका जिसने तीसरी रोटी खायी है।" तब तो उसे लोभ हो आया और वह बोला, "वह रोटी तो मैंने ही खाई थी।" इस पर ईसा ने कहा, "तो तुम्हीं सोने की ये तीनों ढेरियाँ ले लो।" इतना कह कर वे चले गये और वह पुरुष वहीं बैठा रहा। थोड़ी देर में वहाँ दो पुरुष और आ गये और ऐसा विचार करने लगे कि इसे मारकर ये तीनों ढेरियाँ हम ही ले ले और आपस में आधा-आधा बाँट ले। ऐसा निश्चय कर उनमें से एक आदमी दूसरे के लिये नगर से रोटियाँ लेने के लिये गया। वहाँ उसे ऐसा सङ्कल्प हुआ कि सारा सोना मै ही क्यो न ले लूँ, उसे क्यों लेने दूँ ? इसलिये वह रोटियो मे विष मिला लाया। इधर जो दो आदमी सोने की ढेरियो के पास रह गये थे उन्होने यह विचार किया कि जब वह भोजन लेकर आवे तो उसे मार डाले और यह सारा धन हम ही बाँट ले। बस, जैसे ही वह रोटियाँ लेकर आया कि उन्होने उसे मार डाला और फिर दोनों मिलकर भोजन करने लगे। थोड़ी देर मे विष के प्रभाव से वे भी मर गये और सोने की तीनो ढेरियाँ वहीं पड़ी रह गयीं। जब ईसा उधर लौटकर आये तो उन्होंने देखा कि सोने की तीनों ढेरियाँ उसी प्रकार पड़ी हुई है और तीन आदमी मरे हुए उनके पास पड़े है। यह देखकर इन्होने अपने भक्तों से कहा, "यह माया ऐसी ही छल-रूपा है, अतः इससे भय मानकर इसका त्याग करो।"

तात्पर्य यह है कि यदि कोई पुरुष बुद्धिमान् और शक्तिसम्पन्न हो, तो भी अधिक धन स्वीकार न करे। इसी में उसकी भलाई है, क्योंकि यह देखा गया है कि सर्प पकड़नेवालों में भी अधिकांश पुरुष सर्प के डसने से ही मरते है। जिस पर भगवान् की विशेष अनुकम्पा हो और जिसे वे सब प्रकार के विघ्नों से बचा ले उसकी बात तो वाणी का विषय ही नही है।

सातवीं किरण

मान-बड़ाई की आसक्ति और उससे छूटने के उपाय

मान, बड़ाई और अपनी प्रशंसा की प्रीति से बहुत लोगों की बुद्धि का नाश हुआ है। मान की आसक्ति के कारण ही लोग शत्रुता तथा और भी अनेको पापो में प्रवृत्त हो जाते है। मनुष्य में जब मान की आसक्ति अधिक बढ़ जाती है तो वह धर्ममार्ग से भ्रष्ट हो जाता है और उसका हृदय असत्य एवं कपट में प्रवृत्त होने लगता है। महापुरुष का कथन है कि मान की प्रीति कपट को इस प्रकार बढ़ाती है जैसे खेती को जल तत्काल बढ़ा देता है। सन्त अली ने भी कहा है कि सारे संसार को दो अवगुणों ने नष्ट किया है—(१) वासना के अनुसार भोगों में विचरना और (२) मान को प्रीति मे बँध जाना। इन दो विघ्नों से कोई विरला ही छूट पाता है, जिसे मान और स्तुति की इच्छा न हो और जो मायिक भोगों से विरक्त रहे। इस विषय में प्रभु भी कहते है कि परलोक की श्रेष्ठता उसी को प्राप्त होती है जिसे मान और बड़ाई की कोई अभिलाषा न हो। महापुरुष ने भी कहा है कि जिनकी अवस्था बाहर से मलिन जान पड़ती है और लोग जिन्हें पागल समझ कर उनकी कोई बात भी नहीं सुनते और न धनवान् ही उनका आदर करते है, किन्तु जिनका हृदय भगवत्प्रेम के कारण ऐसा उज्ज्वल है कि उनको दया से अनेकों लोगों को पवि-

त्रता प्राप्त होती है, वे ही वास्तव में परम सुख के अधिकारी है।

ऐसा भी कहा जाता है कि संसार में कोई पुरुष ऐसे होते है कि जब वे किसी से कुछ माँगते है तो उन्हें कोई एक पैसा भी नहीं देता; किन्तु यदि वे भगवान् से वैकुण्ठ की इच्छा करे तो वह भी उन्हें सुगमता से प्राप्त हो जाता है। इसी विषय में सन्त उमर ने कहा है कि मैंने एक भगवत्प्रेमी को एकान्त में रोते देखा, तो मैंने उससे पूछा कि तुम क्यों रोते हो? उसने कहा, "मैंने महापुरुष के मुख से यह सुना है कि थोड़ा कपट भी मनमुखता ही है; भगवान् तो ऐसे विरक्त पुरुषो को प्रेम करते है जो अपने को किसी के आगे प्रकट ही नहीं करते और जिन्हें कोई पहचान भी नहीं सकता, किन्तु जिनका हृदय अत्यन्त उज्ज्वल है और जो संशयरूपी अन्धकार से मुक्त है।" सन्त इब्राहीम अदहम कहते है कि जिसे इन्द्रियादिजनित भोग और अपनी प्रशंसा प्रिय है वह मनुष्य धर्ममार्ग में सच्चा नही कहा जा सकता। एक और सन्त ने भी कहा है कि सच्चे पुरुष का चिह्न यह है कि अपने को किसी प्रकार प्रकट न करे। सन्त हसन बसरी कहते है कि जिस पुरुष की बुद्धि दृढ़ नहीं होती और लोग उसका सम्मान करने लगते हैं उसका चित्त स्थिर नही रहता।

कहते है, एक बार सन्त अयूब मार्ग में जा रहे थे। उस समय बहुत लोग उनके साथ लगे हुए थे। तब वे कहने लगे, "भगवान् यह बात अच्छी तरह जानते है कि मै अपने हृदय में संसार के सम्मान को अच्छा नही समझता तथा इस प्रकार का सम्मान होता देखकर मै भगवान् के भय से बहुत संकोच में पड़ जाता हूँ।" तथा सुफियान सौरी सन्त ने कहा है कि सन्तजनों ने तो अपने को प्रकट करनेवाले वस्त्र को भी निन्द्य कहा है। तात्पर्य यह है कि जिस नवीन या पुराने वस्त्र के कारण यह मनुष्य विशेष जान पड़े उसे रखना अच्छा नहीं। जिज्ञासु को तो इस प्रकार

विचारना चाहिये कि कोई उसकी किसी प्रकार की चर्चा ही न करे। सन्त बशरहाफी भी कहते है कि मान प्राप्त करनेवाला व्यक्ति इस लोक और परलोक में भ्रष्ट हो जाता है।

(माया का स्वरूप)

जिस प्रकार धनवान् पुरुष वह कहलाता है जिसके पास धन और सम्पत्ति की सामग्री अधिक होती है उसी प्रकार ऐश्वर्य-वान वह कहलाता है जिसका लोगों के चित्तों पर अधिकार हो। उसकी शक्ति का सभी हृदयों पर प्रभाव होता है। इस प्रकार जिनका हृदय उसके अधीन हो जाता है उनके शरीर और धन पर भी उसका अधिकार हो जाता है। मनुष्य का हृदय उसी के अधीन होजाता है जिसकी श्रेष्ठता और पूर्णता पर उसका विश्वास होता है; तथा यह श्रेष्ठता और पूर्णता विद्या एवं सत्स्वभाव के कारण हुआ करती है। अथवा जिन मनुष्यों का स्थूल ऐश्वर्य होता है उन्हें भी इस लिये श्रेष्ठता मिल जाती है, क्योंकि सभी लोग मान और ऐश्वर्य को बड़ी चीज समझते है। तात्पर्य यह है कि जब यह मनुष्य किसी के सूक्ष्म या स्थूल गुण के विषय में निश्चय करता है तो स्वाभाविक ही इसका हृदय उसके अधीन हो जाता है। इसलिये यह प्रसन्न चित्त से उसकी आज्ञा मानने लगता है, जिह्वा से उसकी महिमा का वर्णन करता है और शरीर से उसकी सेवा करने में तत्पर रहता है। जिस प्रकार सेवक सब प्रकार अपने स्वामी के अधीन रहता है उसी प्रकार यह उसके अधीन हो जाता है। किन्तु विचार करनेपर मालूम होगा कि सेवक भय के कारण स्वामी की सेवा करता है और गुणों में विश्वास करने वाला प्रसन्नता से अपने को उसके अधीन कर देता है। अतः मान का तात्पर्य यही है कि लोगों के चित्त इसके अधीन हो जॉय।

किन्तु तीन कारण ऐसे है जिनसे कि इस मनुष्य को मान से धन की अपेक्षा भी अधिक प्रीति होती है—

१. धन के द्वारा सब प्रकार के मनोरथों की पूर्ति होती है, इसलिये धन प्रिय होता है, और मान ऐसी वस्तु है कि जिसे यह प्राप्त होती है उसे धन भी स्वभाव से ही मिल जाता है। इसके विपरीत यदि कोई नीच पुरुष धन के बल पर मान प्राप्त करना चाहे तो उसे वह नहीं मिल सकता।
२. धन के साथ चोर और राजदण्ड आदि के भय लगे हुए है, किन्तु मान को कोई ऐसा विघ्न बाधा नहीं पहुँचा सकता।
३. धनोपार्जन के लिये तरह-तरह के यत्न करने पड़ते है, किन्तु मान बिना यत्न ही बढ़ता जाता है, क्योंकि यदि किसी के प्रति एक पुरुष का विश्वास दृढ़ हो जाता है तो उसके मुखसे प्रशंसा सुनकर स्वय ही देश-देशान्तर में उसकी कीर्ति फैल जाती है और अधिकाधिक लोगों का चित्त उसकी ओर आकर्षित होने लगता है।

अतः लोगों को जो धन और मान प्रिय जान पड़ते है उसका एक कारण तो यह है कि इनके कारण सहज ही में उसके मनोरथ पूरे हो जाते है और दूसरा यह कि मनुष्य यह जानता भी हो कि अमुक देश मे मै कभी नहीं पहुँचूँगा, तो भी यह अवश्य चाहता है कि मेरा मान देश-देशान्तर मे फैल जाय। इसमें एक रहस्य है, वह यह कि मनुष्य का हृदय देवताओ के समान उत्तम जाति का है। उसमें ईश्वर का प्रतिबिम्ब है। महापुरुष ने भी कहा है कि ये सब जीव प्रभु की सत्तास्वरूप ही है। उससे निश्चय होता है कि इस जीव का सम्बन्ध सब प्रकार भगवान के साथ ही है। प्रभु महान् है, इसलिये यह भी अपनी महत्ता चाहता है। अतः जिस मनुष्य में किसी प्रकार का सामर्थ्य होता है उसके हृदय मे स्वभाव से ही ऐश्वर्य की अभिलाषा स्फुरित हो जाती है। जैसे फिरऔन नाम के एक नास्तिक राजाने घोषणा की थी कि में ही

सारे जगत् का ईश्वर हूँ। वास्तव में, यह स्वभाव सभी मनुष्यों पर प्रबल है। यहाँ 'ईश्वर' का अर्थ यही है कि मेरे समान कोई दूसरा नहीं है, क्योकि जिसके समान अथवा जिसका प्रतिद्वन्द्वी कोई और होता है उसका ऐश्वर्य खण्डित हो जाता है। जैसे सूर्य की पूर्णता भी इसीलिये मानी गयी है, क्योंकि उसके समान कोई नही है, सारे प्रकाश उसी के आश्रित है। इसी प्रकार सर्वाङ्गपूर्ण तो केवल श्रीभगवान् ही है; और सब में भी उन्हीं की सत्ता भरपूर है। वे सर्वदा सत्यस्वरूप है, अतः कोई भी पदार्थ उनकी सत्ता के बिना सत्य नहीं भासता। इसीसे कहा है कि सब पदार्थ प्रभु के ही प्रतिबिम्ब है और उन्ही के आश्रित है, जिस प्रकार कि धूप सूर्य के आश्रित होती है। इससे निश्चय होता है कि सबके ईश्वर केवल भगवान् ही है। इसीलिये मनुष्य का स्वभाव है कि वह सर्वदा अपनी महत्ता और पूर्णता चाहता है और यही इच्छा करता है कि सब कोई मेरे ही अधीन हो।

किन्तु, जब तक अविद्या और शरीर का सम्बन्ध रहता है तब तक मनुष्य ऐसा सामर्थ्य प्राप्त नही कर सकता, चैतन्यांश का सयोग होने से ही इसमें ईश्वर के स्वभाव का स्फुरण होता है। तथापि मलिन अहंकार और विकारों के कारण यह अत्यन्त पराधीन हो रहा है, अतः वह समस्त पदार्थो को अपने अधीन नहीं कर सकता। इसके सिवा जीव की पराधीनता इसलिये भी है कि एक प्रकार की सृष्टि तो किसी भी प्रकार इसकी बुद्धि और शक्ति का विषय नहीं बनती, जैसे आकाश की पुरियाँ, देवगण, तारामण्डल, भूत-प्रेत आदि प्राणी, पातालान्तर्गत सृष्टि तथा जो अनेक प्रकार की रचना समुद्र और पर्वतो के गर्भ मे छिपी हुई है। ये सारी सृष्टियाँ प्रभु ही की रची हुई है, किन्तु इन पर मनुष्य का सामर्थ्य किसी प्रकार नही पहुँचता। तथापि इस सामर्थ्य से शून्य होनेपर भी यह स्वभाव से ही ऐसा प्रयत्न अवश्य करता

है कि मैं इन सृष्टियों का रहस्य भी जान लूँ । जैसे कोई व्यक्ति शतरंज का खेल न जानने पर भी यह चाहता है कि मैं इसकी गोटों को पहचान लूँ और इस खेल में जीत-हार का स्वरूप भी समझ लूँ । सो, इस प्रकार जानने की इच्छा और उसका वेग भी ऐश्वर्य का ही एक अङ्ग है । दूसरे प्रकार की सृष्टि वह है जिस पर इस मनुष्य का बल वर्तमान रहता है; जैसे वनस्पति और पशु आदि जो पृथ्वी पर प्रभु की रचना है, इसे यह अपने अधीन भी कर लेता है तथा अन्य सब पदार्थों से उत्तम जो मनुष्य का हृदय है उसे भी यह अपने अधीन करना चाहता है । इस प्रकार अपनी सामर्थ्य की वृद्धि मे ही इसका प्रेम है । अतः मान का अर्थ यही है कि मनुष्य ईश्वर का अंश हैं, इसलिये यह अपना ऐश्वर्य चाहता है । किन्तु उसमें अज्ञान यही है कि धन के कारण यह अपने को असमर्थ पाता है, इसलिये धन और मान में ही इसका विशेष प्रेम है ।

प्रश्न—यदि परमेश्वर का अंश और उनके साथ सम्बद्ध होने के कारण ही मनुष्य में मान और ऐश्वर्य की अभिलाषा स्फुरित होती है तो इससे तो यह निश्चय हुआ कि इस प्रकार की अभिलाषा करना अनुचित नहीं है, क्योंकि परमात्मा की पूर्णता तो विद्या और सामर्थ्य की दृष्टि से है । अतः जिस प्रकार विद्या से सम्पन्न होना एक विशेष बात है उसी प्रकार धन और मान की अभिलाषा भी एक प्रकार का गुण ही है, क्योंकि इनसे सामर्थ्य प्राप्त होता है ।

उत्तर—यद्यपि मनुष्य की पूर्णता ज्ञान और सामर्थ्य दोनों ही को प्राप्त करने में है और ये ही गुण श्रीभगवान् के भी हैं, तथापि इस मनुष्य को भगवान् ने समझ की ओर बढ़ने का मार्ग ही दिया है, ऐश्वर्य की ओर ले जानेवाला मार्ग नहीं दिया, क्योंकि जिस ऐश्वर्य के द्वारा भगवान् सब ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति और

स्थिति करते है वह सामर्थ्य जीव को प्रयत्न करनेपर भी प्राप्त नहीं हो सकता । इसके सिवा समझ तो ऐसी वस्तु है जिसके बढ़नेपर मनुष्य ज्ञान प्राप्त कर सकता है, किन्तु धन और मान का जो झूठा बल है उसके बढ़नेपर इसे सामर्थ्य की पूर्णता प्राप्त नहीं हो सकती । यद्यपि मनुष्य धन और मानकी शक्ति से अपने को बलवान् समझने लगता है तो भी यह स्थूल बल स्थिर नहीं रह सकता, क्योंकि धन और मान का सम्बन्ध इन्द्रियादि पदार्थों के साथ है और ये मृत्यु होनेपर अपने से दूर हो जाते है। इस प्रकार जो पदार्थ मृत्यु होनेपर दूर हो जाते है उन्हें सत्तास्वरूप नहीं कहा जा सकता । अतः उनकी प्राप्ति मे अपना समय व्यतीत करना मूर्खता ही है । इसके साथ सर्वदा रहनेवाला बल तो वही है जिस से इसे समझ की प्राप्ति हो, क्योंकि समझ का सम्बन्ध साक्षात हृदय के साथ ही है और हृदय सत्यस्वरूप ही है । अतः समझ-वाला पुरुष जब इन्द्रियादि देश को त्याग देता है तब भी समझ का प्रकाश उसके साथ ही रहता है और उसी प्रकार से वह प्रभु का दर्शन प्राप्त कर आनन्दमग्न हो जाता है । वह आनन्द ऐसा विलक्षण है कि जिसके सामने स्वर्गादि के सुख भी तुच्छ भासते है । इसीसे कहा है कि समझ का सम्बन्ध प्रभु ही के स्वरूप और गुणों के साथ है । इसलिये समझ को पूर्णता होनेपर फिर उसमें कोई परिणाम (परिवर्तन) नही होता । तात्पर्य यह है कि नाशवान् पदार्थ का तो कभी भाव (सत्ता) नही होता और जो सत्यस्वरूप है उसका कभो अभाव नहीं हो सकता ।

किन्तु जिनका सम्बन्ध स्थूल पदार्थों से है उन व्याकरण और ज्योतिष आदि विद्याओ का कोई विशेष मूल्य नही है । ये सब तो स्थूल विद्याएँ है । व्याकरण आदि की विशेषता तो केवल इसी दृष्टि से है कि उनके अध्ययन से भी मनुष्य को सन्तजनों के वाक्यों का रहस्य समझने की योग्यता प्राप्त होती है । और फिर

वह भगवान् के स्वरूप को पहचान सकता है तथा प्रभु के मार्ग में जो कठिन घाटियाँ है उन्हें पार करने के प्रयत्न को भी जान लेता है। तात्पर्य यह कि जो पदार्थ परिणामी और नाशवान् होता है उसकी समझ भी विनाशी ही होती है। अविनाशी समझ तो केवल प्रभु की पहचान ही है, उसका न तो परिणाम होता है और न नाश ही होता है। जिस पुरुष को जितनी समझ प्राप्त हो जाती है उतना ही वह भगवान् के समीप पहुँच जाता है। अतः यह समझ भी यथार्थ स्वरूप ही है। और यथार्थ सामर्थ्य भी वही है जिसके बल से मनुष्य भोगो के बन्धन से मुक्त हो, क्योंकि जिस पुरुष का हृदय भोगवासना से बँधा हुआ है वह तो वासना का ही दास है। वासना की प्रबलता ही जीव की हीनता है और वासना से मुक्त होना ही इसकी पूर्णता है। ऐसी पूर्णता होनेपर यह जीव देवताओं का निर्मल स्वभाव प्राप्त कर लेता है और सब प्रकार के परिणाम से रहित हो जाता है। अतः इस जीव की पूर्णता यथार्थ ज्ञान और भोगो से विरक्ति होने मे है। वह अविनाशी स्वरूप है और धनवानो की पूर्णता नाशवान् है। इस प्रकार निश्चय हुआ कि सभी मनुष्य अपनी पूर्णता से अनभिज्ञ है और अपनी हीनता को ही पूर्णता समझ कर भटकते रहते है। इसीसे वे सर्वदा दुःखी रहते है, मूर्खतावश उनकी प्रवृत्ति स्थूल पदार्थो की ओर ही रहती है तथा उनकी जो वास्तविक पूर्णता है उससे वे सर्वदा विमुख रहते है। इस प्रकार वे अपनी हानि की ओर चले जाते है।

पर यह बात ध्यान देने की है कि धन की तरह मान भी सर्वदा निन्दनीय नहीं होता। जिस प्रकार जीविकामात्र धनसंग्रह करना अच्छा है वैसे ही कार्यनिर्वाह के योग्य मान भी उपयोगी है। जब इस मनुष्य का हृदय अधिक धन या अधिक मान में आसक्त हो जाता है तब यह निःसन्देह परलोक के मार्ग से दूर रह जाता

है। मान का स्वरूप यह है कि मनुष्य को अपनी सेवा और रक्षा के लिये सेवक, मित्र, सहायक और राजा आदि का सहयोग प्राप्त होता रहे। और ये सभी प्राप्त होते है जब मन में इनका कोई आदर हो और इन्हे अच्छा समझता हो। यदि अध्यापक के हृदय मे विद्यार्थी का कोई मान न हो तो वह उसे पढ़ावे ही नहीं, इसी प्रकार यदि विद्यार्थी के मन में अध्यापक का कोई मान न हो तो वह पढ़े ही नहीं। इससे निश्चय होता है कि कार्यनिर्वाह के योग्य मान का सग्रह करना भी अनुचित नही है।

इस मान की प्राप्ति चार प्रकार से होती है। उनमें दो प्रकार निन्दनीय हैं और दो उपादेय है। दो निन्दनीय प्रकारो का विवरण इस प्रकार है –

१. अपने भजन-भाव का दिखलावा करके मान पाने की इच्छा रखना और अपने को बड़ा भजनानन्दी प्रकट करना। यह केवल दम्भ ही है, क्योंकि भगवान् का भजन तो निष्काम होना चाहिये। अतः भजन के सम्बन्ध से मान पाने की इच्छा रखना बहुत अनुचित है।
२. जिस विद्या का अपने को ज्ञान न हो, मान पाने के उद्देश्य से, उसका भी अपने को ज्ञाता प्रकट करना। यह भी बहुत अनुचित है। जैसे कोई विदेश में जाकर ठेभू ही अपने को ब्राह्मण या किसी अन्य उच्च जाति का प्रकट करे अथवा न जाननेपर भी कहे कि मै अमुक विद्या जानता हूँ। यह बात ऐसी ही है जैसे कोई पाप या छल से धन उत्पन्न करे।

इनसे अतिरिक्त मानप्राप्ति के जो उपादेय साधन बतलाये है वे इस प्रकार है—

१. यदि कोई मनुष्य अपनी ऐसी क्रिया को, जिसमें छल अथवा भजन का दिखलावा न हो, प्रकट कर दे तो

अनुचित नहीं। इसी प्रकार व्यवहार-कौशल से भी अपने मान की वृद्धि कर लेना कोई बुरी बात नहीं है।

२. यदि अपने पाप को छिपाकर मान-रक्षा करे और उसमें यह दृष्टि रखे कि यदि मेरा दोष प्रकट होगा तो लोग मेरी निन्दा करेंगे और इससे मैं ढीठ हो जाऊँगा, तो इसमें कोई बुराई नहीं। किन्तु, इस विचार से कभी अपने पाप को न छिपावे कि लोग मुझे साधु समझते रहे।

(मानासक्ति की निवृत्ति का उपाय)

याद रखो, जब अधिक मानकी आसक्ति बढ़ती है तब यह भी हृदय में दीर्घ रोग उत्पन्न हो जाता है। अतः इस रोग की निवृत्ति का उपाय करना चाहिये। यदि आरम्भ में ही इसका उपाय नही किया जायगा तो कपट, दम्भ, झूठ, पाखण्ड, वैरभाव और ईर्ष्या आदि और भी अनेकों पाप उत्पन्न हो जायेंगे। इसलिये धन और मानका इतना ही संग्रह करना चाहिये जिससे धर्ममार्ग का निर्वाह हो जाय और विशेष आसक्ति न बढे। जो पुरुष ऐसा बुद्धिमान् होता है उसे यह रोग नही बढ़ता। कारण कि, धन और मान मे उसकी आसक्ति नही होती, उसका उद्देश्य तो यही होता है कि इनकी ओर से निश्चिन्त होकर मैं भजन में तत्पर रहूँ। किन्तु जिस मनुष्य में मान की ही लालसा बढ़ जाती है उसके चित्त की वृत्ति तो सर्वदा दूसरे लोगो की ओर ही लगी रहती है। वह यही सोचता रहता है कि ये लोग मुझ कैसा समझते है, मेरे विषय में क्या कहते है और इनका मुझ में कैसा विश्वास है ?

अतः ऐसे रोग की चिकित्सा करना बहुत आवश्यक है। किन्तु यह चिकित्सा समझ और आचरण दोनों ही की अपेक्षा रखती है। समझ के द्वारा तो मान से होनेवाले विघ्नों का विचार

करे, क्योंकि मानी पुरुष इहलोक और परलोक दोनों ही में दुःखी रहता है। इस लोक में तो वह सर्वदा लौकिक मान और मनोहरताओं के चिन्तन से विक्षिप्त रहता है। जब उसे मान नहीं मिलता तो हृदय में बहुत लज्जित-सा हो जाता है और यदि मान मिलता है तो उसके अनेकों शत्रु और प्रतिद्वन्द्वी पैदा हो जाते हैं। फिर यह भी उन्हें नष्ट करने के लिये शत्रुता को ही पुष्ट करता है और हर समय अपने शत्रुओं के षड्यन्त्र से सशङ्क रहता है। इस प्रकार इसका सङ्कल्प कभी शुद्ध नहीं होता। यदि किसी समय यह शत्रुओं की अपेक्षा प्रबल भी हो जाता है तो भी इसकी यह महत्ता स्थिर नहीं रहती; वह तो एक क्षण में ही दूर हो जाती है, क्योंकि मान—बड़ाई का सम्बन्ध तो लोगों के मन के साथ है और लोगों का मन समुद्र की लहर के समान पल-पल में परिवर्तित होता रहता है। तात्पर्य यह कि जिस महत्ता का मूल संसारी पुरुषों का मन है वह महत्ता वास्तव में कोई वस्तु ही नहीं है, क्योंकि जब उनके चित्त में इसके विपरीत थोड़ा-सा भी सङ्कल्प फुरता है तभी यह सारी महत्ता नष्ट हो जाती है।

यह तो हुई जनसाधारण के सम्बन्ध से प्राप्त होनेवाले मान की बात। यही मान जब किसी राजा के सम्बन्ध से होता है तब तो इसे और भी तुच्छ समझना चाहिये, क्योंकि राजा के मन में तो थोड़ा-सा भी विपरीत सङ्कल्प फुरे तो वह तत्काल अपने प्रधान को भी पदच्युत कर देता है। इस प्रकार एक क्षण में ही उसका सारा मान मिट्टी में मिल जाता है। इससे निश्चय होता है कि मानी पुरुष सर्वदा इस लोक में दुःखी ही रहता है। किन्तु अल्पबुद्धि पुरुष इस बात को नहीं समझते। जिनके बुद्धिरूप नेत्र खुले हुए हैं वे तो स्वयं ही देख लेते हैं कि यदि इस लोक में किसी को उदयाचल से लेकर अस्ताचलपर्यन्त निष्कण्टक राज्य मिल जाय और सभी लोग उसे प्रणाम करने लगें, तो भी इस प्रकार की

प्रसन्नता कोई वास्तविक वस्तु नहीं है, क्योंकि मृत्यु होने के साथ ही ये सारी वस्तुएं अपने से दूर हो जाती हैं। कुछ दिनों में ही न तो वह स्वयं ही रहता है और न उसकी प्रजा ही रहती है। जिस प्रकार पहले के अनेकों चक्रवर्ती राजा आज स्वप्नवत हो गये हैं, अब उनका कोई स्मरण भी नहीं करता, उसी प्रकार यह सारा वैभव भी स्वप्नरूप हो जायगा। अतः थोड़े-से दिनों की प्रसन्नता के लिये परलोक के अमर राज्य को खो बैठना बड़ी भारी मूर्खता ही है। कारण कि जिस पुरुष का हृदय स्थूल महत्ता में बंध जाता है उसके चित्त से प्रभु का प्रेम निकल जाता है। और जो पुरुष भगवान् के सिवा किसी अन्य की प्रीति से बंधा हुआ परलोक में पहुँचता है वह अवश्य ही दीर्घकालीन दुःख का अधिकारी होता है। इस प्रकार यह समझ के द्वारा मानकी वासना को निवृत्त करने के उपाय का वर्णन हुआ।

आचरण के द्वारा दो प्रकार से मान की निवृत्ति का उपाय किया जाता है—

१. जिस देश में इसकी मानप्रतिष्ठा हो उसे त्यागकर अन्यत्र चला जाय और ऐसी जगह रहे जहाँ इसे कोई जानता ही न हो। यह एक उत्तम उपाय है। यदि यह अपने ही नगर में किसी एकान्त स्थान पर रहेगा तो लोग इसे त्यागी समझकर और भी अधिक मान करेंगे। इससे इसकी मान के रस में आसक्ति हो जायगी और फिर यदि कोई इसकी निन्दा करेगा तो उससे इसे बहुत दुःख होगा। फिर तो अपने को निर्दोष सिद्ध करने के लिये यह मिथ्या भाषण से भी नहीं डरेगा।
२. ऐसा आचरण करे कि जिससे अपने प्रति लोगों का श्रद्धा-विश्वास निवृत्त हो जाय। किन्तु इस उद्देश्य से भी पापकर्म न करे, क्योंकि ऐसे भी अनेकों मूर्ख होते हैं जो पापकर्म

करते रहते है और कहते हैं कि हम ऐसा आचरण प्रतिष्ठा से बचने के लिये करते हैं। किन्तु यह बात सर्वथा अनुचित है। अतः जिज्ञासु को इस प्रकार बर्तना चाहिये जिससे पापकर्म से भी बचा रहे और अपने प्रति लोगो के श्रद्धा-विश्वास में भी शिथिलता आ जाय। जैसे एक बार कोई राजा किसी सन्त के दर्शनार्थ गया तो सन्त, उसे आता देखकर, हाथ में रोटी और मूली लेकर बड़े-बड़े ग्रास खाने लगे। इससे राजा ने समझा कि ये तो बहुत तृष्णाग्रस्त जान पड़ते है, और फिर अपने घर लौट गया। इसी प्रकार एक और सन्त की भी प्रतिष्ठा बहुत बढ गयी थी। तब उन्होंने ऐसा किया कि जब स्नानगृह मे जायँ तब किसी दूसरे आदमी का वस्त्र पहन कर बाहर दरवाजे पर खड़े हो जायँ। इससे लोगों ने समझा कि ये तो चोर है और उन्हे बहुत तङ्ग किया। इसी तरह एक और अन्य सन्त का मान भी बहुत बढ़ा। तब उन्होने एक शीशे के गिलास में शरबत डाल कर अपने पास रख लिया और थोड़ा-थोड़ा पीते रहे। इससे लोगों ने समझा कि ये तो मदिरा-पान करते है। अतः जिज्ञासुओ ने मान के पजे से निकलने के लिये ऐसे ही अनेकों उपाय किये है।

(अपनी प्रशंसा सुनने की आसक्ति से छूटने के उपाय)

बहुत लोगों को संसार में अपनी प्रशंसा सुनने की बड़ी लालसा रहती है, वे सर्वदा अपनी बड़ाई सुनना चाहते है। यदि प्रशसा मिलने की सम्भावना हो तो वे शास्त्र की मर्यादा से विपरीत कर्म भी कर डालते है, और यदि लोकनिन्दा की सम्भावना हो तो शुभ कर्म भी नहीं करते। यह भी एक प्रकार का दीर्घ रोग है

और जब तक इसके कारणों की पहचान न हो तब तक इसका उपचार करना भी कठिन ही है। अतः हम इसके कारणों का विचार करते है। इस स्तुति सुनने की अभिलाषा के चार कारण है—

१. मनुष्य स्वभाव से ही अपनी महत्ता चाहता है और दीनता से ग्लानि करता है। अतः जब कोई इसकी स्तुति करता है तो उसमें अपनी महत्ता समझकर यह प्रसन्न होता है, क्यो कि महिमा सुनने से इसे अपने ऐश्वर्य का निश्चय होता है और ऐश्वर्य इसे अत्यन्त प्रिय है ही। इसके विपरीत जब अपनी निन्दा सुनता है तब प्रत्यक्ष ही अपनी हीनता देखता है और उससे दुःखी होता है। इसी से जब यह किसी बुद्धिमान् पुरुष के मुँह से अपनी निन्दा सुनता है तो इसे अधिक खेद और अप्रसन्नता होती है, क्योकि उसके यथार्थ वचनों में इसका अधिक विश्वास होता है। किन्तु जब वही बात किसी मूर्ख के मुख से सुनता है तो उसकी बात का विशेष मूल्य न समझने के कारण इसे उतना खेद और अप्रसन्नता भी नही होती।

२. जो कोई इसकी प्रशसा करता है उसे यह अपने सेवक के समान समझता है और जानता है कि इसके हृदय में मेरे गुणों का आदर है। अतः अपने को उसका स्वामी समझता है। इसीसे जब किसी उत्तम पुरुषसे अपनी प्रशसा सुनता है तब अधिक प्रसन्न होता है और जब किसी नीच पुरुष से सुनता है तो उतना आनन्दित नही होता।

३. जब यह किसी को अपनी प्रशसा करते सुनता है तो ऐसा भी समझने लगता है कि मेरी महिमा सुनकर और लोग भी मुझ पर विश्वास करेगे और मेरे अधीन हो जायेगे। इसीसे जब सभा के बीच में अपनी प्रशसा सुनता है तो

अधिक प्रसन्न होता है और जब एकान्त में सुनता है तो उतना हर्षित नही होता ।

४. स्तुति करनेवाले को यह अपने बल के अधीन समझता है और उसे अपना सेवक न भी समझे तो भी इतना तो मानता ही है कि यह किसी प्रकार के भय या प्रयोजन से ही मेरी स्तुति कर रहा है । यह बात भी इसे अत्यन्त प्रिय है । इसके कारण यह अपने को बड़ा जानकर प्रसन्न होता है । यही कारण है कि जब इसे प्रशंसा करनेवाले की बात सच नहीं जान पड़ती, उसका कथन विश्वसनीय नहीं जँचता अथवा वह श्रद्धापूर्वक या किसी प्रकार के भय और प्रयोजन से भी इसकी स्तुति नहीं करता, केवल उपहास के लिये ही इसकी बड़ाई करता है, तो उसमें प्रसन्नता का कोई कारण न होने से इसे कोई आनन्द भी नहीं होगा ।

इस प्रकार जब तुम इस रोग के कारण जान लोगे तो इसकी निवृत्ति का उपाय भी तुम्हारे लिये सुगम हो जायगा । और फिर जब तुम पुरुषार्थ करोगे तो इस रोग को निर्मूल कर डालोगे । अतः उपर्युक्त कारणों में से जो पहला कारण बतलाया गया है कि स्तुति करनेवाले के वचनो से यह अपनी महत्ता का निश्चय करके प्रसन्न होता है, सो इसकी निवृत्ति का उपाय तो यह है कि चित्त में ऐसा विचार करे कि यद्यपि यह पुरुष समझ, वैराग्य अथवा किसी अन्य शुभ गुण के कारण ही मेरी स्तुति करता है और इसकी बात भी ठीक है, तो भी मुझे तो भगवान् के उपकार पर ही प्रसन्न होना चाहिये, क्योंकि ये शुभ गुण मुझे भगवान् ही से तो मिले है, और किसी के स्तुति या निन्दा करने से ये घट-बढ़ भी नहीं सकते ।

इसके सिवा यदि कोई पुरुष ऐसा कहकर इसकी स्तुति करे कि आप बड़े धनवान् है, राजा-महाराजा है, अथवा किसी और

स्थूल पदार्थ का वर्णन करे, तो ऐसी बात पर तो प्रसन्न होना अनुचित ही है, क्योंकि ये सब सामग्री तो नाशवान् है। और यदि प्रसन्न भी हो तो ये सामग्रियाँ जिस प्रभु का प्रसाद है उनके उपकार का निश्चय करके ही हर्षित हो। किन्तु यदि विचार किया जाय तो अपने गुणों पर प्रसन्न होना भी उचित नही है, क्योंकि इस बात का पता किसी पुरुष को नही है कि अन्तकाल तक उसका निर्वाह किस प्रकार होगा। और जब तक जिज्ञासु को यह पता न लगे कि परलोक में उसकी कैसी गति होगी, तब तक उसका प्रसन्न होना कभी उचित नहीं हो सकता।

इसके अतिरिक्त यदि कोई पुरुष इसे गुणवान कहे और इसे ऐसा जान पड़े कि मुझ मे ऐसा कोई गुण नहीं है, तो ऐसी स्तुति से प्रसन्न होना तो बडी भारी मूर्खता ही है। जैसे यदि कोई कहे कि अमुक पुरुष का शरीर और उसके सारे अङ्ग दिव्य गन्ध से भरपूर है और उसके मलमूत्र में भी दुर्गन्ध नहीं है, किन्तु वह पुरुष प्रत्यक्ष जानता हो कि मेरे सब अङ्गों में तो मल-मूत्र और कफ आदि मलिन वस्तुएँ ही है और फिर भी उसकी स्तुति सुन कर वह प्रसन्न हो तो उसे महामूर्ख ही कहा जायगा।

इसे मान-बड़ाई के कारण जो अपनी स्तुति अच्छी लगती है उसका उपाय तो मै पहले ही बता चुका हूँ। और यदि कोई तुम्हारा निन्दा करे तो उसके ऊपर कुपित या अप्रसन्न होना तो बड़ी भारी मूर्खता ही है, क्योंकि यदि वह सच कहता है तो देवता है और झूठ कहता है तो असुर है तथा यदि उसे अपने झूठ का भी ज्ञान न हो तो पशु या गधा ही है। तात्पर्य यह है कि सत्य कहनेवाले को तो अपना गुरु समझे, इसलिये उसकी बात सुनकर ग्लानि न करे, प्रत्युत अपने अवगुण के लिये ही खेद करे, और जो मनुष्य पशु या गधा हो उसकी बात पर तो विश्वास करना ही अनुचित है। तथा जब कोई तुम्हारी किसी

स्थूल परिस्थिति को निन्दा करे कि यह अङ्गहीन अथवा निन्दक है, तो उससे भी अप्रसन्न होना उचित नहीं, क्योंकि सन्तों की दृष्टि में तो यह बड़ाई ही है। इसके सिवा ऐसा सोचना भी बहुत अच्छा है कि जिस पुरुष ने तुम्हारा कोई अवगुण साफ साफ तुम से कहा है, उसका वह कथन निम्नलिखित तीन प्रकारों से बाहर नही जा सकता—

१—यदि उसने यथार्थ और दयापूर्वक कहा है तब तो उसका उपकार मानो, क्योकि जब कोई तुमसे कहे कि तुम्हारे वस्त्र में सर्प है, तो उस सर्प लखानेवाले का निःसन्देह यह उपकार ही है। इन अवगुणों से होनेवाला दुःख तो सर्पदंश से भी अधिक तीक्ष्ण है, क्योंकि अवगुणों के द्वारा बुद्धि का नाश होता है। अतः दोष लखानेवाले को तो अपना मित्र ही समझना चाहिये। जैसे तुम किसी राजा के पास जाने का विचार करो और कोई पुरुष तुम्हें लखादे कि तुम्हारे वस्त्र तो मलिनता से भरे हुए है, पहले इन्हें धोकर स्वच्छ कर लो; उस समय यदि तुम उसकी बात ठीक मानकर वस्त्र धो लेते हो तो तुम्हें उसका उपकार ही मानना चाहिये, क्योकि तुम उन दुर्गन्धपूर्ण वस्त्रो को पहने हुए राजा के पास जाते तो निश्चय ही तुम्हें उसकी सभा में लज्जित होना पड़ता।

२—यदि निन्दा करनेवाले ने ईर्ष्यावश तुम्हारा अवगुण कहा है तो भी उसने अपने ही धर्म की हानि की है, तुम्हारी तो कोई हानि की नहीं है। यदि उसकी बात सुनकर तुम सहन कर लोगे तो इससे तुम्हें धैर्य का गौरव ही प्राप्त होगा।

३—यदि उसने झूठ ही कहा है, वास्तव में वह अवगुण तुममें है ही नही, तो भी और तो अनेकों दोष तुम्हारे में है ही।

अतः तुम्हें तो भगवान् का उपकार ही मानना चाहिये कि उन्होंने तुम्हारे वे दोष प्रकट नहीं किये। इसके सिवा तुम्हें निन्दक के शुभ कार्यों का पुण्य भी प्राप्त होगा।

इस प्रकार यदि विचार करके देखोगे तो मालूम होगा कि जो पुरुष तुम्हारी स्तुति करता है वह तो तुम्हारे दुःखका ही कारण है, क्योंकि उस स्तुति को सुनकर तो तुम्हारा अभिमान ही बढ़ता है। अतः तुम तो मूर्खतावश अपने दुःख की बात से ही प्रसन्न होते हो और अपनी भलाई की बात सुनकर खेद मानते हो। जिस पुरुष की ऐसी अवस्था हो, जान लो कि वह तो स्थूलता को ही देखता है गुणों के भेद का उसे पता नहीं है। और जो पुरुष बुद्धिमान् होता है वह स्थूलता की ओर नहीं देखता, वह तो उसके आन्तरिक रहस्य को ग्रहण करता है। तात्पर्य यह कि जब तक इस पुरुष को सम्पूर्ण संसार की ओर से पूर्णतया निराशा नहीं होती तबतक उसका यह स्तुति और मान का रोग नष्ट नहीं होता।

(स्तुति-निन्दा में विभिन्न पुरुषों की पृथक्-पृथक् अवस्थाओं का वर्णन)

स्तुति या निन्दा सुननेपर जीवो की चार प्रकार की अवस्थाएँ होती है। उनका विवेचन इस प्रकार है—

१—कुछ लोग तो ऐसे होते है जिन्हें अपनी स्तुति सुनकर प्रसन्नता होती है और जो स्तुति करनेवाले का उपकार मानते है। तथा जो निन्दा सुन कर कुपित होते है और निन्दक का अनिष्ट करना चाहते है। यह अवस्था अत्यन्त नीच है।

२—दूसरी अवस्था सात्त्विकी पुरुषो की है। यह स्थिति प्राप्त होनेपर मनुष्य यद्यपि हृदय में स्तुति-निन्दा को समान न जानता हो तो भी बाह्य व्यवहार में वह निन्दा और

स्तुति करनेवाले दोनों ही पुरुषों के साथ समान बर्ताव करेगा ।

३—तीसरी अवस्था विचारवान् पुरुषों की होती है । वे लोग निन्दा और स्तुति करनेवाले दोनों ही पुरुषों को मन, वचन और कर्म से समान समझते है । इसलिये वे निन्दा सुन कर अप्रसन्न नहीं होते और न ईर्ष्या या क्रोध ही करते है । इसी प्रकार स्तुति को भी वे कोई महत्त्व नहीं देते । उनका हृदय तो स्तुति-निन्दा से विरक्त ही रहता है । यह बहुत उत्तम अवस्था है, किन्तु कुछ मन्दमति जीव ऐसा समझने लगते है कि हमें यह पद प्राप्त हो गया है तथापि जबतक अपने हृदय की परीक्षा न कर ली जाय तबतक यह सारा कथन झूठा ही है । इसकी परीक्षा यही है कि निन्दक समीप बैठा रहे, तब भी उसके प्रति ग्लानि न हो । तथा जब वह किसी प्रकार की सहायता चाहे तो स्तुति करने-वाले के समान ही उसकी सहायता की जाय और उसीकी तरह उसे प्रिय समझे इसके सिवा जिस तरह स्तुति करनेवाले का चित्त में स्मरण होता है उसी प्रकार अधिक समय बीत जानेपर निन्दक की भी प्रीतिपूर्वक हृदय में याद आवे; तथा यदि कोई पुरुष उसे कष्ट पहुँचावे तो जैसे स्तुति करने वाले के दुःख से दुःखी होता है वैसे ही उसके दुःख से भी दुःखी हो । पर यह स्थिति है अत्यन्त कठिन कि जिस प्रकार स्तुति करनेवाले के अवगुण का चित्त में कोई विचार नही होता उसी प्रकार निन्दक के दोष को देखकर भी चित्त में क्रोध न हो । तथापि अभि-मानी लोग तो यही कह देते है कि हम धर्मरक्षा के निमित्त ही क्रोध करते है और इस प्रकार उस निन्दक के दोष को ही दूर करना चाहते है । सो, यह भी मन का

छल ही है, क्योंकि और भी अनेकों लोग अपकर्म तो करते ही है और वे भी दूसरो की निन्दा करते है, अतः जबतक उनको देखकर भी वैसी ही ग्लानि न हो तब तक तो यही समझना चाहिये कि निन्दक के प्रति क्रोध, धर्मरक्षा के लिये नहीं अपितु, अपनी वासना के अनुसार ही होता है। परन्तु इन तपस्वियों को भला ऐसे सूक्ष्म छल की पहचान कब होती है ? अतः विचार के बिना साम्य स्थिति पाने के उनके सभी यत्न व्यर्थ होते है।

४—चौथी अवस्था उत्तम पुरुषों की है। वे स्तुति करनेवाले को अपना शत्रु समझते है और निन्दक से अत्यन्त प्रेम करते है, क्योंकि निन्दक के वचनों से अपने दोषों का पता लगता है, और फिर वे उन दोषो की निवृत्ति करने के प्रयत्न मे लग सकते है। इस विषय में महापुरुष का कथन है कि जो पुरुष दिन में उपवास और रात्रि में जागरण करता है तथा तरह-तरह के वेष धारण करता है, किन्तु जबतक वह माया से विरक्त नही होता, अपनी महिमा को बुरी नहीं समझता और अपने निन्दक से प्रेम नहीं करता, तब तक उसकी सभी क्रियाएँ व्यर्थ होती है। किन्तु इस वाक्य के अर्थ पर विचार किया जाय तो इस पद का प्राप्त होना है अत्यन्त कठिन। जीवों को तो दूसरी अवस्था भी, कि हृदय मे स्तुति और निन्दा करनेवालो को समान न मनानेपर भी बाह्य व्यवहार में तो दोनों के साथ किसी प्रकार का भेद न रखे, कठिन ही होती है। मनुष्य तो सर्वदा अपनी स्तुति करनेवालो से प्रेम करते है और उन्हींके कार्यो मे सहायता करते है तथा निन्दक को कष्ट पहुँचाना चाहते है। अतः वे तो बाह्य क्रिया में भी पाप करते है, हृदय की समता तो अत्यन्त दुर्लभ वस्तु है।

इस प्रकार यह चौथी अवस्था जो निन्दक को मित्र और प्रशंसक को शत्रु समझने की कही गयी है, इसे प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। इसे तो वही प्राप्त कर सकता है जो अपने मन का विरोधी हो और सर्वदा अपनी वासनाओ के साथ युद्ध करता रहे। अतः वह जब किसी के मुख से अपना अवगुण सुने तो प्रसन्न हो और निन्दक की बुद्धि को इस प्रकार उज्ज्वल देखे कि उसने किस प्रकार मेरे दोष को ढूँढ़ लिया तथा इसी प्रकार प्रसन्न हो जैसे अपने शत्रु के अवगुण को सुनकर होता है। ऐसा जिज्ञासु भी कोई विरला ही होता है। इसी से कहा है कि यदि कोई पुरुष सारी आयुपर्यन्त यत्न और पुरुषार्थ करे तो भी उसके लिये स्तुति और निन्दा को समान समझना कठिन ही है।

याद रखो, जब यह पुरुष अपनी महिमा से प्रेम करने लगता है और निन्दा से ग्लानि करता है तब इसकी यह वासना इतनी प्रबल हो जाती है कि अपनी प्रशसा कराने के लिये भजन मे भी दम्भ करने लगता है। और जब इसे मालूम होता है कि अमुक पाप करने से मेरी प्रशंसा होगी तो पाप का भी कोई भय नही मानता। तात्पर्य यह कि जबतक मान और स्तुति की वासना का बीज मूल से ही नष्ट न हो तबतक तो पापकर्मों में तुरन्त आसक्त होने की सम्भावना रहती है। किन्तु जब बाह्य क्रिया में मित्र और शत्रु के साथ समान बर्ताव करे तथा मन, वचन और कर्मद्वारा निन्दक को कष्ट न पहुँचावे, उसका भला ही चाहे, तब ऐसा करते हुए यदि हृदय में शत्रु और मित्र को समता न भी कर सके तो भी पापी नही होता, क्योकि यह तो जीवका स्वभाव ही है और अपने स्वभाव से भिन्न होना अत्यन्त कठिन है।

अतः सन्तजनो ने कहा है कि यदि स्थूल पापो से छूट जाय तो यह भी बड़ी बात है, क्योकि सभी लोग प्रशसा की प्रीति और निन्दा की ग्लानि के कारण बहुत से अपकर्म भी करते रहते है।

उनके चित्त की वृत्ति सर्वदा इसी लालसा में लगी रहती है कि किसी प्रकार लोग हमारी प्रशसा करे और इस मन की वासना से वे अपकर्मो में प्रवृत्त हो जाते है। इससे यही निश्चय हुआ कि सभी मनुष्यों को दूसरों का सम्मान और आदर करना चाहिये। किन्तु मानप्राप्ति के लिये दम्भ या कपट करना अत्यन्त निन्दनीय और दुखों का बीज है।

आठवीं किरण

दम्भ का स्वरूप, उसका दोष और उसकी निवृत्ति के उपाय

याद रखो, भगवान के भजन में दम्भ करना महापाप है और प्रभु से विमुख होना है। अतः इसके समान और कोई रोग नहीं है, क्योंकि वेषधारियो का सकल्प सर्वदा यही रहता है कि किसी प्रकार लोग हमारा भजन देखे और हमें बडा भजनानन्दी समझे। जिस भजन मे ऐसी वासना रहे उसे भगवान् का भजन नहीं कह सकते। यह तो केवल लोकपूजा ही है। भजन में जब कोई कामना रहती है तो उसमें दम्भ घुस बैठता है। और भजन में दम्भ का आ जाना तो एक प्रकार की मनमुखता ही है। इसी से प्रभु ने कहा है कि जिस पुरुष को मेरे दर्शन की लालसा है उसे चाहिये कि मेरे भजन मे लोगों की पूजा को स्थान न दे, अर्थात् सर्वदा दम्भ से दूर रहे। साथ ही उन्होंने यह भी कहा है जो लोग असावधानी और दम्भपूर्वक मेरा भजन करते हैं वे परलोक में पश्चात्ताप करेगे। एकबार महापुरुष से किसी ने पूछा था कि इस जीवकी मुक्ति कैसे हो सकती है? तब उन्होंने कहा कि यदि यह पुरुष दम्भ छोड़कर भगवान् की आज्ञाओ का पालन करने में तत्पर रहे तो इसकी तत्काल मुक्ति हो जाय।

ऐसा भी कहा है कि परलोक में जब किसी पुरुष से पूछा जायगा कि तूने किस प्रकार भजन किया और वह कहेगा कि मैंने धर्म

के लिये सिर दिया था तो उसी समय आकाशवाणी होगी कि यह झूठ बोलता है, इसने तो अपने को शूरवीर जताने के लिये सिर दिया था, तब वह पुरुष नरक में ही पड़ेगा। फिर जब किसी दूसरे पुरुष से पूछेंगे कि तूने प्रभु की आज्ञा किस प्रकार मानी थी? और वह कहेगा कि मैंने प्रभु के निमित्त धन दान किया है, तब आकाशवाणी होगी कि यह भी झूठ बोलता है, इसने तो अपनी उदारता प्रकट करने के लिये दान दिया था, अतः वह भी नरक-गामी होगा। इसी प्रकार जब तीसरे पुरुष से पूछेंगे कि तूने किस प्रकार भजन किया था? और वह कहेगा कि मैंने बड़े मनोयोग से प्रभु के वचनों को पढ़ा था, तो उस समय भी आकाशवाणी होगी कि यह भी झूठ कहता है, इसने तो अपने को विद्वान् प्रदर्शित करने के लिये पाठ किया था। अतः वह भी नरक में डाल दिया जायगा। फिर जब चौथे पुरुष से पूछेंगे कि मैंने तुझे पृथ्वी का राज्य दिया था, सो तूने किस प्रकार प्रजा का पालन किया? और वह कहेगा कि मैंने शास्त्रमर्यादा के अनुसार न्याय किया था, तो उसी समय आकाशवाणी होगी कि यह भी झूठ बोलता है, इसने तो अपने को धर्मात्मा प्रकट करने के लिये न्याय किया था, अतः वह भी नरक में ही पड़ेगा। महापुरुष ने तो यह भी कहा है कि भगवत्प्रेमी को और कोई विघ्न इतना दूषित नहीं करता जितना कि यह दम्भ करता है। परलोक मे इन मनुष्यों के लिये यह आकाशवाणी होगी कि अरे पाखण्डियो! तुमने जिन्हें दिखाने के लिये पाखण्ड किया था उन्हीं से अब अपने भजन का फल भी माँगो। उसके सिवा महापुरुष यह भी कहते है कि अरे भगवत्प्रेमियों! अपने को दम्भरूपी नरक से बचाओ और प्रभु से प्रार्थना करो कि भगवन्! इस दम्भरूपी नरक से आप हमारी रक्षा करे।

इस विषय मे प्रभु ने कहा है कि जिन पुरुषो ने मेरे भजन में लोगों से प्राप्त होनेवाली मान-प्रतिष्ठा को मिलाया है, अर्थात्

दम्भ किया है वे मुझसे बहुत दूर है। मैं उनका भजन उनकी प्रतिष्ठा करनेवाले लोगों को ही समर्पित कर देता हूँ, क्योंकि मुझे किसी के साथ मिलने की अपेक्षा नहीं है। महापुरुष भी कहते है कि भगवान् को ऐसा कोई आचरण प्रिय नहीं है, जिसमें रञ्चक-मात्र भी दम्भ रहता है। कहते हैं, एक बार उमर नामक संत ने किसी पुरुष को सिर नीचा किये बैठा देखा था। तब वे कहने लगे कि भगवन् ! आप इसकी ग्रीवा सीधी कर दीजिये, क्योंकि एकाग्रता तो हृदय में होती है, सिर टेढ़ा करने से तो एकाग्रता नहीं होती। इसी प्रकार एक सन्त ने किसी पुरुष को सभा के बीच रोते देखा। तव उन्होने कहा कि यदि तुम अपने घर के भीतर रोते तो तुम्हे अधिक लाभ हो सकता था। इस विषय में सन्त अली का कथन है कि दम्भी मनुष्य के दो लक्षण प्रसिद्ध है—(१) जब वह अकेला होता है तो आलस्य करता है और जब लोगो को देखता है तब प्रसन्न चित्त से भजन करने लगता है। (२) जब अपनी प्रशंसा सुनता है तव सब कामों में विशेष सावधान हो जाता है और जब निन्दा सुनता है तब थका-सा रह जाता है।

एक बार किसी जिज्ञासु ने एक सन्त से पूछा कि जो पुरुष दान देने में कुछ तो निष्काम भाव से और कुछ संसार में प्रशंसा पाने के लिये दे तब उसकी क्या स्थिति होती है ? तब उन्होंने कहा कि वह पुरुष भगवान् से विमुख ही रहता है, क्योंकि प्रभुकी प्रसन्नता के लिये तो सब काम निष्काम भाव से ही होने चाहिये। एक समय सन्त उमर से किसी पुरुप की कुछ अवज्ञा हो गयी। तब उन्होंने उससे कहा कि तुम मुझे इस अवज्ञा के लिये दण्ड दो। वह बोला कि मैंने भगवान् के और तुम्हारे निमित्त तुम्हें क्षमा किया। इस पर उमर ने कहा कि तुम या तो भगवान् के निमित्त ही मुझे क्षमा करो या मेरी प्रसन्नता के लिये ही, दोनों की प्रसन्नता का सम्बन्ध लेकर क्षमा करना तो काम नहीं आता।

तब उसने कहा कि मैने भगवान के निमित्त ही तुम्हें क्षमा किया। सन्त फुजैल ने कहा कि पूर्वकाल मे जिज्ञासुजन दम्भ किये बिना ही शुभ कर्म किया करते थे और अब शुभकर्म किये बिना ही दम्भ करते हैं। एक अन्य सन्त का कथन है कि जब यह पुरुष दम्भ करता है तब भगवान कहते है कि देखो यह मेरा जीव मेरे ही साथ किस प्रकार हँसी करता है।

इसी पर महापुरुष ने कहा है कि सात पुरियो के रक्षक सात देवता भी भगवान् ही ने बनाये है। सो जब इस पुरुष के शुभकर्मो का लेखा प्रथम पुरी में पहुँचता है तब उस पुरी का अधिष्ठाता देवता कहता है कि इसकी सभी क्रियाएँ निष्फल है, क्योंकि यह पुरुष लोगो की निन्दा करता था, अतः इस निन्दक के शुभ कर्मों को मै स्वीकार नहीं करता। जो पुरुष निन्दक नहीं होता उसके कर्मो का लेखा दूसरी पुरी तक पहुँचता है। तब वहाँ का अधिष्ठाता कहता है कि इसके कर्म इसी के मुँह पर डाल दो, क्योंकि इसने शुभकर्म करके स्वय ही अपनी प्रशसा की है, अतः मै इसके शुभकर्मो को स्वीकार नहीं करता। किसी पुरुष के कर्मो का लेखा तीसरी पुरी तक पहुँचता है। उसमें दान, जप, तप, व्रत आदि अनेकों शुभ कर्मो का उल्लेख रहता है। किन्तु वहां का अधिष्ठाता यह कहकर उन्हे अस्वीकार कर देता है कि इसके सब सद्गुण अभिमान के कारण निष्फल हो गये है। किसी व्यक्ति के कर्मो का लेखा चौथी पुरी तक पहुँच जाता है तो वहाँ का देवता कहता है कि इसने विद्या और शुभ कर्मो में लोगों से ईर्ष्या की थी इसलिये मै इसके कर्मो को स्वीकार नहीं करता। किसी का लेखा जब पाँचवी पुरी तक पहुँचता है तो वहाँ का देवता कहता है कि इसने दुखियो और अनाथों पर दया नहो की और मुझे भगवान् की यह आज्ञा है कि सुकर्मी होनेपर भी यदि कोई पुरुष दयाहीन हो तो तुम उसके शुभ कर्मो को स्वीकार मत करना। इसी प्रकार

किसी के कर्मों का लेखा छठी पुरी तक पहुँचता है तो वहाँ का अधिष्ठाता कहता है कि इसने तो लोगों से स्तुति पाने के निमित्त भजन-स्मरण किया था, अथवा इसे परलोक की कामना रहती थी, इसलिये मै इसके शुभ कर्मो को नहीं मानता। निदान, किसी किसी के कर्मो का लेखा सातवीं पुरी में भी पहुंच जाता है। उसके कर्मों का तेज सूर्य के समान देदीप्यमान होता है। तब उसे देखकर वहाँ का देवता कहता है कि इसके हृदय मे सूक्ष्म अहङ्कार है और यह अपने कर्मो का कर्ता मानता है. अतः मै इसके कर्मो को स्वीकार नहीं करता। तात्पर्य यह है कि जिसके कर्म निष्काम और सब प्रकार के दोषों से रहित होते है उसी के कर्मो का लेखा सातों पुरियों को पार करके भगवान् के दरबार में पहुँचता है और प्रभु उसे स्वीकार करते है, और सबके कर्म तो निष्फल ही होते है।

(दम्भ का स्वरूप)

अपने को विरक्त और भजननिष्ठ दिखाना, वेष-भूषा के द्वारा संसार में मेल-जोल बढ़ाना, अपनी विशेषता प्रकट करना और अपने प्रति लोगों का विश्वास बढ़ाना—यह सब दम्भ का ही स्वरूप है। यह दम्भ पाँच प्रकार का होता है, जैसे—

१. शरीर को रंग कर अपनी तेजस्विता प्रकट करना, शरीर को दुर्बल कर देना, भ्रकुटि चढ़ाकर अपने को भयानक प्रकट करना, अपनी गम्भीरता सूचित करने के लिये उच्च स्वर से न बोलना तथा मै बड़ा तपस्वी हूँ यह दिखाने के लिये ओठों को सूखा रखना। ये सब क्रियाएँ यदि लोगो को छलने के लिये की जायँ तो उसे दम्भी ही समझना चाहिये।

२. रङ्गीन, अल्प, मलिन अथवा पुराने वस्त्र पहनना, अपने को बड़ा तपस्वी दिखाना तथा मृगचर्म आदि धारण करना भी प्रायः दम्भ के निमित्त ही होता है। इन लोगों की वृत्ति

ऐसी होती है कि यदि संयोगवश इन्हें कोई विशेष प्रकार का वस्त्र पहनने को कहे तो लज्जावश उसे पहन नहीं सकते। कोई-कोई तो ऐसे कपटी होते है कि महीन वस्त्रों को फाड़ कर उनकी गुदड़ी सिला लेते है, जिससे कि धनी और राजालोग भी सम्मानित समझ कर इनका आदर करे। इनके पास मोटा वस्त्र फाड़ा हुआ हो तो भी उसे पहन नहीं सकते, क्योंकि इससे इन्हें लोकनिन्दा की आशंका रहती है। ये लोग इतना नहीं समझते कि ऐसा करके हम लोगों की ही पूजा करते है, भगवान् से तो दूर ही रहते है।

३. निरन्तर ओठों को हिलाते रहकर अपने को बड़ा भजन-निष्ठ दिखाना, मौन होकर एकाग्रता प्रदर्शित करना, तरह-तरह से शास्त्रों को व्याख्या करना अपने को बहुत बुद्धिमान् प्रदर्शित करना, ठंडी साँस छोड़कर अपने को प्रेमी प्रकट करना, अपने को बड़ा सत्सङ्गी सूचित करने के लिये अनेकों बीते हुए सन्तों की चर्चा करना—ये सब पाखण्ड की ही बाते है। यह वाणी दम्भ है।

४. लोगों को देखते ही बहुत सिर झुकाना, सिर नीचा करके बैठना और किसी की ओर दृष्टि न उठाना, अथवा लोगों को दिखाकर दान देना और मार्ग में बड़ी गम्भीर मुद्रा से चलना। यह भजन में होनेवाला दम्भ है।

५. अपने शिष्य और सखा आदि अधिक दिखलाना, अपने ऐश्वर्य को भारी सभा में स्वय ही प्रकट करना तथा यह कहना कि अमुक राजा हमारा सेवक है, अमुक सेठ हमारा पुजारी है। इसी प्रकार जब किसी से विरोध हो तो उससे यह कहना कि तेरा गुरु कौन है और किससे तेरा मेल-जोल है ? मैने तो इतने वर्षों तक बड़े-बड़े महा-पुरुषों का सङ्ग किया है। यह पाँचवे प्रकार का दम्भ है।

तात्पर्य यह कि दम्भी पुरुष अपने मान के लिये तरह-तरह के कष्ट उठाता है। कभी वह एक ही ग्रास का आहार करता है और कभी निराहार भी रह जाता है। किन्तु ये सारी करतूतें महापापरूप है, क्योंकि जप, तप, व्रत और भजन तो भगवान् के लिये ही होने चाहिये। जब इन कर्मों में मान और बड़ाई की कामना रहती है तब तो इन्हे केवल पाखण्ड ही समझना चाहिये। उचित तो यह है कि यदि अपना मान बढ़ाने की इच्छा हो तो व्यवहार–कौशल द्वारा अपनी विशेषता प्रकट करे। उसे पाप नही कह सकते; जैसे ज्यौतिष, व्याकरण, वैद्यक आदि विद्याओं में अपनी प्रवीणता प्रकट करना। किन्तु, मान पाने के लिये अपने को विरक्त या भजनानन्दी दिखाना सर्वथा अनुचित है। हाँ, यदि स्नान और उज्ज्वल वस्त्र के द्वारा शरीर को परिष्कृत करने का ही उद्देश्य हो तो इसे भी दम्भ नहीं कह सकते, क्योंकि यह विचार भी अच्छा ही है कि हमारे शरीर की मलिनता के कारण भगवद्-भक्तो की गोष्ठी मे किसी को ग्लानि न हो। ऐसा आचरण तो स्वयं महापुरुष का भी रहा है।

यहाँ भजन में दिखलावा करना जो अनुचित बताया है उसके दो कारण है।

१. यदि किसी पुरुष का विचार तो सकाम हो किन्तु वह अपने को निष्काम प्रदर्शित करे तो यह कपट ही है, क्योंकि जब लोगोंको इसकी सकामता प्रकट होगी तो वे इसका विश्वास नही करेगे।
२. भजन, स्मरण और सारे शुभ कर्म केवल भगवान् के निमित्तही करने चाहिये,यदि ऐसी क्रियाएँ संसारको दिखाने के लिये की जायँ तो यह भी भगवान् के साथ उपहास करना ही होगा। यह ऐसी ही बात है जैसे कोई पुरुष किसी मण्डली के अध्यक्ष के समीप रहे और अपने को उसी के

सेवक रूप से प्रदर्शित भी करे, किन्तु हृदय में उद्देश्य यही हो कि इस अध्यक्ष के सुन्दर दास को देखता रहूँ। इस प्रकार जब इसकी दृष्टि और वृत्ति उस रूपवान् दास में अटकी हुई हों, तो अपने को अध्यक्ष का सेवक कहना तो उसका उपहास करना ही होगा। इसी प्रकार जो भजन-स्मरण केवल भगवान् के लिये होना चाहिये उसे यदि पराधीन जीवों को दिखाने लगे तो यह केवल कपट ही है। इससे तो यही प्रकट होता है कि वह पुरुष भगवान् को दण्डवत्-प्रणाम नहीं करता, बल्कि जगत की ही वन्दना करता है, क्योंकि उसके संकल्प की दृढता तो संसार को दिखाने में ही है। अतः जो मनुष्य शरीर से तो भगवान् की वन्दना करता है, किन्तु उसका मन संसार की उपासना करता रहता है, वह निःसन्देह भगवान् से विमुख ही है।

(दम्भ की अवस्थाओं के भेद)

(१) याद रखो, दम्भ में भी कई प्रकार के भेद होते है। एक दम्भ बहुत बड़ा होता है और एक सामान्य कोटि का होता है। बड़ा दम्भ वह है जिसमें केवल दम्भ का ही उद्देश्य रहता है; जैसे, कोई व्यक्ति अकेला होनेपर तो बिलकुल भजन स्मरण न करे और लोगों के सामने बड़ी तत्परता से भजन में लगा रहे। ऐसा पुरुष तो भगवान् के कोप का पात्र होता है। यदि किसी का थोड़ा-बहुत पुण्य-संकल्प भी हो, तो भी यदि वह एकान्त में बिलकुल भजन नही करता, तो पूर्वोक्त दम्भी के ही समान है। किन्तु, जिस पुरुष के हृदय में पुण्य का संकल्प इतना प्रबल हो कि एकान्त में भी भूल से ही आलस्य करे, सब लोगों के सामने तो प्रसन्नता से भजन में लगा रहे तथा भजन करना उसके लिये सुगम भी हो जाय, तो इतना दम्भ करने से उसका

सारा कर्म निष्फल नहीं होता; हाँ उसके भजन में जितना दम्भ का संकल्प रहता है उतने दण्ड का अधिकारी वह अवश्य होता है, अथवा उतना ही उसका पुण्य क्षीण हो जाता है। और यदि दम्भ एवं पुण्य के संकल्प समान हों तो भी उसके भजन का कोई फल नहीं होता, क्योंकि पुण्य की श्रद्धा को दम्भ का सकल्प व्यर्थ कर देता है।

(२) जिस पुरुष की भगवान् पर कुछ भी श्रद्धा न हो वह शरीर से भजन-स्मरण करता भी रहे तो भी महान् कपटी ही कहा जाता है और भगवान् से भी वह अत्यन्त विमुख है, क्योंकि उसके हृदय में तो श्रद्धा का सर्वथा अभाव है, केवल उपर से अपने को बड़ा प्रेमी एवं विश्वासी प्रकट करता है। ऐसा पुरुष तो सर्वदा नरकों में ही निवास करेगा। इसी प्रकार जिस पुरुष की परलोक और सन्तों की मर्यादा में कुछ भी श्रद्धा नहीं है, वह दम्भपूर्वक शरीर से भले ही शास्त्रमर्यादा के अनुसार आचरण करे, तो भी नरकों का अधिकारी होता है।

(३) दम्भ का तीसरा भेद मनुष्य के प्रयोजन की दृष्टि से है। जैसे, कोई पुरुष भजन में मान का प्रयोजन रखे और फिर मान होने पर भोगों और पापों में आसक्त हो जाय, तो यह अत्यन्त निन्दनीय है। अथवा कोई पुरुष अपने को इसलिये विरक्त और उदारात्मा प्रकट करे कि लोग मुझे त्यागी समझकर अर्थियों एव सात्त्विक पुरुषों के लिये धन दें और जब उनसे धन मिले तो उसे अपने शरीर की सेवा में लगा ले, तो यह भी महान् पाप है। अथवा किसी कथा-कीर्तन की सभा में जाय और उद्देश्य यह रहे कि वहाँ किसी रूपवान् पुरुष को देखूँ अथवा उससे प्रीति बढ़ाऊँ या ऐसे ही किसी अन्य अपकर्म का प्रयोजन रखे तो यह अत्यन्त दुःख का ही कारण है, और अपराधरूप है, क्योंकि इसने तो भजन को पापकर्मों का ही साधन बना रखा है। इसी प्रकार यदि

किसी पुरुष का कोई दोप संसार में प्रसिद्ध हो जाय और फिर वह उस अपयश से छूटने के लिये विरक्ति या उदारता का ढोंग रचे तो यह भी अत्यन्त निन्दनीय है।

इस प्रकार ये सभी प्रयोजन अत्यन्त तामसी हैं, किन्तु जिसका राजसी प्रयोजन हो, अर्थात् जो दम्भ करके अपने शरीर और कुटुम्ब का पालन करना चाहे, वह भी भगवान् के कोप का अधिकारी होता है। अथवा मान पाने के ही उद्देश्यसे यदि मार्गमें धैर्य और संकोच के साथ चले, ठंडी साँस छोड़े, और हँसने से दूर रहे तथा ऐसा कहे कि इस संसार में जीव को अचेत होने का अवसर ही कहाँ है, क्योंकि सभी मनुष्य काल के गाल में जा रहे है अथवा यदि कोई पुरुष किसी की निन्दा करे तो अपने को अदोषदर्शी दिखाने के लिये कहे कि दूसरे का दोष देखने की अपेक्षा तो अपना ही दोष देखना अच्छा है—तो ये सारे व्यवहार यद्यपि सात्त्विक है, तथापि जिसका उद्देश्य सात्त्विक नहीं है, अपितु राजसी है और केवल मान पाने के लिये ही जो ऐसे कर्म करता है, वह निःसन्देह अन्तर्यामी प्रभु से विमुख हो जाता है. क्योंकि भगवान् तो उसके हृदय को जाननेवाले है। अतः उसके साथ छल करना बड़ी भारी विमुखता है; अल्पबुद्धि जीव तो इस रहस्य को समझ नही सकते, क्योंकि दम्भ तो ऐसा सूक्ष्म होता है कि कितने ही पण्डित और बुद्धिमान् भी इसे देख नही पाते। जो मूख तपस्वी है, उनकी तो बात ही क्या है ?

(दम्भों की सूक्ष्मता का स्पष्टीकरण)

यह तो स्पष्ट ही दम्भ है कि लोगों के सामने तो भजन करे और जब अकेला हो तब आलस्य कर जाय। इससे सूक्ष्म दम्भ यह है कि एकान्त में भी भजन के नियम को पूरा तो करे, किन्तु जब लोगों को देखे तव प्रसन्नता के कारण वही नियम उसे सुगम

जान पड़े। यह दम्भ भी अपेक्षाकृत स्थूल ही है, इससे भी सूक्ष्म वह दम्भ है जिसमें लोगों को देखकर भले ही प्रसन्नता भी न हो, तथापि उसके भीतर एक ऐसा गुप्त पाखण्ड रहता है, जैसे कि चकमक पत्थर में अग्नि। यह दम्भ तब प्रकट होता है जब संसार में उस पुरुष का मान बढ़ जाता है और वह अपने को ऐश्वर्य-शाली देखने लगता है। इससे निश्चय होता है कि यद्यपि ऐसे पुरुष की क्रिया से पहले दम्भ दिखायी नहीं देता था, तो भी उसमें गुप्त रूप से वह अवश्य था। अतः जब तक पुरुष दोषदृष्टि के द्वारा मान के रस को बुरा नहीं समझता तब तक अवश्य ही दम्भ प्रकट हो जाता है। ऐसा व्यक्ति यद्यपि मुँह से अपनी प्रशंसा नहीं करता तो भी लक्षणों से अपने को अवश्य भजनानन्दी दिखाता है तथा अपने हृदय की स्थिरता, गम्भीरता एवं जागृति को भी प्रकट करना चाहता है। परन्तु, एक दम्भ तो इससे भी अत्यन्त सूक्ष्म है। यह हो सकता है कि कोई पुरुष लोगों से मान पाने पर भी हर्षित न हो, तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह दम्भ से रहित है, क्योंकि यदि कोई पुरुष उसे पहले प्रणाम न करे, अधिक आदर न दे, प्रसन्नतापूर्वक उसका कार्य न करे अथवा व्यवहार में और लोगों की अपेक्षा उसको अधिक न दे तो उसे बड़ा आश्चर्य होता है कि ये लोग सम्भवतः मुझे जानते नहीं। सो, यदि उसने दम्भ-शून्य होकर भगवद्भजन किया होता तो उसे ऐसा आश्चर्य नहीं हो सकता था।

तात्पर्य यह है कि जबतक किसी कर्म का होना और न होना इसके लिये समान न हो जाय तब तक दम्भ दूर नहीं होता। अर्थात् दम्भ हृदय से तभी निकलता है जब अपने कर्म की कोई विशेषता नहीं रहती; जैसे कोई पुरुष किसी को एक रुपया देकर बदले में हजार रुपये की वस्तु लेले तो वह अपने एक रुपया देने की कोई विशेषता नहीं समझता, और न इसे किसी के प्रति अपना

उपकार ही मानता है। इसी प्रकार जो पुरुष कुछ दिन भजन करके अविनाशी पद का राज्य प्राप्त कर लेता है वह किसी के प्रति अपने भजन का उपकार नहीं मान सकता और न उसे हृदय में ही अपने भजन का अभिमान होता है। और, यदि कोई पुरुष शुभ कर्म करके लोगो से सत्कार चाहता है तथा निरादर होने पर आश्चर्यचकित हो जाता है, तो यह तो एक प्रकार से चींटी की चाल से भी सूक्ष्म दम्भ है। पूरा विचार किये बिना यह दिखायी भी नहीं देता। इस विषय मे सन्त अली का कथन है कि परलोक में विरक्त पुरुषों की भी इस प्रकार भर्त्सना की जायगी कि लोगों ने तुम्हें व्यवहार में मोल से अधिक वस्तु दी है, वे हाथ जोड़े हुए सवदा तुम्हारे कार्यो में तत्पर रहे है और सबने तुम्हे ही पहले प्रणाम किया है। अतः तुम्हारा आचरण केवल निष्काम नही रहा, तुमने तो ससार मे ही अपने शुभ कार्यों का फल भोग लिया है।

व.स्त व मे, ऐसा तो कोई विरला ही पुरुष होता है जो सारे संसार को त्यागकर साधन-भजन में तत्पर रहे और संसार के संसर्ग-रूप विघ्न से डरता रहे। तथा जब उसे कोई प्रणाम करे अथवा आदर दे तो सकुच जाय। ऐसा ही पुरुष परलोक के दण्ड से छूट सकता है। इसीसे जिज्ञासु पुरुषों ने अपने शुभ कर्मों को इस प्रकार छिपाया है जेसे दूसरे लोग अपनी चोरी या व्यभिचार को छिपाते है। उन्होने इस बात को निःसन्देह पहचाना है कि परलोक में निष्कामता के बिना कोई भी शुभ कर्म स्वीकार नही किया जायगा। जैसे, यदि किसी पुरुष ने सुना हो कि अमुक देश में खोटा सोना-चाँदी नहीं चलता, वहाँ के लोग खरे को ही स्वीकार करते है, और उसे उस देश में जाने की इच्छा हो तो वह अपने साथ खरे सोना चाँदी ही रखेगा, खोटे को तो वहीं छोड़ देगा। इसी प्रकार जो पुरुष इस लोक में अपने कर्मो को सकामता से अशुद्ध कर लेता है उसे परलोक में बहुत दुःख उठाना पड़ता है

और उसके सारे शुभ कर्म व्यर्थ हो जाते है। वहाँ अपने निष्काम कर्मों के सिवा और किसी से कोई सहायता नही मिलती।

अब, निष्कामता क्या है—इस पर विचार किया जाता है। निष्कामता का अर्थ तो यह है कि जिस प्रकार यह पुरुष पशुओं के सामने निष्कपट भाव से भजन-साधन करता रहता है, उनकी ओर इसका कोई ध्यान ही नहीं जाता, उसी प्रकार मनुष्यों के प्रति भी यह सर्वथा दम्भशून्य रहे। जब तक इसे पशु और मनुष्य दोनों का देखना समान नही हो जाता तब तक यह पूरा निष्काम नहीं कहा जा सकता। अथवा यदि कोई इसे भजन करता देखे तो इसको ऐसा ही मालूम हो जैसे कोई भोजन करने या सोने के समय इसे देखता हो। अर्थात् जिस प्रकार अपना भोजन या निद्रा दिखाने का यह कोई संकल्प नहीं करता और यदि कोई देख भी लेता है तो उससे इसे कोई प्रसन्नता नही होती, उसी प्रकार भजन में भी यह समान भाव से स्थित रहे। इसी पर महापुरुष का कथन है कि रञ्चकमात्र दिखावा भी भगवान से विमुखता ही है, क्योंकि दम्भी पुरुष तो भगवद्भजन में लोगों को भी साक्षी करना चाहता है। केवल अन्तर्यामी ही जाने—इतने में उसे सन्तोष नही होता, इसीसे वह उसे पराधीन जीवों को भी दिखाना चाहता है। इसीसे दम्भी पुरुषको महापुरुष ने भगवान् से विमुख कहा है।

तात्पर्य यह है कि जब तक लोगों के देखने से इसे प्रसन्नता होती है तब तक यह दम्भ से कभी मुक्त नहीं हो सकता। किन्तु यदि भगवान् का उपकार मानकर प्रसन्नता हो तो इसे दम्भ नही कहते। ऐसा विचार तीन प्रकार से हो सकता है—

१. जिसने स्वयं तो अपने भजन को गुप्त रखा था, किन्तु भगवान् ने उसका कोई संकल्प न होनेपर भी उसे प्रकट कर दिया और उसके जो अनेको अवगुण थे उन्हे प्रकट नहीं किया। इससे जिज्ञासु समझता है कि प्रभु मुझ पर

ऐसे कृपालु है कि मेरे दोषों को तो छिपा लेते है और भलाई को प्रकट कर देते है। अतः प्रभु की दया और उपकार का विचार करके वह भक्त प्रसन्न होता है।

२. कोई जिज्ञासु समझता है कि जिन प्रभु ने इस संसार में मेरे दोषों को छिपाया है वे ही करुणा करके उन्हें परलोक मे भी प्रकट नहीं करेगे और मुझे क्षमा कर देगे।

३. इसके शुभकर्मो को देखकर यदि दूसरे लोग भी शुभ-क्रियाओं में लगे तो उनका यह सौभाग्य ही होगा। अतः इससे प्रसन्न होना भी अच्छा ही है। परन्तु, अपने मानके लिये हर्षित नहीं होना चाहिये। जो पुरुष इसके शुभकर्मोको देखकर सात्त्विक आचार-विशेष में लगा है उसकी जिज्ञासा और श्रद्धा को पहचानकर ही इसे प्रसन्नता हुई है या नहीं, इसकी परीक्षा इस तरह हो सकती है कि जब वह जिज्ञासु किसी अन्य पुरुष की ऊँची स्थिति देखकर उसका सङ्ग करने लगे और उससे उसकी भगवदाज्ञापालन की तत्परता और भी पुष्ट हो जाय, तो उससे भी इस पुरुष को इतनी ही प्रसन्नता हो जितनी कि अपने सत्सङ्ग में रहते समय उसकी जिज्ञासा देखकर होती थी।

(दम्भ के द्वारा शुभकर्मो के निष्फल होने का प्रसङ्ग)

दम्भ भजन के आरम्भ में भी हो सकता है, तथा मध्य और अन्त मे भी। यदि भजन के आरम्भ में ही दम्भ का उद्देश्य रहे तब तो उसके द्वारा शीघ्र ही वह भजन नष्ट हो जाता है, क्योंकि निष्कामता की स्थिरता ही इस जीव का उद्देश्य है और जब आरम्भ में ही दम्भ के कारण उद्देश्य अशुद्ध हो जाय तो स्वाभाविक ही निष्कामता नष्ट हो जाती है। किन्तु, यदि भजन के आरम्भ में उद्देश्य शुद्ध हो और भजन करते समय लोगो को

देखकर अधिक भजन करने का ढोंग करे तब अधिक भजन करने का ही फल नष्ट होता है, मूल ही से सारा भजन व्यर्थ नहीं होता, क्योंकि आरम्भ में तो उसका उद्देश्य शुद्ध ही था। और, यदि भजन के नियम को निष्काम भाव से ही पूरा करे किन्तु पीछे से कुछ दम्भ का सङ्कल्प फुर आवे और इसी से अपने भजन को प्रकट कर बैठे तो इससे भजन का फल नष्ट नही होता, परन्तु दम्भ का सम्बन्ध रहने के कारण कुछ दण्ड का अधिकारी अवश्य होता है। पर इस बात का निर्णय करते समय कुछ बुद्धिमानों ने ऐसा भी कहा है कि यदि वह पुरुष अपने शुभकर्मों को पूरा करके पीछे प्रकट करदे तो उसे उस कर्म का कोई फल नही मिलता। जैसे इब्न मसऊद नामक सन्त से किसी ने जब इस प्रकार कहा कि मै नित्यप्रति इतना पाठ करता हूँ, तो उन्होने कहा, 'तुझे उस पाठ का इतना फल नहीं होगा।" तथा महापुरुष से भी जब किसी ने कहा कि मै व्रती हूँ, तो वे बोले, "तू व्रती भी नही और अव्रती भी नही।" अर्थात व्रत करके तू भूखा तो रहता है, किन्तु अपने मुँह से उसे प्रकट करके उसका फल नष्ट कर देता है। यहाँ यद्यपि इब्न मसऊद और महापुरुष का भी कथन यथार्थ है, परन्तु इसका कारण यह है कि उन्होंने यह समझा था कि ये पाठक और व्रती आरम्भ से ही दम्भशून्य नहीं थे, इसी से उनके कर्म को निष्फल कहा। वास्तव में तो जिसका भजन आरम्भ से दम्भशून्य होगा और पीछे से ही उसमें अकस्मात् दम्भ का समावेश होगा उसका सब कुछ किया-कराया व्यर्थ होगा कठिन ही है। किन्तु यदि भजन के बीच में दम्भ का सङ्कल्प इतना बढ़ जाय कि वह भजन के उद्देश्य को ही दबा दे तब तो सारा ही भजन व्यर्थ हो जायगा। हाँ, जिसका उद्देश्य तो निष्काम हो, केवल लोगो को देखकर कुछ प्रसन्नता फुर आवे, तो उसका भजन निष्फल नहीं हो सकता, केवल उस दम्भ के कारण कुछ पाप का भागी होगा।

(दम्भ को दूर करने का उपाय)

यह दम्भरूपी रोग अत्यन्त प्रबल है। अतः इसकी निवृत्ति का उपाय अवश्य करना चाहिये। किन्तु, अत्यन्त धैर्य और पुरुषार्थ के बिना इसका उपाय हो नहीं सकता, क्योंकि यह दम्भ का स्वभाव मन की वृत्तियों में एकदम घुला-मिला हुआ है। मनुष्य बाल्यावस्था से ही सबकी ऐसी प्रवृत्ति देखता है कि वे ससार में अपने को भला दिखाना चाहते है तथा जीवों के सारे व्यापार इसी उद्देश्य से होते है। इसलिये बाल्यावस्था में ही इसका यह स्वभाव बद्धमूल हो जाता है और फिर धीरे-धीरे ऐसा बढ़ जाता है कि वह इस रोग की बुराई को भी नहीं जान सकता। फिर तो वह इस स्वभाव के नशे में अचेत-सा हो जाता है। इसलिये इस दम्भरूपी रोग की निवृत्ति कठिन बतलायी गयी है। साथ ही, ऐसा भी कोई विरला ही वीर होता है जो इस रोग से मुक्त हो। इसलिये सभी को इसका उपाय करना चाहिये।

इसकी निवृत्ति का उपाय दो प्रकार से होता है। उनमें एक प्रकार तो ऐसा है, जो दम्भ को मूल से ही नष्ट कर डालता है। यह उपाय समझ और आचरण दोनो ही की सहायता से निष्पन्न होता है। समझ के द्वारा साधक को दम्भ के विघ्नो की पहचान करनी चाहिये। साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिये कि मै इस समय भले ही दम्भ करके प्रसन्न हो लूँ, किन्तु परलोक मे इसके लिये मुझे ऐसी ताड़ना मिलेगी कि मै सहन नही कर सकूँगा। जो पुरुष इस बात को निश्चित रूप से पहचान लेता है उसके लिये दम्भ को त्यागना सुगम हो जाता है। जैसे, किसी मनुष्य को यदि यह पता लग जाय कि इस मधु में विष मिला हुआ है, तो फिर भले ही उसे उसके आस्वादन की अत्यन्त तृष्णा हो तथापि वह सुगमता से ही उसे त्याग देता है, इसी प्रकार जिसे परलोक का भय प्रबल होगा वह दम्भ को अङ्गीकार नही कर सकेगा।

इसके सिवा, दम्भ में यद्यपि सभी के धन और मान ही प्रयोजन रहते हैं, तथापि इसकी वासना के तीन मूल हैं: —

(१) दम्भ के द्वारा जगत् से अपनी प्रशंसा चाहना।

(२) निन्दा के भय से दम्भ करना।

(३) लोगों से पूजा कराने की आशा रखना।

अतः जिज्ञासु को चाहिये कि पहले अपने चित्त से प्रशसा की वासना को दूर करे और ऐसा समझे कि यदि मैं भजन में दम्भ करूँगा तो परलोक में निश्चय ही मेरा अपमान होगा, और मुझ से ऐसा कहा जायगा कि अरे दम्भी ! कपटी ! महापापी ! तूने भगवद्भजन को जगत् में प्रशंसा सुनने के लिये बेच दिया ! तू ऐसा निर्लज्ज है कि ऐसा करने में तुझे लज्जा नहीं आयी ? धिक्कार है तुझे, जिसने संसार को प्रसन्न किया और भगवान् की अप्रसन्नता का कोई भय नही किया ! संसार की निकटता तो स्वीकार की तथा भगवान् से दूर पड़ जाने का भय नहीं किया ! इससे जान पड़ता है कि तूने जगत् से मान पाना भगवान् से मान पाने की अपेक्षा भी श्रेष्ठ समझा है। तथा प्रभु के कोप को तुच्छ समझकर जगत् की स्तुति को स्वीकार किया है। अतः तेरे समान निर्लज्ज और कोई नहीं है। इस प्रकार जब बुद्धिमान् पुरुष इस अपमान का विचार करता है तो अच्छी तरह जान जाता है कि यह लौकिक प्रशंसा परलोक में मेरे किसी काम नहीं आयेगी, क्योंकि भगवान् का भजन सम्पूर्ण भलाइयों का बीज होने पर भी दम्भ के कारण पापों का बीज हो जाता है।

इसके सिवा, उसे यह भी समझना चाहिये कि यदि मैं दम्भहीन रहूँगा तो मुझे सन्तों का सहवास प्राप्त होगा, दम्भ से तो निश्चय मनमुखों का ही सङ्ग मिलेगा। और जिस जगत् की प्रसन्नता के लिये मै दम्भ करता हूँ, वास्तव में, वह संसार को

प्रसन्नता भी तो मुझे कभी प्राप्त नहीं होती, क्योंकि यहाँ यदि एक की प्रसन्नता होती है तो दूसरा अप्रसन्न हो रहता है। इसी तरह जब एक व्यक्ति प्रशंसा करता है तो दूसरा निन्दा करने लगता है। और यदि सब लोग भी स्तुति करने लगे तो भी इसका प्रारब्ध, आयु और लोक-परलोक की भलाई तो उनमें से किसी के भी हाथ में है नहीं। अतः ऐसे पराधीन जीवों की प्रसन्नता के लिये अपने को विक्षेप में डालना बड़ी भारी मूर्खता और दुःखों का ही कारण है। अतः इस पुरुष को बार-बार इसी प्रकार विचार करना चाहिये। इससे इसके हृदय से प्रशंसा सुनने की वासना का मूलोच्छेद हो जायगा।

तथा जगत् की आशा को निवृत्त करने के लिये इस बात को ध्यान में रखे कि प्रथम तो जगत् की आशा रखने से कोई फल प्राप्त ही नहीं होता और यदि प्राप्त भी होता है तो ससारी लोग इसके ऊपर बड़ा आभार रख देते हैं और इससे जीव भगवान् की प्रसन्नता भी खो बैठता है। इसके सिवा भगवान की प्रेरणा के बिना लोगों के हृदय कोमल और अपने अधीन भी नहीं हो सकते। अतः जिन्होंने भगवान् को प्रसन्न कर लिया है, स्वभाव से उन्हीं के अधीन जीवो के चित्त भी हो सकते है। इसके विपरीत जिसने भगवान् को प्रसन्न नहीं किया उसके तो अवगुण ही ससार में प्रसिद्ध होते है। इसलिये सभी लोग उसे त्याग देते है।

अब जगत् की निन्दा के भय को दूर करने के विषय में विचार किया जाता है। उसका उपाय यह है कि अपने को इस प्रकार समझावे कि यदि भगवान् ने मुझे स्वीकार कर लिया है तब तो लोगों के निन्दा करने से भी मेरी क्या हानि हो सकती है? और यदि प्रभु की दृष्टि में मेरा निरादर है, तो इन लोगों की स्तुति से भी मेरा क्या लाभ होगा? जो पुरुष निष्काम होकर संसार की ओर चित्त नही लगाता उसके प्रति प्रभु ही सब लोगों के

चित्तों में प्रीति और प्रतीति दृढ कर देते है। यदि वह ऐसा नहीं करता तो लोग बहुत जल्द उसके छल को पहचान लेते है और जिस निन्दा का उसे भय रहता है वही उसके सिर पड़ती है तथा वह भगवान् की प्रसन्नता से भी वञ्चित रह जाता है। इसके विपरीत, यदि वह भली प्रकार विचार करे और पुरुषार्थ करके निष्कामता में दृढ़ रहे तो जगत् के मोह से मुक्त रहेगा और उसका चित्त प्रकाशपूर्ण हो जायगा तथा भगवान् की सहायता से उसे निष्कामता का अलौकिक आनन्द प्राप्त होगा। किन्तु, इसका उपाय आचरण के द्वारा ही हो सकता है और यह तभी होना सम्भव है जब यह अपने शुभ कर्मों को इस प्रकार छिपाकर रक्खे जैसे अपने दुष्कर्मों को छिपाया जाता है। बस, इतने ही में संतुष्ट रहे कि सर्वान्तर्यामी प्रभु तो सब कुछ जानते ही हैं। ऐसा आचरण यद्यपि आरम्भ में दुष्कर है तथापि पुरुषार्थ करने पर शीघ्र ही सुकर हो जाता है। तब तो यह निष्कामता और भजन के रहस्य का अनुभव कर परमानन्द प्राप्त कर लेता है। इसे ऐसी अवस्था प्राप्त हो जाती है कि भले ही लोगों के समूह इसे देखा करें तथापि इसकी मनोवृत्ति एक क्षण के लिये भी उनकी ओर नहीं जा सकती। यह ऐसा उपाय है कि जिससे दम्भ का मूलोच्छेद हो जाता है।

दूसरा उपाय ऐसा है कि उससे केवल दम्भ का बल ही क्षीण होता है, उसका मूलोच्छेद नहीं हाता। बात यह है कि जब यह मनुष्य भजन में स्थित होता है तब इसके चित्त में यह सङ्कल्प स्फुरित हो जाता है कि लोगों ने मेरे भजन को जान लिया है, अथवा नहीं जाना, तो अब जान लेगे। यही सङ्कल्प जब बढ़ जाता है तो इसे ऐसी अभिलाषा दृढ़ हो जाती है कि यदि लोग मुझे भजनानन्दी जानेगे तो मुझमें अधिक श्रद्धा करेंगे। इस प्रकार इस दम्भ के सङ्कल्प और अभिलाषा को सामने रखकर

यह ऐसा चाहने लगता है कि लोग मेरे भजन को जाने तो अच्छा हो। किन्तु जिज्ञासु को तो आरम्भ में ही प्रयत्नपूर्वक इस सङ्कल्प को दूर कर देना चाहिये। उसे अपने को इस प्रकार समझाना चाहिये और ऐसा विचार करना चाहिये कि जगत् का जानना मेरे किस काम आयेगा, और लोगों के जानने से मेरा कौन कार्य सिद्ध होगा? क्योंकि संसार को उत्पन्न करनेवाले श्रीभगवान् तो सर्वान्तर्यामी है। अतः मेरे लिये तो उनका जानना ही महत्त्वपूर्ण और उपयोगी है, क्योंकि लोगो के हाथ में तो मेरा कोई भी कार्य है नहीं। और, यदि लोगो ने मुझे विशेष पुरुष समझा भी, तो भी प्रभु के समीप मुझे ताड़ना मिलने पर इनकी जानकारी मेरी रक्षा कैसे कर सकेगी?

इस प्रकार जब यह विचार जिज्ञासु के चित्त में जम जाता है तब तत्काल ही दम्भ के प्रति उसकी दोषदृष्टि हो जाती है। अर्थात् वह दम्भ को निश्चयपूर्वक बुरा मानने लगता है और यह दोषदृष्टि ही दम्भ की आसक्ति के मार्ग में अड़चन डालने लगती है। फिर तो जैसे दम्भ की आसक्ति इसे लोगों की ओर खींचती है वैसे ही दोषदृष्टि वहाँ से हटाना चाहती है। उस समय जिस सङ्कल्प का बल अधिक होता है वही इसके मन को अधीन कर लेता है। इस प्रकार ऊपर जिनका वर्णन किया गया है उन (१) दम्भ के संकल्प, (२) दम्भ की अभिलाषा और (३) लोगों से मान पाने का संकल्प—इन तीनों दोषों का सामना ये तीन गुण करते है—(१) वह समझ, जिसके द्वारा यह दम्भ की बुराई को पहचानता है, (२) इस समझ से उत्पन्न होनेवाली दोषदृष्टि, जिससे कि जीव को दम्भ में ग्लानि होती है तथा (३) अपने को दम्भ के उद्देश्य और संकल्पों से रोकना। किन्तु यदि यह दम्भरूपी रोग इतना बढ़ गया हो कि उसका आवेश होने के समय समझ काम ही न करे और उसमें ग्लानि भी न हो (तात्पर्य यह

है कि पहले चाहे इसने सब बात समझ ली हो और अपने को दम्भ से रोकने का निश्चय भी किया हो, तथापि उस अवसर पर इसको वह समझ स्थिर न रहे) तब स्वाभाविक ही यह अपने मन की वासना के अधीन हो जाता है। जैसे कोई व्यक्ति पहले तो अपने को क्रोध सहन करने के विचार में स्थित करे और क्रोध के दुष्परिणामों का भी विचार करे, किन्तु जब क्रोध का अवसर आवे तब तमोगुण बढ़ जाने के कारण उसका सारा विचार विस्मृत हो जाय, इसी प्रकार विचारद्वारा दम्भ की बुराई को समझ लेने पर भी वासना की प्रबलता होने पर दोषदृष्टि उत्पन्न नही होती। और यदि दोषदृष्टि हो भी तो पुरुषार्थ की कमी के कारण अपने स्वभाव को निवृत्त करने में यह सफल नही होता तथा दम्भ की प्रीति में आसक्त हो जाता है। फिर तो यह जगत की प्रशंसा को प्रसन्नतापूर्वक सुनना चाहता है। इससे कितने ही विद्वान् यह जानते भी हैं कि अमुक बात हम दम्भ के लिये कह रहे हैं, तो भी वैसा कहने से वे अपने को रोक नहीं सकते और दम्भ के चंगुल में ही बँध जाते है। तात्पर्य यह है कि जितनी इस पुरुष को दोषदृष्टि उत्पन्न होती है उतना ही वह दम्भ का त्याग करने में समर्थ होता है। और दोषदृष्टि इसे अपनी समझ की मर्यादा के अनुसार उत्पन्न होती है। तथा समझ का बल इसे उतना ही प्राप्त होता है जितनी श्रीभगवान् में इसकी आस्था होती है। इस प्रकार ये गुण इसे भगवान् की सहायता पाकर ही प्राप्त होते है। इसके विपरीत, दम्भ की अधिकता मायिक भोगो की आसक्ति के कारण होती है और भोगों की आसक्ति का प्रेरक मन एवं वासनाएँ है।

इस प्रकार इस मनुष्य का मन सर्वदा इन दोनो विरोधी सेनाओं की रस्साकशी के बीच में पड़ा हुआ है। अतः इसको जैसी वृत्ति और जैसा स्वभाव प्रबल होता है, तथा जैसे पदार्थ में इसकी

विशेष प्रीति होती है, उसी स्वभाव और उसी वृत्ति को यह स्वीकार कर लेता है। अर्थात् जिस मनुष्य की वृत्ति पहले ही से निर्मल रहती है वह तो भजन के समय भी दम्भशून्य रह सकता है, किन्तु जिस पर पहले से रजोगुण-तमोगुण का प्रभाव रहता है, वह भजन के समय दम्भ और मान की ओर जाता है। यह सामान्य नियम है। परन्तु, भगवान् की प्रेरणा और आज्ञा इन सब नियमों से परे है। उसका रहस्य अपनी बुद्धि के द्वारा कोई नहीं जान सकता। अतः उनकी जैसी प्रेरणा होती है उसी ओर वह जीव को खींच ले जाती है। किसी को वह दिव्य स्वभावो में स्थित कर देती है और किसी को मलिन स्वभावो में डाल देती है। एक बात तुम ध्यान में रखो, यदि तुम दम्भ के आकर्षण से संघर्ष करते हो और दोषदृष्टि के द्वारा उसे अपने हृदय में बुरा भी समझते हो, किन्तु बीच में तुम्हारे चित्त मे कोई दम्भ का सङ्कल्प फुर आता है, तो इससे तुम्हें पाप नहीं होगा, क्योंकि अकस्मात कोई सदोष सङ्कल्प फुर आना तो जीवका स्वभाव ही है और यह मनुष्य अपने स्वभाव से सर्वथा मुक्त नही हो सकता। इसी से सन्तजनों ने भी कहा है कि मलिन स्वभाव को पहले तो मलिन समझना चाहिये और फिर यथाशक्ति उसके विपरीत आचरण करना चाहिये। ऐसा करने पर ही जीव की नरकों से रक्षा हो सकती है। उन्होने ऐसा नही कहा कि अपने सामर्थ्य से सदा के लिये अपने स्वभावों से मुक्त हो जाओ, क्योंकि ऐसा तो होना ही कठिन है। अतः जब तुम सन्तजनो की आज्ञा मानकर यथाशक्ति पुरुषार्थ करोगे तो निःसन्देह शनैः शनैः अपने उस स्वभाव को अधीन कर लोगे। बस, तुम्हें इतना ही प्रयत्न करना है कि जैसे तुम्हें दम्भादि दोषों में प्रीति है और उनके लिये उद्यम भी करते रहते हो, वैसे ही उन्हें मलिन समझकर यथाशक्ति उन्हें त्यागने का प्रयत्न करो। ऐसा करने में ही तुम्हारी भलाई है। एक

बार महापुरुष के प्रेमियों ने उनसे प्रार्थना की थी कि जब हमारे चित्त में कोई मलिन संकल्प फुरता है तो हमें ऐसा दुःख होता है कि यदि हमें कोई पाताल में पटक दे तो उसका दुःख भी हमें उसके सामने तुच्छ जान पड़ेगा। इस पर महापुरुष ने कहा कि यदि तुम्हें ऐसी दोषदृष्टि प्राप्त हुई है तो निश्चय जानो कि धर्म और श्रद्धा का उत्तम लक्षण यही है। सकल्पों की निवृत्ति करने-वाले तो भगवान् हैं, अतः उनसे छुटकारा पाने के लिये तुम प्रभु की शरण लो। इससे निश्चय होता है कि धर्म का चिह्न तो दोषदृष्टि ही है। जिसे दोषदृष्टि प्राप्त हुई है उसके मलिन संकल्प स्वभाव से ही नष्ट हो जाते है, क्योंकि संकल्प की प्रबलता तो रुचि और प्रीति होने पर ही होती है, दोषदृष्टि से तो संकल्प क्षीण हो जाता है।

परन्तु इसमें भी एक रहस्य है। वह यह कि जिसे मन के स्वभावों के विरुद्ध आचरण का बल प्राप्त हुआ है उसे भी माया आकर छल लेती है। उस छलका स्वरूप यह है कि वह पुरुष फिर मलिन संकल्पो से सघष करने में ही उलझा रहता है, उसे भजन की एकाग्रता प्राप्त होनी कठिन हो जाती है। माया उसे संकल्पों के विरोध में ही बाँधे रखती है। किन्तु ऐसा होना भी ठीक नहीं। यह अवस्था चार प्रकार की होती है —

१. अपना सारा समय सकल्पो के विरोध में ही खोना और भजन से विमुख रहना।
२. पहले कुछ समय मलिन संकल्पों के विरोध में लगाना और फिर उसे भी मिथ्या समझकर भजन में स्थित होना।
३. मिथ्या सकल्प की ओर चित्त ही न देना और न उसके निषेध में अपनी आयु को व्यर्थ गँवाना। बस, भजनानन्द में ही स्थित रहना।
४. मिथ्या सकल्प के आते ही उसे तीव्र वैराग्य से निरात

कर देना तथा भजन की एकाग्रता में चित्त की वृत्ति को लीन कर देना। यह अवस्था बहुत उत्तम है, क्योंकि यह छल को भी छल लेने वाली है। ऐसा पुरुष स्वयं ही छल से मुक्त रहता है। वह जब छल को देखता है तो तुरन्त ही बड़ी तेजी से बढ़कर अपने लक्ष्य में स्थित हो जाता है। उसकी ऐसी सावधानी देखकर बेचारा छल लज्जित हो जाता है।

इन अवस्थाओं को दृष्टान्त द्वारा इस प्रकार समझाया जाता है कि जसे चार पुरुष विद्याध्ययन के लिये जा रहे हों। उसी मार्ग में कोई पुरुष आकर ईर्ष्यावश उन्हें रोकना चाहे, तब उनमें से एक विद्यार्थी तो ऐसा हो जो सारा समय उससे विरोध करने में ही बिता दे, तो वह विद्याध्ययन से वञ्चित ही रह जायगा। दूसरा विद्यार्थी उसे झूठा करने के लिये कुछ समय तो लगावे, किन्तु वहीं अटका न रहे, उसे दबाकर वह चला जाय और विद्याध्ययन भी कर ले। तीसरा विद्यार्थी ऐसा हो कि जब उसे वह पुरुष रोकना चाहे तब वह उसकी ओर ध्यान न दे, और उसे दुःखदायक समझकर अपने मार्ग पर बढ़ा चला जाय। तथा चौथा विद्यार्थी ऐसा हो कि वह उस विरोधी को देखते ही बड़ी तेजी से भागकर विद्याध्ययन में तत्पर हो जाय। इन चारो पुरुषों की अवस्थाओं का विचार करे तो मालूम होगा कि इनमें से पहले दो पुरुषों से तो उस विरोधी का उद्देश्य पूरा हुआ, तीसरे से उसे कुछ भी प्राप्त नही हुआ तथा चौथे से प्राप्त भी कुछ नही हुआ, प्रत्युत स्वय लज्जित होकर पश्चात्ताप करना पड़ा कि यदि मै इसके मार्ग में न आता तो यह इतनी तेजी से दौड़कर तो विद्याध्ययन में न लगता, अतः वास्तव में बलवान् पुरुष तो यही है। इसी प्रकार दृढ़ पुरुषार्थ उसी जिज्ञासु का माना जाता है जो सकल्पों के विरोधमें भी आसक्त नहीं होता, अपितु जल्दी से जल्दी भजनानन्द में निमग्न हो जाता है।

(भजन प्रदर्शित करने की स्थिति)

एक बात ध्यान देने योग्य है कि जिस प्रकार भजन को गुप्त रखने में यह लाभ है कि मनुष्य दम्भ से मुक्त रहता है वैसे ही भजन प्रकट करने में भी एक बहुत बड़ा लाभ यह है कि भजनानन्दी पुरुष को देखकर दूसरे लोग भी भजन में प्रवृत्त होते है तथा सात्त्विक कर्मों में उनकी श्रद्धा बढ़ती है। इसी से प्रभु ने भी कहा है कि यदि शुद्ध उद्देश्य से सब लोगों के देखते हुए भी दान दे तो अच्छा ही है। जो गुप्तरूप से दान देता है वह तो उत्तम है ही। इस विषय में महापुरुष का भी कथन है कि जब यह पुरुष सात्त्विकी कर्मों की नींव दृढ़ कर लेता है और इसके उन कर्मों को देखकर दूसरे लोग भी शुभ कर्मों मे प्रवृत्त होते हैं, तब उसे अपने शुभ कर्मों का फल तो मिलता ही है, वह दूसरे लोगों को प्राप्त होने वाले पुण्य-फल में भी अपना भाग प्राप्त करता है। जिस प्रकार एक तीर्थयात्री को देखकर दूसरे लोग भी तीर्थयात्रा का संकल्प करते हैं तथा जो पुरुष रात्रि में जोर-जोर से भगवन्नामकीर्तन करता है उसकी ध्वनि सुनकर दूसरे लोगों की भी निद्रा टूट जाती है और वे भी भजन में प्रवृत्त होने लगते है, इसी प्रकार अन्यान्य शुभ कर्मों को देखकर भी दूसरे लोगों की सदाचार में प्रवृत्ति होने लगती है। तब इसे अपने शुभ कर्मों के फल के साथ दूसरे लोगों के सत्कर्मों के फल का भी अंश प्राप्त होता है। और, ऐसे शुभ कर्मों का अनुष्ठान करने को तो भगवान् की विशेष रूप से आज्ञा है। तात्पर्य यह है कि जिसका उद्देश्य दम्भरहित हो वह यदि अन्य जीवों के कल्याण के लिये अपने भजन और शुभ कर्मों को प्रकट भी कर दे तो यह उत्तम अवस्था ही है। किन्तु, ऐसा करते हुए जिसके चित्त में दम्भ की वासना फुरे उसका भजन तो व्यर्थ ही होता है। जो पुरुष शुद्ध वासना से भजन करता है उसी को सफलता प्राप्त होती है।

महापुरुष ने भी कहा है कि भजन करो, किन्तु हृदय में दम्भ की वासना मत आने दो, सर्वदा शुद्ध उद्देश्य रखकर ही भजन में प्रवृत्त होओ।

इसके सिवा, ऐसा भी कहा है कि दम्भ का संकल्प करना तो मूर्खों का काम है। जो लोग पर्दे के साथ गुप्त रूप से भजन करते हैं उन्हीं को उसका फल प्राप्त होता है। जिस प्रकार बीज बोते है तो जो बीज धरती में दबा होता है वही उगता है, जो बाहर रह जाता है वह नहीं उगता। जिसके चित्त में धन आदि की खोटी वासना रहती है वह यदि अन्य जीवों के कल्याण के लिये अपने भजन को प्रकट करे तो उससे कोई लाभ नहीं होता; क्योंकि दम्भ के कारण उसका उद्देश्य मलिन हो जाता है, उसी से अन्य जीवों पर उसके भजन या उपदेश का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अतः ऐसे पुरुष का तो गुप्तरूप से ही भजन करना अच्छा है। प्रकट भजन करनेवाले को तो अच्छी तरह देखते रहना चाहिए कि उसके हृदय में दम्भ की वासना का प्रवेश तो नहीं हुआ, क्योंकि कितने ही पुरुषों के हृदय में दम्भ की प्रीति गुप्तरूप से रहती है। वे अपने चित्त में अनुमान तो यह कर लेते है कि हम जगत् के कल्याण के लिये ही अपने भजन को प्रकट करते हैं, परन्तु पीछे वे दम्भ की प्रीति के कारण अपने धर्म से भ्रष्ट हो जाते है। ऐसे पुरुषार्थहीन पुरुषों के लिये यह दृष्टान्त दिया जा सकता है कि जैसे कोई पुरुष तैरना तो जानता न हो, किन्तु दूसरो की देखा-देखी तैरने के लिये नदी में कूद पड़े, तो वह स्वयं तो डूबता ही है, उसे जो निकालने का प्रयत्न करता है उसे भी ले डूबता है। किन्तु जो महापुरुष समर्थ है वे तो उस कुशल तैराक के समान है जो स्वयं भी नदी पार कर लेते है और अपने साथ दूसरे मनुष्यों को भी तैराकर पार ले जाते है। वास्तव में, यह तो सन्तजनों की अवस्था है, हर किसी को ऐसा नहीं करना चाहिये। यदि महापुरुषों की

स्थिति देखकर ये भी वैसा ही करने का दुःसाहस करेंगे और दम्भ-शून्य होकर अपने भजन को गुप्त नहीं रखेंगे तो निःसन्देह इनका अकल्याण होगा। जो पुरुष जगत् के कल्याण के लिये भजन करने का दम भरते है उनकी परीक्षा इस प्रकार की जा सकती है कि जब कोई उनसे ऐसा कहे कि तुम अपने भजन को प्रकट मत करो, क्योंकि लोगों के कल्याण-मार्ग का उपदेश करनेवाले तो अमुक विरक्त महात्मा प्रसिद्ध है और उनके ही संग से इन्हे लाभ भी अधिक हो सकता है तथा तुम्हे भजन को गुप्त रखने से विशेष लाभ होगा—किन्तु, इस पर भी वे अपने भजन को प्रकट करने का ही आग्रह करे तब समझना चाहिये कि उन्हें मान और ऐश्वर्य की वासना है तथा वे परमार्थ प्राप्ति के उद्देश्य से रहित है।

कोई ऐसे भी लोग होते हैं जो अपने भजन का नियम पूरा करके फिर लोगों से कहते रहते है कि हमने क्या-क्या किया है। उन्हें ऐसा करने से ही प्रसन्नता होती है। किन्तु उचित तो यह है कि आत्मश्लाघा से अपनी जिह्वा को संकोच में रक्खे। तात्पर्य यह है कि जब तक मान-अपमान और निन्दा-स्तुति में इसकी समदृष्टि न हो तबतक किसी प्रकार अपनी विशेषता को प्रकट न करे। हाँ, जब मन से मान की अभिलाषा का मूलोच्छेद हो जाय तब अपनी स्तुति के द्वारा भी इसे कोई दोष नहीं लगता। तब तो इसकी बात को सुनकर और भी कितने ही जीवों का शुभकर्म के लिये सकल्प हो जाता है। इसी से कितने ही समर्थ पुरुषो ने अपनी विशेषता का भी वर्णन किया है। जैसे, एक सन्त ने कहा है कि मैने भगवान् का भजन कभी सकाम भाव से नहीं किया, मैने तो महापुरुष के मुख से जो वचन सुना उसको यथार्थ समझ कर वैसा ही निश्चय रखा है। उमर नामक सन्त ने कहा है कि जब मै प्रातःकाल उठता हूँ तो मुझे किसी भी सुगम या अगम कार्य में किसी प्रकार का भय नहीं होता। मै यह जानना चाहता

हूँ कि देखे मेरा कल्याण किस कार्य से होगा ? इसी प्रकार सन्त इब्न मसऊद ने भी कहा है कि मेरे सामने जब जैसा अवसर उपस्थित होता है तब मैं अपनी वासना के अनुसार उसे कभी बदलना नहीं चाहता। सन्त सुफियान सौरी का जब अन्तकाल उपस्थित हुआ तब उनके सम्बन्धी रोने लगे। उस समय उन्होंने कहा कि मेरी मृत्यु पर रुदन मत करो, क्योंकि जिस दिन से मैंने प्रभु के पथ पर पैर रखा है उस दिन से कोई पाप नहीं किया। एक और सन्त का भी ऐसा ही कथन है कि जिस प्रकार भगवान् की आज्ञा हुई है उससे विपरीत मैंने कोई वासना नही की।

किन्तु जो सामर्थ्यहीन दुर्बल जीव हैं उनके लिये यह उचित नही है कि उन महापुरुषो को देखकर स्वयं भी अभिमान करने लगें। महापुरुषों की लीलाओं में ऐसे गुप्त रहस्य भी रहते है कि जिन्हें हम अपनी बुद्धि से पहचान नहीं सकते। कभी-कभी तो विघ्नों में भी ऐसी भलाई छिपी रहती है कि हमें उसका पता नहीं होता। जैसे दम्भ करने से यद्यपि दम्भी पुरुष का तो अकल्याण ही होता है, तथापि उसे देखकर कितने ही जीवो की वृत्ति सात्त्विक आचरण में स्थिर हो जाती है। अपने शुद्ध-संकल्प के कारण वे उस दम्भी को भी निष्काम ही समझते है, अतः वे स्वय तो निष्कामता में ही दृढ़ता प्राप्त करते है।

(अपने पाप को छिपाने की आज्ञा)

याद रखो, भजन को प्रकट करने में तो निःसन्देह दम्भ होता है, किन्तु सन्तजनो ने तो अपने अवगुणों को छिपाने की भी अनुमति दी है और वे इसे दम्भ भी नहीं बताते। क्योंकि अपने पाप को छिपाने में निम्नलिखित पाँच विशेषताएँ है—

१. पाप कर्म को देखकर लोग निन्दा करते हैं, और जब इस पुरुष की वृत्ति निन्दा-स्तुति की ओर लग जाती है तो इससे भजन छूट जाता है।

२. निन्दा सुनकर इस मनुष्य का हृदय अप्रसन्न होता है, क्योंकि निन्दा-स्तुति को समान समझना तो अत्यन्त कठिन है। इसके सिवा निन्दा के भय से यद्यपि निष्काम भजन करना ही श्रेष्ठ होता है, तथापि इसी निमित्त से निन्द्य कर्मों को छिपाना भी बुरा नहीं है, क्योंकि यद्यपि यह पुरुष लोगो से स्तुति सुनने की ओर से तो उपराम हो सकता है तथापि निन्दा सुननेपर निर्विकार रहना अत्यन्त कठिन है।

३. जब किसी का कोई निन्द्य कर्म प्रकट हो जाता है तो उसे उदाहरण बनाकर लम्पट मनुष्य और भी ढीठ हो जाते है और निःशंक होकर निन्दनीय आचरण करने लगते है। अतः इस बात को सामने रखकर अपनी बुराई को छिपा लेना भी अच्छा है। किन्तु जब इस उद्देश्य से अपने पाप को छिपावे कि लोग मुझे विरक्त और भजननिष्ठ समझे तो ऐसा करना अनुचित है।

४. यदि लज्जावश अपने दोषो को छिपा ले तो भी अच्छा ही है, क्योंकि सब मनुष्यों से लज्जा करना जीव के लिये उचित ही है। किन्तु, यदि कोई ऐसा कहे कि लज्जा और दम्भ तो एक ही है, तो यह बात ठीक नहीं, क्योंकि इन दोनों में बड़ा अन्तर है। पर यदि कोई ऐसा पुरुष हो जो बाहर भीतर से एक समान हो, तो यह बहुत उत्तम अवस्था है। और ऐसी स्थिति उसी की हो सकती है जिसके हृदय में भी पाप का संकल्प न फुरे। यदि कोई पुरुष पाप करके कहे कि मेरे पाप को भगवान् तो जानते ही है, फिर मै इसे लोगों से क्यों छिपाऊँ, तो यह बहुत बड़ी मूर्खता है, क्योंकि भगवान् ने भी गुह्य विषय को छिपाना ही अच्छा बताया है।

५. यदि इस पुरुष का कोई अवगुण संसार में प्रसिद्ध न हो तो इसे भगवान् की दया समझकर ऐसा माने कि उनकी कृपा से परलोक में भी मेरा यह अवगुण प्रकट नहीं होगा। अतः अपने पाप को छिपाकर यदि प्रभु की दया के प्रति विशुद्ध आशा रखे तो यह भी बहुत बड़ी विशेषता है।

(दम्भ का भय और शुभकर्म)

याद रखो, शुभ कर्म तीन प्रकार के कहे गये है। उनका विवरण इस प्रकार है।

१. जिन कर्मों का सम्बन्ध केवल श्रीभगवान् से होता है; जैसे—भजन, व्रत और साधन इत्यादि, जिन्हें जिज्ञासुजन करते है।
२. वे कर्म, जिनका सम्बन्ध निश्चित रूप से मनुष्यों के ही साथ होता है; जैसे राजनीति की मर्यादा का पालन देशो का पालन और रक्षा आदि।
३. वे कर्म, जिनका सम्बन्ध लोगों के साथ भी हो तथा जिनका शुभ प्रभाव अपने पर भी पड़े और उस कर्म से सम्बन्धित अन्य लोगो पर भी; जैसे—कथा, कीर्तन आदि शुभकर्म तथा भजन एवं सत्सङ्ग आदि।

इन शुभकर्मों का दम्भ के भय से त्याग करना उचित नहीं। किन्तु इन्हें करते हुए यदि किसी को अकस्मात् दम्भ का सङ्कल्प फुर आवे तो उस मलिन सङ्कल्प को ही विचारद्वारा निवृत्त करने का प्रयत्न करना चाहिये तथा भजन के शुद्ध सङ्कल्प को चित्त में स्थिर करे। इसके सिवा लोगों के देखने के निमित्त से भी भजन को बढ़ाना ही चाहिये, घटाना ठीक नहीं। पहले से जिस प्रकार भजन करता रहा हो उसी प्रकार करता रहे—यही अच्छा है।

और यदि भजन का उद्देश्य कुछ भी न रहे, केवल दम्भ का ही सकल्प दृढ़ हो जाय तो यह तो भजन ही नहीं कहा जा सकता।

किन्तु जब तक इस पुरुष के हृदय में शुद्ध उद्देश्य का बीज भी शेष रहे तब तक ऐसे कर्मों का त्याग न करे। इस विषय में फुजैल नामक सन्त का कथन है कि लोगों की दृष्टि के भय से शुभकर्मो को त्याग देना ही दम्भ है। जो पुरुष संसार को दिखाने के लिये भजन करे वह तो निःसन्देह मनमुख है। पर, यह दुष्ट मन ऐसा शत्रु है कि यदि छल के द्वारा भजन का त्याग नहीं कर पाता तब ऐसा सङ्कल्प फुर आता है कि जब तू भजन करता है तब और लोग तुझे देखते है और यह दम्भ ही है, अतः तू भजन ही को त्याग दे। परन्तु याद रखो, यदि तुम मन की आज्ञा मानकर पृथ्वी को खोदो और उसमें बैठकर भजन करो, तो भी वह तुमसे यही कहेगा कि लोग तुम्हें बड़ा भजनानन्दी समझते है, इसलिये तुझे भजन करना उचित नहीं। मन की इस कुचाल से बचने का उपाय यह है कि उसे यह समझाया जाय कि लोगों की ओर चित्त की वृत्ति को ले जाना और इसी भय से भजन को छोड़ बैठना भी केवल दम्भ ही है। अतः लोगों का देखना न देखना तो मेरे लिये समान ही है, क्योंकि मुझे तो इस ओर ध्यान न देकर भजन में ही स्थित होना चाहिये और यह समझना चाहिये कि मुझे कोई नहीं देखता। दम्भ के भय से भजन छोड़ बैठना तो ऐसा ही है जैसे कोई अपने सेवक से कहे कि अमुक अनाज को साफ करलो और सेवक यह समझकर कि यदि सफाई करने पर भी उसमें कोई रोड़ी या कंकर रह गया तो अनाज ठीक-ठीक शुद्ध नहीं होगा उसकी सफाई का प्रयत्न ही न करे। तब तो उसका स्वामी उससे यही कहेगा कि मूर्ख ! तूने जो मूल से ही सफाई का उद्यम नहीं किया इससे क्या अनाज साफ़ हो जायगा ? अर्थात् इस प्रकार तो वह अत्यन्त अशुद्ध ही रहेगा। इसी प्रकार इस जीव को भगवान् ने निष्काम कर्म की आज्ञा की है। परन्तु, यदि यह दम्भ के भय से शुभकर्म ही न करे तब

इसे निष्कामता कैसे प्राप्त होगी ? क्योंकि निष्कामता तो शुभ कर्मों में ही रहती है । सन्त इब्राहीम के विषय में यह बात सुनी जाती है कि वे सर्वदा अपनी कुटी में पुस्तक का पाठ करते रहते थे और जब किसी को आता देखते तब पुस्तक बन्द कर देते थे । इसका तात्पर्य इतना ही था कि यह बात निश्चित रूप से जानते थे कि जब कोई हमारे पास मिलने के लिये आया है तब उसके साथ कुछ बातचीत अवश्य ही करनी होगी, अतः इस समय पुस्तक बन्द कर देना ही अच्छा है । सन्त हसन बसरी ने भी इस प्रकार कहा है कि जब जिज्ञासुजनों को प्रभु के प्रेमवश रोना आता था तब वे निष्काम लोग अपना मुँह छिपा लेते थे, जिससे दूसरे लोग उनके आँसुओं को न देख सकें । सो, ऐसा करना भी उचित ही है, क्योंकि गुप्त रुदन की अपेक्षा प्रकट रुदन में कोई विशेषता नहीं होती; और वे लोग, मनुष्य देखते है—इसलिये, रुदन का त्याग तो करते नहीं थे, केवल अपनी प्रीति के प्रवाह को गुप्त कर लेते थे । किन्तु, यदि कोई ऐसा पुरुष हो कि जो मार्ग में काँटा या पत्थर देखकर उसे उठावे ही नही, यह सोचे कि ऐसा करने से लोग मुझे दयालु समझेंगे, तो यह उसकी अत्यन्त पुरुषार्थहीनता ही है, क्योकि वह तो लोगों के देखने से अपने चित्त में ही भयभीत होता रहता है और इस सकल्प की अधिकता के कारण भजन ही नही कर सकता । सो, यह अवस्था कुछ अच्छी नहीं है, उचित तो यह है कि जो भगवत्प्रेमी हो वह दम्भ को तो दूर रखे, किन्तु भजन का त्याग न करे । इसी में उसकी भलाई है ।

दूसरा शुभ कर्म जो राजनीति और देशों का पालन आदि बताया गया है, जिसमें कि इसका अन्य पुरुषों के साथ सम्बन्ध होना आवश्यम्भावी है, उसमें यदि यह धर्म और विचार की मर्यादा के अनुसार आचरण करे तो वह भी उत्तम प्रकार का भजन ही है और यदि धर्ममर्यादा को त्याग दे तो वही महापाप

हो जाता है। अतः जिस किसी पुरुष को अपने ऊपर ऐसा दृढ़ विश्वास न हो कि राजनीति का पालन करते हुए मेरा मन धर्म की मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करेगा, उसे राज्यादि व्यवहार को अङ्गीकार ही नहीं करना चाहिये। क्योंकि यदि इससे राजधर्म का पालन करते हुए अनीति का आचरण हुआ तो बड़ा भारी पाप होगा। यह राजव्यवहार अन्य नियमों और व्रतों के समान नहीं है, क्योंकि भजन के नियमों में मन को आरम्भ से ही कोई प्रसन्नता प्रतीत नहीं होती, पीछे लोगों के देखनेपर और उनसे मान पानेपर ही हर्ष होता है, किन्तु राजव्यवहार के साथ-साथ ही सब प्रकार के भोग और मान आदि प्राप्त होने लगते है। इसलिये इसका चित्त तुरन्त चचल हो जाता है। इसीसे कहा है कि राजनीति में कोई विरला ही पुरुष विचार की मर्यादा में स्थित रहता है। और यह अवस्था उसको प्राप्त होती है जिसने पहले ही अपने मन की परीक्षा कर ली हो। अतः यह मन भले ही राज-धर्म स्वीकार करने से पहले यह दिखावे कि मै राज्यका शासनादि करते समय भी धर्मानुसार आचरण करूँगा और भोगों में आसक्त नहीं होऊँगा, तथापि जिज्ञासुओं को इससे भय और दोष-दृष्टि करना ही अच्छा है, क्योंकि सम्भव है, यह भी मन का छल ही हो, जिस समय राज्यासन पर आरूढ़ हो जाय तब बुद्धि स्थिर न रहे। इसलिये जब तक बुद्धि स्थिर न हो इस व्यवहार को स्वीकार करना उचित नहीं। इसीलिये सन्त अबूबक्र ने अपने एक प्रेमी से कहा था कि यदि तुम्हें दो मनुष्यों में भी मुखिया बनाया जाय तो भी तुम स्वीकार मत करना। फिर जब महापुरुष के पश्चात अबूबक्र को सार्वभौम राज्य प्राप्त हुआ तो उस पुरुष ने पूछा कि तुम मुझे तो मना करते थे, फिर तुमने राज्य क्यों स्वीकार किया? तब उन्होने कहा कि तुम्हें तो मै अब भी मना करता हूँ, क्योंकि जो पुरुष सिंहासन पर बैठकर न्याय न करे वह प्रभु के

दरबार से विमुख हो जाता है। वास्तव में अबूबक्रजी ने जो उसे राज्यकार्य से रोका था और स्वयं राज्य अंगीकार किया था वह ऐसी ही बात थी जैसे कोई पुरुष अपने पुत्र से कहे कि तू जल के प्रवाह में प्रवेश मत करना, क्योंकि तू तैरना नहीं जानता, इसलिये नदी में घुसेगा तो डूब जायगा, किन्तु स्वयं अच्छा तैराक होने के कारण उसे नदी से कोई भय नहीं होता; वह सुगमता से ही उसे पार कर लेता है। इस पर यदि उसका पुत्र भी उसे देखकर नदी में घुसे तो वह निःसन्देह डूब जायगा। इसी प्रकार जो पुरुष राजव्यवहार में विचार की मर्यादा के अनुसार न चल सके वह दण्ड का अधिकारी होता है। अतः ऐसे पुरुष को राजधर्म स्वीकार करना उचित नहीं होता, किन्तु यदि ऐसा कोई विचारवान् हो कि जब कोई भली प्रकार न्याय करने वाला आवे तब उसके साथ ईर्ष्या या वैर न करे, प्रत्युत उसे देखकर और भी प्रसन्न हो और ऐसी आशंका न करे कि इसको अधिकार प्राप्त होने से मेरी शक्ति क्षीण हो जायगी, तो समझना चाहिये कि इसने धर्म के लिये ही राज्य स्वीकार किया है।

तीसरा कर्म बतलाया, लोगों को शुभ मार्ग का उपदेश करना तथा परमार्थचर्चा करके जीवों का सन्देह निवृत्त करना। यह कर्म यद्यपि बहुत महत्त्वपूर्ण है, तथापि इनमे मन को बड़ी प्रसन्नता प्राप्त होती है और इसमें दम्भ के लिये भी बहुत अवकाश रहता है। यद्यपि मानका सम्बन्ध रहने से तो यह राजधर्म के समान ही है, तथापि इतना भेद अवश्य है कि इसमें शुभ-मार्ग का उपदेश सुननेवाले को भी लाभ होता है और कहनेवाले को भी। राजधर्म मे ऐसी बात नही है। किन्तु, यदि इस कार्य में भी किसी को दम्भ का संकल्प होने लगे तो इसे विचारपूर्वक त्याग देना ही अच्छा है। कितने ही जिज्ञासुजनो का ऐसा व्यवहार भी रहा है कि जब उनसे कोई प्रश्न पूछता था तो वे कह देते थे कि अमुक

विद्वान् से पूछ लो, हम यह बात अच्छी तरह नहीं जानते। इसी से बशरहाफी नाम के संत ने अपनी पुस्तकों का सन्दूक पृथ्वी में गाड़ दिया था। कहते थे कि मै अपने हृदय में उपदेशरूपी भोग की अभिलाषा देखता हूँ, इसलिये मैने परमार्थचर्चा करनी भी छोड़ दी है। यदि मुझे अपना हृदय इस अभिलाषा से शून्य दिखायी देता तो मै परमार्थचर्चा कर सकता था। इसी प्रकार अन्य संतोंने भी कहा है कि उपदेश करना भी मनका एक भोग है, क्योंकि जिस पुरुष को मान-बड़ाई की प्रीति न हो उसे तो जगत् का नेता होना भी उचित नही है। एक बार सन्त उमर से उनके एक प्रेमी ने पूछा था कि यदि आपको आज्ञा हो तो मै लोगों को शुभ-माग का उपदेश करूँ। तब उन्होने कहा कि यदि ऐसा करने से तुम्हें मान को रुचि बढ़ो और बड़ाई का बवण्डर उड़ा ले गया तो इससे तुम्हारा अपकार हो होगा—यही मेरे चित्त में भय है। इसो प्रकार सन्त इब्राहीम ने भी कहा है कि यदि तुम्हें अपने हृदय में बोलने की उत्सुकता जान पड़े तो उस अवस्था में तुम्हारा मौन रहना ही विशेष उपयोगी है और जब मौन की विशेष प्रवृत्ति हो तब परमार्थचर्चा कर लेना अच्छा है।

परन्तु, मेरे चित्त को ऐसा भासता है कि उपदेश करने वाला पुरुष अपने हृदय में अच्छी तरह विचार कर देखे और यदि उसे सात्त्विक संकल्प और दम्भ का संकल्प दोनो फुरते हों तो वह उपदेश करना न छोड़े, क्योंकि भजन के नियम के समान उपदेश करना भी दम्भ के किञ्चित् सकल्प के कारण त्यागना उचित नहीं है। ऐसी स्थिति में वह शुद्ध सकल्प के बीज को पुष्ट करे और दम्भ ही को निवृत्त करने का प्रयत्न करे। किन्तु राजधर्म में यदि मलिनता का थोड़ा सा भी संकल्प हो तो भी राजव्यवहार छोड़ देना ही अच्छा है, क्योंकि उसमें मान और भोग को प्रचुरता रहने के कारण मलिनता बहुत शीघ्र बढ़ जाती है और शुद्ध

संकल्प का बीज तत्काल नष्ट हो जाता है। इसी से जब अबूहनीफा सत को राजा का प्रधान बनाने लगे तब उन्होंने कहा कि मैं प्रधानपद का अधिकारी नही हूँ। इस पर राजा ने कहा कि तुम तो पूर्ण विद्वान् हो और नीति-अनीति का विचार भी कर सकते हो, अतः तुम्हीं उत्तम अधिकारी हो। उन्होने कहा, "यदि मै सत्य कहता हूँ तब तो निःसन्देह अधिकारी नही हूँ और यदि झूठ कहता हूँ तब झूठा आदमी तो अधिकारी हो ही नहीं सकता।" ऐसा कहकर उन्होंने राजधर्म तो स्वीकार नही किया, किन्तु लोगों को धर्मोपदेश सारी आयु करते रहे। और न उन्होंने परमार्थचर्चा ही का त्याग किया। हाँ, यदि उपदेश करने वाले के चित्त में धर्म का संकल्प कुछ भी न रहे, सर्वथा दम्भ की ही रुचि रहे, तो ऐसे पुरुष के लिये उपदेश छोड़ देना ही अच्छा कहा है। यदि कोई पुरुष मुझसे पूछे कि मै उपदेश करता रहूँ या छोड़ दूँ तो मैं इस प्रकार विचार कर देखूँगा कि यदि उसके उपदेश से लोगों को धर्म का लाभ कुछ भी नहीं होता, उसमें कवियों के चातुर्य और मत-मतान्तरों का विवाद ही रहता है, अथवा वह ससारी पुरुषो को भगवान् की दया का वर्णन सुनाकर उन्हें पापों की ओर से निःशंक कर देता है, तो उसे तो कथा-वार्ता छोड़ देना ही अच्छा है, क्योकि उसके मौन रहने से ही लोगों को विशेष लाभ होगा और वह स्वयं भी दम्भ एवं मान से मुक्त रहेगा। तथा जिस पुरुष का कथन धर्म की मर्यादा के अनुसार हो और लोग उसे निष्काम समझकर धर्म को अगीकार करते हों, तो ऐसे पुरुष को मै उपदेश करना छोड़ने की अनुमति नहीं दूँगा, क्योंकि उपदेश करने में दम्भ का सकल्प रहने से यद्यपि उसे दोष ही होता है, तथापि उसकी बात सुनकर बहुत लोगों को तो धर्म की प्राप्ति होती है। और यदि वह उपदेश करना छोड़ दे तो उसे तो स्पष्ट ही लाभ है, किन्तु और बहुत लोगों को हानि होगी। सो तुम निश्चय

जानो कि सहस्त्रों पुरुषों का लाभ तो एक मनुष्य की हानि से श्रेष्ठ ही है। इसी से मैं ऐसा उपदेश करने वाले एक दम्भी को सहस्त्रों जिज्ञासुओं पर निछावर कर देना चाहता हूँ। इस विषय में महा-पुरुष ने भी कहा है कि जिज्ञासुओं को तो सकाम पण्डितों से भी धर्म ही प्राप्त होता है और वे पण्डित अपना धन और मानादि-रूप प्रयोजन ही पाते है। अतः मैं तो ऐसे पुरुष को यही अनुमति दूँगा कि तुम शुभ उपदेशों का त्याग मत करो, परन्तु यथाशक्ति दम्भ को ही त्यागो। इसी में तुम्हारी भलाई है। पुरुषार्थपूर्वक निष्काम श्रद्धा में स्थित हो जाओ और लोगों को उपदेश करके उन्हें भगवान् के भय में स्थित करो।

किन्तु जब कोई ऐसा प्रश्न करे कि उपदेश करने वाले का उद्देश्य शुद्ध और निष्काम है—यह बात कैसे जानी जा सकती है? तो इसका उत्तर यह है कि शुद्ध उद्देश्य तभी समझना चाहिये जब इस पुरुष को यही श्रद्धा रहे कि किसी प्रकार ये लोग भगवान् के मार्ग को अंगीकार करे और माया से विरक्त हों। यह लोगों के प्रति उसकी दया ही होती है। ऐसी अवस्था में यदि कोई ऐसा अन्य पुरुष प्रकट हो जाय कि जिसके उपदेश से लोगो को विशेष धर्म-लाभ हो सके तथा लोगों की भी उस पर अधिक श्रद्धा हो तो इससे इसे अधिक प्रसन्नता होनी चाहिये। इस बात को दृष्टान्त द्वारा इस प्रकार समझ सकते है—जैसे कोई पुरुष अंधेरे कुए में गिर गया हो और कोई दूसरा पुरुष दयावश उसे निकालना चाहे, उस समय यदि कोई अन्य पुरुष आकर इस कार्य में उसकी सहायता करे तो इससे निःसन्देह उसे प्रसन्नता ही होगी। इसी प्रकार यदि किसी उपदेश करने वाले पुरुष को दूसरे विवेकीजन को देखकर प्रसन्नता न हो तो समझना चाहिये कि वह उपदेश करके अपने को पुजाना ही चाहता है। उसका मुख्य उद्देश्य दूसरे लोगों को भगवान् के मार्ग में लगाना नहीं है।

इसके सिवा, शुद्ध उद्देश्य का दूसरा लक्षण यह है कि जब सभा में परमार्थचर्चा करते समय कोई राजा या धनी पुरुष आ जाय तो भी यथार्थ वचन का त्याग न करे, उनका ऐश्वर्य देखकर संकोच न करे तथा अपने स्वभाव के अनुसार यथार्थ वचन पर ही दृष्टि रखे, तब समझना चाहिये कि इस पुरुष का उद्देश्य निष्काम है। तात्पर्य यह कि उपदेश करनेवाला पुरुष पहले इन लक्षणों को अपने चित्त में विचार कर देखे और यदि अपने में कोई ऐसा चिह्न न मिले तब यह निश्चय करे कि मै शुद्ध उद्देश्य से रहित हूँ और मेरे चित्त में स्पष्ट ही दम्भ है। इस प्रकार जब देखे कि मुझे इस दम्भ में दोषदृष्टि होती है, तब समझना चाहिये कि इसके हृदय में स्पष्ट ही शुद्ध उद्देश्य का बीज है। अतः इसे पुरुषार्थ करके निष्काम श्रद्धा को बढ़ाना और दम्भ को त्यागना चाहिये।

एक बात यह भी ध्यान में रखने की है कि कई अवसरों पर भजन करते हुए इसे अन्य लोगोंके मिलने-जुलने से भी प्रसन्नता होती है। पर इसे दम्भ नहीं कहते। उस समय इसकी प्रसन्नता का कारण यह होता है कि मान लो किसी जिज्ञासु के चित्त में अकस्मात् कोई संशय उत्पन्न हो जाय और उस सशय के कारण भजन में विक्षेप होने लगे, ऐसे समय यदि उसे कोई सात्त्विकी पुरुष मिल जाय और उसके द्वारा उसका संशय निवृत्त हो जाय तो उसकी चित्तवृत्ति प्रसन्नता से भजन में स्थिर हो जायगी। इसलिये वह प्रसन्नता दम्भ नही कही जाती। यह ऐसी ही बात है जंसे कोई पुरुष यदि अपने घर में आलस्य एवं निद्रा को न त्याग सके अथवा अपने कुटुम्बियो की बातचीतों से उसे विक्षेप होता हो और वह अपने घर से निकल कर किसी कथा-कीर्तन के स्थान पर जा बैठे तो वहाँ उसे तुरन्त ही भजन की रुचि और प्रसन्नता उत्पन्न हो जायगी और वह विक्षेप दूर हो जायगा, क्योंकि दूसरे के स्थान पर निद्रा भी अधिक नहीं आती और अन्य भजना-

नन्दियों को देखकर यह भी सजग और भजनमें तत्पर हो जाता है, जैसे कि संयमी और तपस्वी पुरुषों को देखकर इसे भी संयम की रुचि पैदा होती है। तात्पर्य यह है कि ऐसी प्रसन्नता और भजन की अधिकता सात्त्विकी संगति में रहने से बढती ही है, इसलिये इसे दम्भ नही कह सकते। किन्तु, यह मन ऐसे अवसरों पर भी इस प्रकार का सन्देह खड़ा कर देता है कि यह काम दम्भ का सम्बन्ध लेकर है, इसलिये इसका कोई शुभ परिणाम नहीं होगा। इसी को मन का छल कहते हैं, क्योंकि यह इसके चित्त में संशय खड़ा कर के इसे शुभ-कर्म से निवृत्त करना चाहता है। जिज्ञासु को विचार-पूर्वक यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि कर्म दो प्रकार के हैं, उनमें एक निःसन्देह दम्भ को उद्देश्य करके ही होता है और दूसरा सात्त्विकी सगति में पड़ जाने से होने लगता है। इन दोनो का विवेचन करना बहुत आवश्यक है। इस विवेचन की पहचान यह है कि जब लोग इसे न देखे और यह उन्हें देख रहा हो तब भी यह प्रसन्नतापूर्वक भजन में लगा रहे तो इसे उनके सत्सङ्ग का हो प्रभाव समझना चाहिये। और यदि एक-दूसरे को देखते हों तो भी विचारद्वारा इस बात का विवेचन करे कि इस समय जो मेरा भजन होता है वह सात्त्विकी संगति के प्रभाव से है या दम्भ के कारण है। और फिर शुद्ध संकल्प के द्वारा दम्भ की रुचि को निवृत्त करे तथा संशयरहित होकर भजन में स्थित हो जाय। मनुष्य का ऐसा स्वभाव है कि जब यह किसी को भय या प्रीति के कारण रुदन करते देखता है तो इसका चित्त भी भर आता है और स्वयं भी रोने लगता है। सो यद्यपि उसे एकान्त में रोना न आता हो तो भी इस कर्मको दम्भ नही कह सकते, क्योंकि उस समय रुदन करनेवाले व्यक्ति को देखकर इसका चित्त स्वभाव से ही द्रवीभूत हो जाता है। हाँ, इसमें एक भेद अवश्य है, वह यह कि आँसू का चलना तो हृदय की कोमलता के कारण होता है और

उच्च स्वर से पुकारना अथवा पृथ्वी पर गिर पड़ना दम्भ के कारण भी हुआ करता है। अतः उचित यह है कि यदि अकस्मात् मुख से ऊँची पुकार निकल जाय अथवा पृथ्वी पर गिर पड़े तो तुरन्त ही सचेत होकर अपने प्रीति के प्रवाह को सकुचित कर ले। इस समय जिसके दिल में ऐसा सकल्प हो कि ऐसा करने से ये लोग समझेंगे कि इसके हृदय में वास्तव में प्रीति नहीं है, इसीसे यह इतनी जल्दी सँभल गया है, और ऐसा सोचकर जो उच्च स्वर से पुकारता अथवा पृथ्वी पर पटके खाता है वह निःसन्देह दम्भी है।

तात्पर्य यह है कि सभी शुभ कर्म दम्भसे भी हो सकते है और सात्त्विकी सगति के प्रभाव से भी। अतः जिज्ञासु सर्वदा अपनी रुचि को परखता रहे और कभी दम्भ के भयसे शून्य न हो। महापुरुष कहते है कि शुभ कर्मों में नाना प्रकार से दम्भ का सकल्प फुर आता है। अतः जब अपने मन में दम्भ की अभिलाषा देखे तब ऐसा विचार करे कि भगवान् मेरे हृदय की मलिनता को प्रत्यक्ष जानते है, अतः यदि मै कोई अशुद्ध संकल्प करूँगा तो निःसन्देह प्रभु के दण्ड का अधिकारी होऊँगा। ऐसा जानकर दम्भ को निवृत्त करे और महापुरुषों के इस वचन को स्मरण रखे कि जिस एकाग्रता में दम्भ की अभिलाषा मिली हो उससे तो भगवान् ही रक्षा करे। इसका आशय यह है कि यदि किसी का चित्त तो चञ्चल रहे, किन्तु वाह्य अङ्गों की स्थिरता से वह अपने को भजननिष्ठ दिखावे तो वह केवल दम्भ ही कहा जाता है।

मनुष्य को भजन और हृदय की एकाग्रता में तो अवश्य निष्काम रहकर दम्भ से दूर रहना चाहिये। इसके सिवा और भी ऐसे कई सात्त्विक कर्म है कि यदि उनके उत्तम फल प्राप्त करने को इच्छा हो तो उन्हें करते हुए भी निष्काम रहना ही अच्छा है। जैसे, किसी मित्र या अर्थी पुरुष को आवश्यकता पूर्ति करे तो इस प्रकार निष्काम रहे कि उससे किसी प्रकार के प्रत्युपकार या प्रशंसा

आदि की इच्छा न रखे। अथवा किसी को विद्याध्ययन करावे तो ऐसी अभिलाषा न रखे कि भविष्य में यह विद्यार्थी मेरे काम आयेगा, मेरी सेवा करेगा अथवा मेरे पीछे चलेगा। ऐसा संकल्प रखना भी सकामता ही है और इससे धर्मलाभ होना असम्भव हो जाता है। किन्तु यदि इसकी अपनी इच्छा तो सेवा कराने की न हो और वह स्वय ही इसकी टहल में लगा रहे, तो भी उत्तम पक्ष तो यही है कि उसकी सेवा-पूजा स्वीकार न करे। परन्तु, मना करने पर भी यदि वह सेवा न छोड़े तो इसके विद्याध्ययन कराने का पुण्य व्यर्थ नहीं होता। यदि यह अभिमानशून्य रहे और अपने को उसका स्वामी न समझे तो दोनों ही पुरुषों को अपनी शुद्ध भावना का फल प्राप्त हो जाता है। यह बात यद्यपि निःसन्देह है, तो भी कितने ही विद्वान् अपने विद्यार्थियों से सेवा-पूजा कराने में भय मानते रहे है। कहते है, एक विद्वान दैवयोग से कुए में गिर गये। उन्हें जब कई आदमी रस्सा डालकर निकालने लगे तब उन्होंने कुए में से ही भगवान् को शपथ कराकर कहा कि भाई जिसने मुझसे कुछ अध्ययन किया हो वह इस रस्से से हाथ न लगावे। इससे उनका यही प्रयोजन था कि किसी भी प्रकार मेरी निष्कामता का फल नष्ट न हो।

इसी प्रकार एक और पुरुष सुफियान सौरी सन्त के पास कुछ भेट लेकर आया। किन्तु उन्होने उसे स्वीकार नहीं किया। इस पर उस मनुष्य ने कहा कि मैंने तो आपके मुख से कोई परमार्थचर्चा भी नही सुनी, फिर आप यह पूजा क्यों नही स्वीकार करते? उन्होने कहा, 'तुम्हारा भाई यहाँ आकर सर्वदा परमार्थचर्चा सुनता है, अतः मुझे यह भय है कि तुम्हारी पूजा स्वीकार करने पर मेरा चित्त उससे अधिक प्रीति न करने लगे। यदि ऐसा हुआ तो वह अच्छी बात नहीं होगी। इसी तरह एक अन्य पुरुष भी उनके पास दो थाल मुहरे भरकर लाया था और इस प्रकार कहता

था कि मेरे पिता आपके भक्त थे और वे शुद्ध व्यवहार ही करते थे। इसलिये यह धन शुद्ध वृत्ति से ही उपार्जन किया हुआ है, आप इसे अङ्गीकार करें। इस पर सुफियान सौरीजी ने यह धन ले लिया, किन्तु जब वह पुरुष अपने घर की ओर गया तो उन्होंने वह सारा धन अपने पुत्र के द्वारा उसी के यहाँ भेज दिया और इस प्रकार कहलाया कि मेरे साथ तुम्हारे पिता का प्रेम भगवत्सम्बन्ध से था, अब तुम उसके बीच में यह धन का पर्दा क्यों डालते हो ? इसके पश्चात् जब उनका पुत्र घर लौटा तो अधीर होकर अपने पिता से कहने लगा—"आपका चित्त पत्थर से भी अधिक कठोर है। आप देखते नहीं, हमारा कुटुम्ब कितना बड़ा है, इसकी निर्धनता तो आपसे छिपी है ही नहीं, किन्तु आपको हमारे ऊपर दया नहीं आती ?" सन्त बोले, "भाई ! तुम्हें तो खान-पानादि का सुख चाहिये, किन्तु मै परलोक की यातनाओं से डरता हूँ। इसलिये मेरे हृदय में इतना बल नहीं है जो तुम लोगों को सुखपूर्वक रखूँ और परलोक के दण्ड को अपने सिर पर चढ़ाऊँ।" इसी तरह विवेकी पुरुष को चाहिये कि अपने सेवक से सेवा-पूजा की आशा न रखे और सर्वदा भगवान् की प्रसन्नता ही चाहे।

इसके सिवा उसे अपना भजन-स्मरण भी सेवक के आगे प्रकट नहीं करना चाहिये, क्योंकि इसे तो श्रीभगवान् की दृष्टि में ही सम्मान पाने का प्रयत्न करना चाहिये; वहाँ अन्य लोगों से प्राप्त होनेवाला सम्मान इसके कुछ भी काम न आयेगा। यही नहीं, जब माता-पिता की सेवा करे तब भी भगवान् की ही प्रसन्नता चाहे और इनके प्रति अपनी कोई विशेषता प्रकट न करे। तात्पर्य यह है कि सभी शुभ कर्मों में इस जीव को ऐसी निष्कामता होनी चाहिये कि यह श्रीभगवान् की प्रसन्नता के सिवा और कुछ भी प्रयोजन न रखे।

———